वर्ष-4 अंक-7

ISSN 2231 - 2455

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की विज्ञान पत्रिका

विज्ञान-गंगा

2014

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

BANARAS HINDU UNIVERSITY

सर्व विद्या की राजधानी

हिन्दी प्रकाशन समिति

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रकाशनाधीन

''ओजोन प्रदूषण : वनस्पतियों एवं मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव''

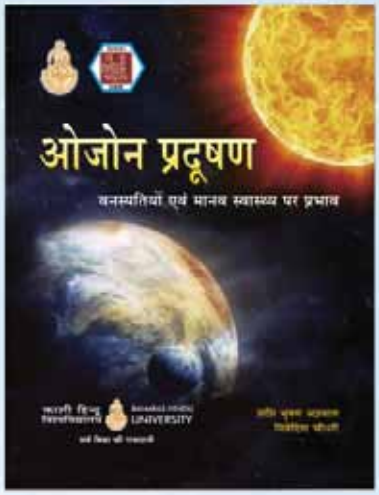

लेखक : **प्रो. शशि भूषण अग्रवाल एवं निवेदिता चौधरी**

वनस्पति विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

ए-4 आकार में पूर्णतया रंगीन, आकर्षक आवरण एवं सुसंगत छाया चित्रों व रेखाचित्रों के साथ सरल, रोचक एवं सुग्राह्य हिन्दी भाषा में लिखित कुल लगभग 84 पृष्ठ।

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग (उच्चतर शिक्षा विभाग), मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली के विश्वविद्यालय स्तरीय पाठ्यपुस्तक निर्माण योजना के अन्तर्गत शत-प्रतिशत अनुदान से प्रकाशित। स्नातक, स्नातकोत्तर एवं शोध छात्रों तथा पर्यावरण जागरुकता के लिए कार्य करने वाले व्यक्तियों के लिए उपयोगी।

हिन्दी प्रकाशन समिति

विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित

पर्यावरण विज्ञान के विविध आयाम

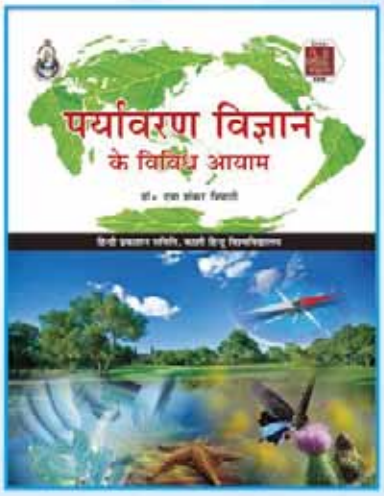

ए4 आकार में रंगीन आकर्षक आवरण सहित कुल 208 पृष्ठों की पुस्तक

लेखक-**डॉ. दया शंकर त्रिपाठी** सम्पादन : **प्रो. शशि भूषण अग्रवाल**

प्रकाशन वर्ष : 2013 **मूल्य :** रु. 160/- (रुपये एक सौ साठ मात्र)

इस पुस्तक के विभिन्न अध्यायों में पर्यावरण, पृथ्वी और इसका पर्यावरण, प्राकृतिक संसाधन, वन संसाधन, जल संसाधन, खनिज संसाधन, खाद्य संसाधन, भू-संसाधन, घासस्थल एवं नमभूमि, *उर्जा संसाधन*, पारिस्थितिक तंत्र, प्रमुख पारिस्थितिक तंत्र, *जैव-विविधता*, जैव-विविधता संरक्षण, *पर्यावरणीय प्रदूषण, वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, मृदा प्रदूषण, महासागरीय प्रदूषण, ठोस अपशिष्ट प्रदूषण एवं उनका प्रबंधन, ई-अपशिष्ट एवं उसका प्रबंधन, ध्वनि प्रदूषण, तापीय प्रदूषण, नाभिकीय प्रदूषण*, प्रदूषण रोकथाम में व्यक्ति की भूमिका, *पर्यावरण एवं सामाजिक समस्यायें, जलवायु परिवर्तन और वैश्विक तापन, बड़े बाँध और पर्यावरण, पर्यावरण सुरक्षा अधिनियम, प्राकृतिक आपदाएँ और उनका प्रबन्धन, जनसंख्या और पर्यावरण*, पर्यावरण और मानव स्वास्थ्य, पर्यावरण जागरूकता एवं संस्थाएँ *एवं स्थलीय अध्ययन एवं व्यावहारिक कार्य से सम्बन्धित जानकारियाँ प्रस्तुत की गयी हैं।*

डाक द्वारा भेजने का खर्च अतिरिक्त देय है। पुस्तकालयों के लिए 10 प्रतिशत एवं छात्रों व अध्यापकों के लिए 15 प्रतिशत छूट देय है।

पुस्तक प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें :

समन्वयक, हिन्दी प्रकाशन समिति (भौ.प्र.)

द्वितीय तल, हिन्दी भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221 005

दूरभाष- 0542-6701424, 2307342 Email-hindipublications.bhu@gmail.com

विज्ञान-गंगा 2014

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की विज्ञान पत्रिका

वर्ष - 4 अंक - 7 ISSN 2231 - 2455

मुख्य संरक्षक

पद्मश्री डॉ. लालजी सिंह

कुलपति

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सलाहकार मण्डल

प्रो. गिरिजा शंकर यादव, कुलसचिव, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. अभय कुमार ठाकुर, वित्त अधिकारी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. अरुण कुमार श्रीवास्तव, संकायप्रमुख, विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. मधुलिका अग्रवाल, वनस्पति विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. एस. एन. उपाध्याय, भूतपूर्व निदेशक, प्रौद्योगिकी संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. रमा शंकर दुबे, कुलपति, तिल्का माझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

प्रो. राम सन्मुख उपाध्याय, वनस्पति विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. शिव गोपाल मिश्र, विज्ञान परिषद् प्रयाग, इलाहाबाद

प्रो. राणा प्रताप सिंह, बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो. सूर्य नाथ ठाकुर, भूतपूर्व अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. श्रवण कुमार तिवारी, हिन्दी प्रकाशन समिति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. अशोक कुमार, जैव प्रौद्योगिकी स्कूल, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव, विज्ञान परिषद् प्रयाग, इलाहाबाद

डॉ. कृष्ण कुमार मिश्र, होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र, टी.आई.एफ.आर., मुम्बई

डॉ. डी.डी. ओझा, जोधपुर

संजय गोस्वामी, अणु शक्ति नगर, मुम्बई

शुकदेव प्रसाद, इलाहाबाद

मुहम्मद खलील, जामिया नगर, नई दिल्ली

प्रो. आर. पी. मलिक, भौतिकी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. सुनील कुमार सिंह, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. बी.के. सिंह, भौतिकी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डा. सुनीता चन्द्रा, कुलसचिव, बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, लखनऊ

संपादक

प्रो. शशि भूषण अग्रवाल

उप-संपादक

डॉ. देवेश कुमार गुप्त

डॉ. दया शंकर त्रिपाठी

प्रकाशक

हिन्दी प्रकाशन समिति

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पर्क

समन्वयक

हिन्दी प्रकाशन समिति (भौतिकी प्रकोष्ठ)

द्वितीय तल, हिन्दी भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221 005 (भारत)

फोन : 0542-6701424, ई-मेलः vigyanganga.bhu@gmail.com

पत्रिका में प्रकाशित लेखों व कथन के लिए सम्पादक, प्रकाशक अथवा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रशासन का सहमत या असहमत होना आवश्यक नहीं है। वे सभी लेखकों के अपने विचार हैं। पत्रिका में प्रकाशित कुछ छायाचित्र इन्टरनेट से लिये गये हैं जो जनहित में उपयोग किये गये हैं। इन छायाचित्रों के लिए हम सम्बन्धित छायाकारों के आभारी हैं।

अनुक्रमणिका

विज्ञान-गंगा अंक-7 (जनवरी - फरवरी 2014)

1. भारत में मलेरिया नियंत्रण : चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ — डॉ0 रजनीकान्त 7
2. कहाँ जन्मा था पहला जीव? — विष्णुप्रसाद चतुर्वेदी 13
3. प्रकृति में छिपा है संवेदनशीलता का मर्म — आइवर यूशिएल 19
4. नौ बिलियन बनाम 2° C : वर्तमान व भविष्य की चुनौतियाँ — डॉ0 दिव्या पाण्डेय एवं प्रो0 शशि भूषण अग्रवाल 22
5. नींद का विज्ञान — डॉ0 सुभाष लखेड़ा 24
6. ड्रैकुला आर्किड्स : फूल या बन्दर — डॉ0 इरफाना बेगम 27
7. जैव-प्रौद्योगिकी : खतरे की आहट भी — डॉ0 दुर्गादत्त ओझा 30
8. हरित नैनोकम्पोजिट : भविष्य के पदार्थ — डॉ0 (श्रीमती) अंजलि बाजपेयी 35
9. साइटोनेमीन : बहुउद्देश्यीय वाह्यकोशिकीय रंगद्रव्य — जैनेन्द्र पाठक, ऋचा, विनोद कुमार कन्नौजिया, रजनीश, अरुण श्याम सोनकर एवं प्रो. राजेश्वर प्रसाद सिन्हा 38
10. डिजिटल पुस्तकालय : पारम्परिक पुस्तकालय का नया स्वरूप — रोहित सिंह 41
11. अर्द्धचालक पदार्थों की करामात — डॉ0 संजय गोस्वामी 44
12. प्रटिओमिक्स : प्रोटीन अध्ययन के परिपेक्ष्य में एक महत्वपूर्ण तकनीक — अंजना कुमारी एवं डॉ0 शशि पाण्डेय 45
13. भारतीय कृषि में सोयाबीन — शोभित कुमार सिंह एवं प्रो0 अखौरी वैशम्पायन 49
14. पीएसएलवी-सी 25 की सफल उड़ान और अब भारत का भी मंगलयान — शुकदेव प्रसाद 52
15. कृत्रिम न्यूरल तंत्र — डॉ0 अभिषेक सिंह 57
16. प्रखर कृषि विज्ञानी डॉ0 राधेलाल हरलाल रिछारिया — प्रो0 नरसिंह दयाल 60
17. कहाँ मिलते हैं मोती ? — डॉ0 विजय कुमार उपाध्याय 64
18. हिपेटाइटिस : कारण एवं निदान — डॉ0 हेमलता पन्त 67
19. अनुमान मौसम का : घाघ और भड्डरी की कहावतें — प्रो0 गिरीश चन्द्र चौधरी 71
20. मृदा का धात्विक प्रदूषण और उपचार — डॉ0 दिनेश मणि 71
21. ऊसर मृदाएँ एवं उनका प्रबंधन — ओमकार कुमार, ए.एम. लटारे एवं प्रो0 एस.के.सिंह 77
22. नील गायों से बचायें अपनी फसल — विजय चित्तौरी 83
23. ग्रामीण क्षेत्रों में बटेर पालन से लाभ — डॉ0 राज नारायन, डॉ0 निरंजन लाल एवं डॉ0 एम.पी. सागर 85
24. गुणकारी एवं स्वास्थ्यवर्धक फल पपीता — डॉ0 देवेश कुमार गुप्त 87
25. घातक हो सकता है मूत्र संक्रमण — डॉ0 दया शंकर त्रिपाठी 90
26. महामना के दूरदृष्टि की थाती है विज्ञान-गंगा — आलोक कुमार सिंह 93
27. आओ गा कर सीखें — ओमप्रकाश जायसवाल 94
28. वृक्ष विछोह : एक सामाजिक समस्या — उर्मिला तिवारी 95
29. पर्यावरण गीत — ओम प्रकाश त्रिपाठी 96
30. पुस्तक-समीक्षा-डिजिटल माध्यम और हिन्दी में विज्ञान संचार — डॉ0 कृष्ण कुमार मिश्र 97
31. यांत्रिकी में गुणवत्ता नियंत्रण — संजय गोस्वामी 98
33. पर्यावरण एवं वनवासी जीवन — ओम प्रकाश त्रिपाठी 101
34. त्रिदिवसीय अंतरराष्ट्रीय राजभाषा वैज्ञानिक सम्मेलन — डा0 दुर्गादत्त ओझा 103
35. 21वाँ राष्ट्रीय बाल विज्ञान काँग्रेस में दिखे नन्हीं सोच के बड़े कारनामें — डा0 इरफान ह्यूमन 104
36. विभिन्न महाद्वीपों की समस्याओं एवं परिस्थितियों में समानता नहीं — जगनारायण 105
37. हिमालयी प्राकृतिक सम्पदा एवं जैवविविधता संरक्षण में सहायक हैं स्थानीय पारम्परिक ज्ञान — प्रो0 कविता शाह, प्रशान्त शर्मा एवं मुनीश कुमार 106
38. ग्रामीण भूजल कार्यशाला एवं प्रशिक्षण कार्यक्रम — डा0 मधुज्योत्सना 107
39. साइटून — आइवर यूशिएल 108
40. पाठकों के पत्र 109
41. पुरस्कार/सम्मान/सदस्यता/नियुक्ति 110
42. बहुत ही रहस्यमय है हमारा ब्रह्माण्ड — डॉ0 दया शंकर त्रिपाठी 111
43. रासायनिक रंगों का जहरीला संसार — डॉ0 संयुक्ता कुमारी 112
44. हिन्दी प्रकाशन समिति की गतिविधियाँ — डॉ0 दया शंकर त्रिपाठी 115

डा. लालजी सिंह
कुलपति

Dr. Lalji Singh Ph.D., D.Sc. (Hon.)
FNA, FASc, FNASc, FNAAS, FTWAS
Padmashri
Bhatnagar Fellow (CSIR)
Former Director, CCMB, Hyderabad

Vice-Chancellor

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
BANARAS HINDU UNIVERSITY
(Established by Parliament by Notification No. 225 of 1916)
VARANASI-221 005 (INDIA)
Phones : 91-542-2368938, 2368339
Fax : 91-542-2369100, 2369951
e-mail : vcbhu1@gmail.com, vc_bhu@sify.com
website : www.bhu.ac.in

सन्देश

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि हिन्दी प्रकाशन समिति (भौतिकी प्रकोष्ठ), काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा विज्ञान-गंगा (विज्ञान पत्रिका) के सातवें अंक का प्रकाशन किया जा रहा है।

इस पत्रिका में विज्ञान, चिकित्सा, कृषि एवं प्रौद्योगिकी विषयों के मौलिक, रुचिकर, ज्ञानपरक व समाजोपयोगी लेख लोकप्रिय व सरल हिन्दी भाषा में प्रकाशित किये जाते हैं। विज्ञान-गंगा का प्रकाशन महामना पं. मदन मोहन मालवीय जी की इच्छा के अनुरूप विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी शिक्षा में राष्ट्रभाषा हिन्दी के उपयोग को प्रोत्साहित करने में विश्वविद्यालय का सार्थक कदम है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि विज्ञान-गंगा का यह सातवाँ अंक भी अपने पूर्व अंकों की भाँति ही छात्र-छात्राओं, शिक्षकों, शोधकर्ताओं, कृषकों एवं जनसामान्य में लोकप्रियता हासिल करेगा और पाठकगण इसका अध्ययन कर अत्यधिक लाभान्वित होंगे।

मैं, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की तरफ से उक्त प्रकाशन से जुड़े समस्त लोगों को हार्दिक बधाई देता हूँ तथा अंक के सफल प्रकाशन हेतु शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

लालजी सिंह

(लालजी सिंह)

विज्ञान-गंगा

हिन्दी प्रकाशन समिति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'विज्ञान-गंगा' (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की विज्ञान पत्रिका) का अंक-7 आपको प्रेषित करते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। विज्ञान-गंगा अंक-7 काफी महत्वपूर्ण है एवं यह अंक पूर्णता का प्रतीक भी है। इसका गत अंक-6 जो पूर्णतया रंगीन और नये कलेवर में प्रकाशित हुई थी और उसके पूर्व के पाँच अंकों ने काफी लोकप्रियता व प्रसिद्धि हासिल की है। पत्रिका ने मात्र तीन वर्षों में ही राष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान स्थापित कर ली है। अंक-6 जनसामान्य के लाभार्थ बीएचयू की वेबसाइट पर भी उपलब्ध करायी गयी है। 'विज्ञान-गंगा' के माध्यम से हमने जो विज्ञान एवं उससे जुड़ी महत्वपूर्ण सूचनाओं, आविष्कारों और अनुसंधान सूचनाओं को आप तक पहुँचाने का लक्ष्य रखा था, उसमें हम धीरे-धीरे सफलता हासिल कर रहे हैं। चिकित्सा, प्रौद्योगिकी, कृषि एवं विज्ञान के विविध पक्षों से जुड़े विभिन्न वैज्ञानिक विषयों पर प्रकाशित अनेक जनोपयोगी लेख जनसामान्य द्वारा प्रसंशित हो रहे हैं। हम विज्ञान-गंगा का स्तर और सामग्रियों की निरन्तर वृद्धि की तरफ भी अग्रसर हैं और विश्वविद्यालय की गरिमा के अनुरूप विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी शिक्षा में हिन्दी के अधिकतम प्रयोग के लक्ष्यों को पूरा कर रहे हैं। अब हमें विश्वास हो चला है कि आप सभी के सकारात्मक सहयोग से विज्ञान-गंगा का प्रवाह अनवरत बना रहेगा।

यह वर्ष हमारी वैज्ञानिक उपलब्धियों के लिए विशेष महत्व का है जिसमें एक है सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो0 सी.एन.आर. राव को भारत के सर्वोच्च सम्मान ''भारतरत्न'' से सम्मानित किया जाना। साथ ही हम यहाँ उल्लेख करना चाहते हैं कि हमारे माननीय कुलपति जी ने विज्ञान-गंगा के पूर्व अंक-6 की भाँति ही वर्तमान अंक-7 को भी पूर्ण रूप से रंगीन प्रकाशित करने की अनुमति दी है और इसके लिए आवश्यक धनराशि भी प्रदान की है। इसके लिए हम कुलपति जी के प्रति हृदय से आभार प्रकट करते हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि विगत वर्षों की भाँति ही हमारे लब्धप्रतिष्ठ कुलपति पद्मश्री डॉ0 लालजी सिंह के कुशल नेतृत्व में हिन्दी प्रकाशन समिति और भी समृद्ध होगी और निरंतर नई ऊँचाइयों तक पहुँचेगी।

गत सत्र में हिन्दी प्रकाशन समिति द्वारा विश्वविद्यालय स्तरीय पुस्तक प्रकाशन योजना के अन्तर्गत ''पर्यावरण विज्ञान के विविध आयाम'' का प्रकाशन किया गया जिसका लोकार्पण दिनांक 17 अप्रैल, 2013 को माननीय कुलपति पद्मश्री डॉ0 लालजी सिंह द्वारा किया गया। समिति द्वारा ''ओजोन प्रदूषण : वनस्पतियों एवं मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव'' भी इसी अंक के साथ प्रकाशित हो चुका है जो शीघ्र ही आपके हाथों में होगी। इस दिशा में पूर्व में 'पर्यावरण सुरक्षा : मूलभूत समस्याएँ एवं निदान' तथा 'जल संरक्षण : समस्याएँ एवं समाधान' पुस्तिकायें प्रकाशित की जा चुकी हैं जिसने पर्यावरण प्रेमियों के बीच काफी लोकप्रियता हासिल की है। ये सभी पुस्तकें पर्यावरण विज्ञान के छात्रों, अध्यापकों, प्रतियोगी परीक्षाओं में सम्मिलित हो रहे प्रतिभागियों, गैर-सरकारी समाजसेवी संस्थाओं एवं पर्यावरण प्रेमियों के लिए काफी उपयोगी सिद्ध हो रही है।

विज्ञान-गंगा के वर्तमान अंक में अनेक राष्ट्रस्तरीय वैज्ञानिकों, शिक्षकों एवं विज्ञान लेखकों के उपयोगी लेख प्रकाशित किये जा रहे हैं, जो अत्यन्त ही उपयोगी, रुचिकर, ज्ञानवर्द्धक एवं समसामयिक हैं।

सर्वप्रथम, मैं अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त वैज्ञानिक एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के यशस्वी कुलपति और 'विज्ञान-गंगा' के मुख्य संरक्षक पद्मश्री डॉ0 लालजी सिंह जी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता

ज्ञापित करता हूँ जिनका विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी अनुसंधान तथा शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दी को प्रोत्साहित करने में विशेष योगदान रहता है। उनके प्रोत्साहन, उत्साहवर्द्धन एवं आवश्यक धनराशि प्रदान करने के परिणामस्वरूप ही यह उत्कृष्ट एवं आकर्षक रंगीन 'विज्ञान-गंगा' पत्रिका का अंक-7 आप तक पहुँच रहा है। मैं, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलसचिव प्रो0 गिरिजा शंकर यादव तथा छात्र अधिष्ठाता डा0 विनय कुमार सिंह का विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने इस अंक के प्रकाशन में सभी प्रकार के प्रशासनिक सहयोग प्रदान किये हैं। विज्ञान संकाय प्रमुख प्रो0 अरुण कुमार श्रीवास्तव के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जो हिन्दी को आगे बढ़ाने एवं समिति को सुदृढ़ बनाने में अपना रचनात्मक सुझाव एवं यथोचित सहयोग प्रदान करते रहे हैं। वित्तीय सहयोग प्रदान करने हेतु विश्वविद्यालय के वित्त अधिकारी डॉ0 अभय कुमार ठाकुर के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ। मैं 'विज्ञान-गंगा' के सलाहकार मण्डल के सभी सदस्यों का विशेष रूप से आभारी हूँ जिनका 'विज्ञान-गंगा' को स्तरीय बनाने में हमें निरन्तर सहयोग एवं रचनात्मक सुझाव प्राप्त होता रहा है। मैं वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली के अध्यक्ष एवं निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय प्रो0 केशरी लाल वर्मा एवं सहायक वैज्ञानिक अधिकारी डॉ0 बी.एस. बेहरा द्वारा हिन्दी प्रकाशन समिति को प्रदान किये गये हर सम्भव सहयोग के लिए धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। इस पत्रिका में प्रकाशित लेख के लेखकों के प्रति मैं व्यक्तिगत रूप से धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने अपने उत्कृष्ट लेखन से इस पत्रिका में प्रकाशन हेतु महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किये हैं। हम अपने सहयोगी उप-संपादकों डॉ0 देवेश कुमार गुप्त एवं डॉ0 दया शंकर त्रिपाठी को भी कुशल संपादन सहयोग हेतु आभार प्रकट करते हैं। साथ ही समिति के कार्यालय सहायक एवं संगणक कार्मिक श्री अनुप सोनकर एवं श्री तुलसी दास एक्का को भी उनके विविध सहयोग हेतु धन्यवाद देते हैं। पत्रिका के मुद्रक मे0 गौतम प्रिंटर्स के अधिष्ठाता श्री अरुण कुमार सिंह पत्रिका समय से प्रकाशित करने हेतु साधुवाद के पात्र हैं।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि पत्रिका का प्रस्तुत अंक-7 भी अपने पूर्व प्रकाशित अंकों की भाँति ही छात्रों, वैज्ञानिकों, शिक्षकों एवं सामान्यजनों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। हम आपके सृजनात्मक एवं उत्कृष्ट सुझावों का सदैव स्वागत करेंगे।

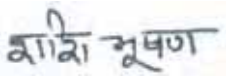

प्रो0 (शशि भूषण अग्रवाल)

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में 15 शिक्षक अपने विशिष्ट अनुसंधान के लिए वाइसचांसलर अवॉर्ड फॉर एक्सीलेंस इन रिसर्च से सम्मानित

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में 'वाइसचांसलर अवॉर्ड फॉर एक्सीलेंस इन रिसर्च' से 15 शिक्षकों को माननीय कुलपति पद्मश्री डॉ0 लालजी सिंह द्वारा 27 मार्च की रात 8.30 बजे कुलपति आवास पर आयोजित दीक्षांत भोज के दौरान सम्मानित किया गया। उत्कृष्ट शोध कार्य के लिए आईएमएस बीएचयू के प्रो0 श्यामसुंदर को 5 लाख रुपये का पुरस्कार प्रदान किया गया। विज्ञान संकाय के तेरह वैज्ञानिक और चिकित्सा विज्ञान संस्थान के एक वैज्ञानिक को 1-1 लाख रुपये की धनराशि से सम्मानित किया गया। शोध कार्यों और नवोन्मेषन को बढ़ावा देने के उद्देश्य से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने इस वर्ष से ''वाइसचांसलर अवॉर्ड फॉर एक्सीलेंस इन रिसर्च'' की शुरुआत की है। पात्र शिक्षकों का चयन शोध जर्नलों में प्रकाशित शोधपत्रों के आधार पर किया गया है। चयन के आधार में शोध सामग्री के 'इम्पैक्ट फैक्टर' को ध्यान में रखा गया है। जर्नल में 5 से 15 इम्पैक्ट फैक्टर वाले प्रकाशित शोध पत्र के लिए 1 लाख रुपये की धनराशि दी गयी है। वहीं 30 से अधिक इम्पैक्ट फैक्टर वाले जर्नल में प्रकाशन के लिए आईएमएस में मेडिसिन विभाग के प्रोफेसर श्यामसुंदर को 5 लाख रुपये और प्रशस्ति पत्र दिया गया। इम्पैक्ट फैक्टर इस बात का सूचक होता है कि अन्य शोधकर्ताओं ने किसी प्रकाशन का संदर्भ के तौर पर कितनी बार प्रयोग किया है। इसी के आधार पर जर्नल के हाई-इम्पैक्ट और लो-इम्पैक्ट फैक्टर का चयन किया जाता है।

एक लाख का पुरस्कार प्राप्त करने वालों में विज्ञान संकाय के भौतिकी विभाग के डॉ0 वेंकटेश सिंह, प्रो0 भारतेन्दु सिंह, प्रो0 संजय कुमार, डॉ0 अजय कुमार, डॉ0 अंचल श्रीवास्तव, प्रो0 ए.के. घोष, प्रो0 आर.पी. मलिक तथा रसायन विभाग के प्रो0 कृष्णानंद सिंह, प्रो0 एम.एस. सिंह, प्रो0 डी.एस. पाण्डेय, प्रो0 सत्येन साहा, प्रो0 बी.बी. प्रसाद एवं बायोटेक्नोलॉजी के प्रो0 ए.के. त्रिपाठी तथा आईएमएस के डॉ0 डी. दास के नाम सम्मिलित हैं।

कुलपति डॉ0 लालजी सिंह के साथ सम्मानित वैज्ञानिक

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पुरातन छात्र प्रकोष्ठ एवं हिन्दी प्रकाशन समिति द्वारा प्रो0 राव का अभिनन्दन

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पुरातन छात्र प्रकोष्ठ की तरफ से अध्यक्षा प्रो0 सुशीला सिंह, समन्वयक प्रो0 शशि भूषण अग्रवाल ने यहाँ के पूर्व छात्र भारत रत्न प्रो0 सी.एन.आर. राव को स्मृतिचिन्ह प्रदान कर अभिनन्दन किया। इस अवसर पर उनकी पत्नी श्रीमती इन्दुमति राव भी उपस्थित थीं।

भारत रत्न प्रो0 सी.एन.आर. राव का अभिनन्दन करते प्रो0 शशि भूषण अग्रवाल एवं प्रो0 सुशीला सिंह

भारत में मलेरिया नियंत्रण : चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ

डॉ0 रजनीकान्त*

मलेरिया मानव सभ्यता के प्राचीनतम रोगों में से एक है जिसका उल्लेख 1600 ईसा पूर्व वैदिक लेखों में भी किया गया है। हिप्पोक्रेट्स द्वारा 2500 वर्ष पूर्व एवं 500 ईसा पूर्व आर्यन सर्जरी के संस्थापक चरक एवं सुश्रत द्वारा भी इसका उल्लेख किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से मलेरिया द्वारा युद्ध एवं शान्ति में भी अहम् भूमिका निभाई गई है। मलेरिया के द्वारा ग्रीस की वैभवता, रोमन साम्राज्य का पतन, इजिप्शियन सभ्यता का नाश एवं सीलोन (श्रीलंका) की प्राचीन संस्कृति को समाप्त करने में बड़ा हाथ रहा है। प्राचीन रोम को यूरोप की मलेरिया कैपिटल (राजधानी) के रूप में जाना जाता था।

ऐसा मानना था, कि दलदली जमीन से उठने वाली हवा के कारण यह रोग होता है, अतः इटली में मैल + एरिया (गंदी + हवा) शब्दों को जोड़कर मलेरिया शब्द की उत्पत्ति हुई। पनामा नहर का निर्माण कार्य भी मलेरिया के कारण रोकना पड़ा था।

मलेरिया परजीवी की खोज

19वीं शताब्दी के पूर्व मलेरिया के रहस्यों का पता नहीं लग सका था। वर्ष 1880 में अल्जीरिया में कार्यरत चार्ल्स अल्फान्सो लेवरॉन द्वारा मलेरिया परजीवी प्लाज्मोडियम की खोज की गई। 6 नवम्बर 1880 में कान्सटेन्टाइन के एक सैनिक अस्पताल में एक रोगी के रक्त के नमूने में उन्होंने एक सूक्ष्म गतिशील मलेरियल बॉडी को देखा, वे इस हँसिए (क्रिसेन्ट) के आकार के तीव्र गतिशील पिण्ड को देखकर आश्चर्यचकित हो गए तथा उन्हें विश्वास हो गया कि उन्होंने मलेरिया फैलाने वाले रोगाणु का पता लगा लिया है। उन्होंने इस परजीवी का नाम *ओसिलेरिया मलेरी* रखा। उनके द्वारा परीक्षण किए गए कुल 192 व्यक्तियों में से 148 में इस परजीवी की उपस्थिति देखी गई। उनके इस अभूतपूर्व कार्य के लिए वर्ष 1907 में उन्हें नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। तदान्तर में मलेरिया परजीवी को प्लाज्मोडियम नाम से जाना गया।

चार्ल्स अल्फान्सो लेवरॉन

आज विश्व में मलेरिया परजीवी प्लाजमोडियम की लगभग 100 प्रजातियाँ पाई जाती हैं परन्तु मानव मलेरिया के लिए मुख्यतः 4 मलेरिया परजीवी ही जिम्मेदार पाए जाते हैं। ये हैं : *प्लाज्मोडियम मलेरी* (लेवरान, 1881), *पी. वाइवेक्स* (ग्रासी एवं फिलेटी 1890), *पी. फाल्सीपेरम* (वेल्थ, 1879) तथा *पी. ओवेल* (स्टीफेन्स, 1922)। हालाँकि, दक्षिणपूर्व एशिया के कुछ हिस्सों विशेषकर मलेशिया – ब्रोनियो के वनीय इलाकों में *पी. नोलेसी* (नोलेस एवं दासगुप्ता 1932) को भी मानव मलेरिया के लिए जिम्मेदार माना गया है। भारत में मलेरिया मुख्यतः *पी. वाइवेक्स* एवं *पी. फाल्सीपेरम* के कारण होता है तथा कुछ छुट-पुट घटनाएँ *पी. मलेरी* के कारण भी रिपोर्ट की जाती हैं, जबकि *पी. ओवेल* प्रमुखतः अफ्रीका में पाया जाता है।

एनॉफिलीज मच्छरों द्वारा मलेरिया संचरण के रहस्यों का पटाक्षेप

मलेरिया परजीवी की खोज के पश्चात् यह स्पष्ट नहीं हो पा रहा था कि मनुष्य में यह परजीवी कैसे पहुँच जाता है। सर पेट्रिक मेंसन के दिशा निर्देश में कार्यरत भारत में ब्रिटिश सेना में नियुक्त मेजर सर रोनाल्ड रॉस द्वारा वर्ष 1897 में सिकन्दराबाद, हैदराबाद में एक छोटी सी प्रयोगशाला में इन रहस्यों का पटाक्षेप किया गया, जब उन्होंने एनॉफिलीज मच्छर द्वारा मलेरिया संचरण की भूमिका को स्पष्ट किया। वर्ष 1902 में उन्हें इस अभूतपूर्व कार्य के लिए नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

मेजर सर रोनाल्ड रॉस

आज विश्व में 37 वंशों के अन्तर्गत मच्छरों की लगभग 3000 प्रजातियाँ तथा भारत में 15 वंशों के अन्तर्गत 255 प्रजातियाँ पाई जाती हैं। इनमें से एनॉफिलीज मच्छरों की 58 प्रजातियाँ हैं।

मलेरिया के रोगवाहक

भारत में एनॉफिलीज मच्छरों की प्रमुखतः 6 प्रजातियाँ विभिन्न भौगोलिक-पारिस्थितिकीय स्थितियों में मलेरिया का संचार करती हैं। इनमें से प्रथम है *एनॉफिलीज क्युलिसिफेसीज* जो भारत मे 60-65 प्रतिशत मलेरिया के लिए जिम्मेदार मानी जाती है तथा विशाल ग्रामीण एवं परिशहरी (पेरीअर्बन) क्षेत्रों में मलेरिया के संचार में इसकी प्रमुख भूमिका होती है। *एनॉफिलीज क्युलिसिफेसीज* की 5 सहोदर जातियाँ (सिबलिंग स्पीसीज) हैं जिन्हें A, B, C, D एवं E के नाम से जाना जाता है। *एनॉ. स्टीफेन्साई* शहरी क्षेत्रों में मलेरिया का संचरण करती है।

एनॉफिलीज क्युलिसिफेसीज

*वैज्ञानिक–ई, भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली–110 029.

मलेरिया वाहक

इन 2 प्रमुख प्रजातियों के अलावा *एनॉ. फ्लुवियाटिलिस* S, T, U एवं V इसकी सहोदर जातियाँ हैं। *एनॉ. मिनिमस* पूर्वोत्तर क्षेत्रों के पहाड़ी इलाकों तथा एनॉ. *डाइरस (एनॉ. बेमई, एनॉ. एलीगेन्स)* पूर्वोत्तर के वनीय क्षेत्रों में मलेरिया संचरण के लिए जिम्मेदार पाई गई हैं। जबकि *एनॉ.सष्डाइकस* अण्डमान एवं निकोबार द्वीप समूह के तटीय क्षेत्रों में मलेरिया का संचार करती हैं। मलेरिया नियंत्रण के प्रयासों को सफल बनाने के लिए इन 6 प्रमुख रोगवाहकों पर नियंत्रण रखना भारत सरकार का प्रमुख लक्ष्य है।

मलेरिया की वैश्विक स्थिति

मलेरिया परजीवी की खोज एवं मच्छरों द्वारा इसके संचरण की भूमिका स्थापित होने के पश्चात् 19वीं शताब्दी के अन्त में मलेरिया नियंत्रण के लिए व्यापक प्रयास शुरू किए गए। 20वीं शताब्दी की शुरुआत में संयुक्त राष्ट्र अमरीका एवं पश्चिमी यूरोप के देशों को शामिल करते हुए विश्व के अधिकांश हिस्सों में मलेरिया रोग स्थानिक था। हालाँकि वर्ष 1955 में वैश्विक मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम के पश्चात् कई हिस्सों में मलेरिया पर काबू पा लिया गया। आज विश्व के कई उष्णकटिबन्धीय क्षेत्रों में मलेरिया अभी भी अत्यधिक गंभीर, व्यापक एवं जटिल समस्या बनी हुई है। विश्व मलेरिया रिपोर्ट (2013) के अनुसार कुल 103 देशों की 3.4 बिलियन आबादी मलेरिया के खतरे वाले स्थानों में निवास करती है। विश्व में प्रतिवर्ष मलेरिया की 207 मिलियन घटनाएँ प्रकाश में आती हैं जिनमें से 80 प्रतिशत घटनाएँ उप-सहारीह अफ्रीका से प्रकाश में आती

मलेरिया का वैश्विक परिदृश्य

हैं। मलेरिया के कारण प्रतिवर्ष 6,27,000 लोगों की मृत्यु हो जाती है। भारत में प्रतिवर्ष मलेरिया की 1.5 से 2.0 मिलियन घटनाएँ प्रकाश में आती हैं तथा लगभग 1000 लोगों की इस रोग के कारण मृत्यु हो जाती है। हालाँकि ऐसा मानना है कि ये आंकड़े मलेरिया की स्थिति का सही चित्रण नहीं करते। विश्व में मलेरिया नियंत्रण के लिए करीब 2.5 बिलियन रुपये का व्यय किये जाते हैं।

मलेरिया का आर्थिक भार

मलेरिया मानवता के सामाजिक-आर्थिक ढाँचे को गंभीर रूप से प्रभावित करता है। इस रोग के कारण अफ्रीका के सकल घरेलू उत्पाद (GDP) में 12 बिलियन अमरीकी डालर की क्षति के साथ आर्थिक वृद्धि में 1.3 प्रतिशत तक की गिरावट देखी जाती है। पूरे विश्व में इस रोग के कारण 44 मिलियन DALY (अशक्तता सम्बद्ध स्वास्थ्यमय वर्षो में क्षति) का प्रतिवर्ष नुकसान होता है।

मलेरिया एवं गरीबी का करीबी रिश्ता देखा गया है। विश्व की मलेरिया की कुल 58 प्रतिशत घटनाएँ गरीबी से ग्रस्त 20 प्रतिशत आबादी से ही प्रकाश में आती हैं। गरीबी दूर करने का सम्बद्ध मलेरिया की घटनाओं में कमी लाने के साथ सम्बद्ध रहा है। यह आबादी प्रायः दूरवर्ती सीमान्त क्षेत्रों में निवास करती है जो कि दुर्गम होने के साथ-साथ, विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यताओं के कारण मलेरिया से ज्यादा प्रभावित होती है।

मलेरिया की भयावता को देखते हुए वर्ष 1935 में सिंटन ने रिपोर्ट किया कि भारत के अधिकांश हिस्सों में रहने की समस्या मलेरिया की समस्या है तथा जीवन का कोई भी ऐसा हिस्सा नहीं है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मलेरिया द्वारा प्रभावित न होता हो। उन दिनों यह रोग, आर्थिक दुर्भाग्य, गरीबी बढ़ाने, राष्ट्र के शारीरिक एवं बौद्धिक मानकों को कम करने तथा वैभता एवं आर्थिक प्रगति में बाधा उत्पन्न करने का प्रमुख कारण था।

भारत में मलेरिया नियंत्रण

भारत मलेरिया के लिए रोगस्थानिक है तथा विभिन्न हिस्सों से सक्रिय संचरण प्रकाश में आता रहा है। देश की लगभग 85 प्रतिशत आबादी मलेरिया के जोखिम वाले क्षेत्रों में निवास करती है। भारत में मलेरिया की अनुमानतः 65 प्रतिशत घटनाएँ उड़ीसा, झारखण्ड, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल तथा पूर्वोत्तर क्षेत्रों से प्रकाश में आती हैं। अत्यधिक रोग भार वाली आबादी नृजातीय जनजातियाँ हैं जो इन क्षेत्रों के दुर्गम वनीय क्षेत्रों में निवास करती हैं। भारत में मलेरिया नियंत्रण की गतिविधियों को निम्न चरणों में व्यक्त किया जा सकता है।

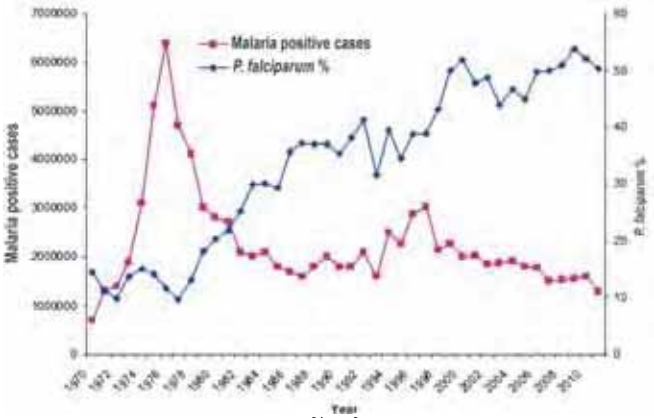

भारत में मलेरिया

डी डी टी पूर्व का चरण

स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय तक भारत मलेरिया की गंभीर समस्या से जूझ रहा था। आजादी पूर्व भारत में एक अनुमान के अनुसार मलेरिया की 75 मिलियन घटनाएँ तथा 0.8 मिलियन मृत्यु आँकी गई। मलेरिया नियंत्रण के लिए देश में कोई भी संगठित नियंत्रण कार्यक्रम नहीं था। हालाँकि, वर्ष 1897 में सर रोनॉल्ड रॉस द्वारा एनॉफिलीज मच्छरों द्वारा मलेरिया संचरण की भूमिका स्पष्ट होने के पश्चात् 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मच्छरों के नियंत्रण के लिए चुने हुए क्षेत्रों में पर्यावरणीय प्रबन्धन पर विशेष बल दिया गया। ब्रिटिश राज्य के दौरान रेल निर्माण के दौरान मलेरिया की समस्या भी गंभीर होती गई। पंजाब एवं बंगाल में मलेरिया की महामारी प्रकाश में आई। प्रारम्भिक मलेरिया नियंत्रण के प्रयासों के अंतर्गत प्रजनन स्थलों में कमी तथा बाद में पेरिस ग्रीन एवं केरोसीन का लार्वानाशी के रूप में प्रयोग किया गया। लाहौर के समीप मियान मीर (अब पाकिस्तान में) में इस रोग को रोकने के लिए प्रथम औपचारिक प्रयास किए गए।

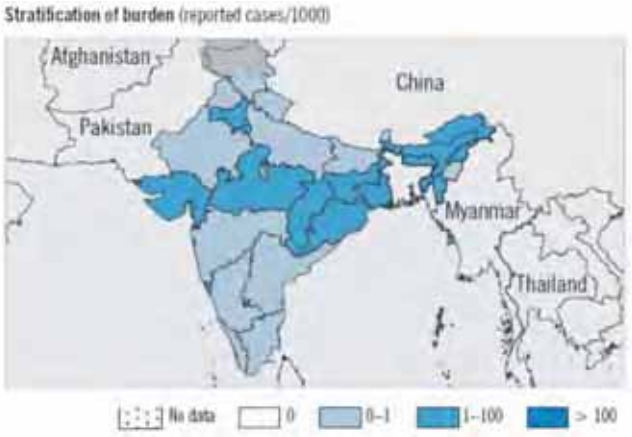

भारत में मलेरिया के Hot Spot

मलेरिया उन्मूलन (डी डी टी) का चरण

वर्ष 1940 के दशक मे डी डी टी जैसे प्रभावशील कीटनाशी की खोज के पश्चात् मलेरिया नियंत्रण कार्यक्रम में इसके प्रयोग से क्रांतिकारी परिवर्तन आ गए। विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा 1950 से 1960 के दशक के दौरान वैश्विक मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम (GMEP) शुरू किया गया, जिसके द्वारा प्रारम्भ में आशातीत सफलता प्राप्त हुई तथा भारत सहित कई देशों में मलेरिया की घटनाओं में अत्यधिक गिरावट आ गई। वर्ष 1964 में भारत में मलेरिया की घटनाएँ 75 मिलियन से कम होकर 1 लाख तक पहुँच गई तथा मृत्यु की घटनाएँ 0.8 मिलियन से घटकर न के बराबर हो गईं। परन्तु यह सफलता थोड़े दिनों तक ही सीमित रही तथा मलेरिया ने फिर से सिर उठाना शुरू कर दिया।

मलेरिया के पुनः उभरने का चरण

डी डी टी जैसे प्रभावशील कीटनाशी के मलेरिया नियंत्रण में सफल प्रयोग को देखते हुए भारत सरकार द्वारा वर्ष 1953 में राष्ट्रीय मलेरिया नियंत्रण कार्यक्रम (NMCP) शुरू कर दिया गया। प्रारम्भिक सफलता को देखकर अनुमान लगाया गया कि मलेरिया का उन्मूलन संभव हो सकता है, इसको ध्यान में रखकर वर्ष 1958 में इस कार्यक्रम को राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम (NMEP) में परिवर्तित कर दिया गया। किन्तु आरम्भिक सफलताओं के बाद, मलेरिया की घटनाओं में फिर से वृद्धि होनी लगी तथा वर्ष 1976 में मलेरिया की घटनाओं की संख्या बढ़कर 6.4 मिलियन तक पहुँच गई, जिसमें कई मृत्यु भी शामिल थीं। मलेरिया की घटनाओं में वृद्धि के लिए प्रशासनिक, तकनीकी, परिचालान्तमक कारणों का होना पाया गया। इसके अतिरिक्त वित्तीय बाधा एवं रोगवाहक

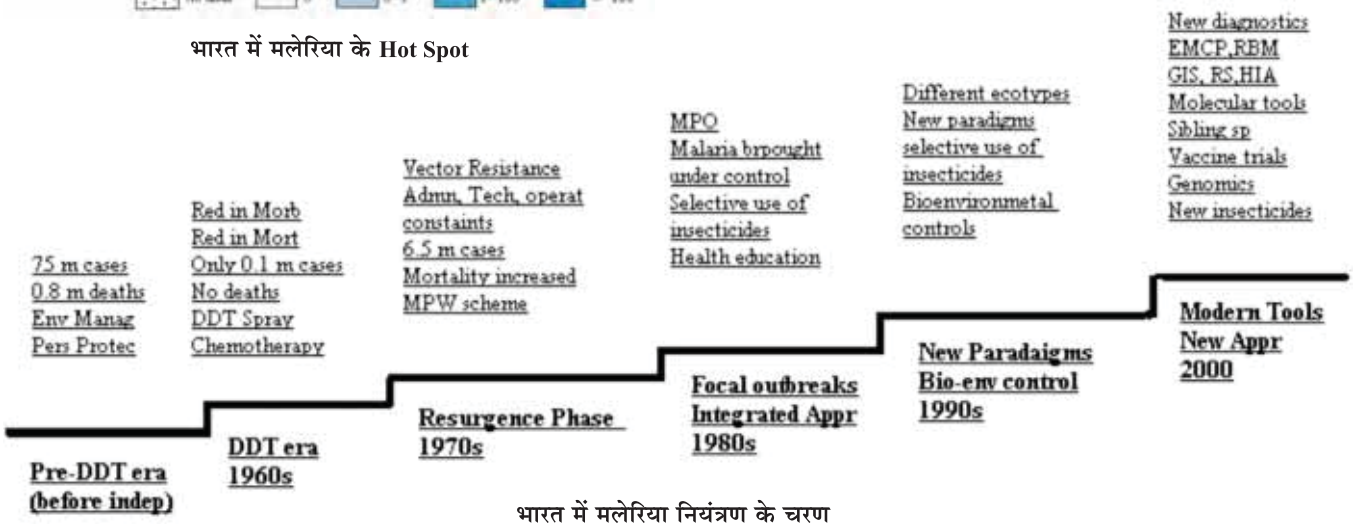

भारत में मलेरिया नियंत्रण के चरण

मच्छरों में कीटनाशी प्रतिरोध तथा मलेरिया परजीवी में औषधि प्रतिरोध ने समस्या को और गम्भीर बना दिया। मलेरिया की समस्या जो मुख्यतः ग्रामीण क्षेत्रों की समस्या थी, ने शहरों में भी पैर पसारने शुरू कर दिए। अतः भारत सरकार को नियंत्रण कार्यक्रम में पुनः संशोधन करने पड़े।

शहरी मलेरिया योजना

शहरी क्षेत्रों में मलेरिया नियंत्रण के लिए वर्ष 1971 में 40,000 से अधिक आबादी वाले शहरों में शहरी मलेरिया योजना (UMS) प्रारम्भ की गई। आज भारत के 19 राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों के 131 नगरों की लगभग 130.3 मिलियन आबादी के लिए यह योजना कार्यरत है। शहरों में मलेरिया नियंत्रण के लिए मुख्यतः लार्वानाशी विधियों, फॉगिंग तथा लोकल स्प्रे का प्रयोग किया जाता है।

परिचालन की संशोधित योजना

वर्ष 1970 के दशक में विभिन्न हिस्सों में मलेरिया के पुनः उभरने तथा वर्ष 1976 में इसके शीर्ष पर पहुँचने के फलस्वरूप वर्ष 1977 में परिचालन की संशोधित योजना शुरू (MPO) की गई। कार्यक्रम की मुख्य उपलब्धि औषधि वितरण केन्द्र (DDC) तथा ज्वर उपचार डिपो (FTDs) का खुलना था। बीच-बीच में इस कार्यक्रम को अन्य अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं जैसे PfCP, SIDA, WHO, UNESCO, DFID आदि से सहयोग मिलता रहा, जिसके फलस्वरूप मलेरिया को कुछ हद तक काबू में किया जा सका। वर्ष 1977 में भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा मलेरिया अनुसंधान के लिए मलेरिया अनुसंधान केन्द्र (अब राष्ट्रीय मलेरिया अनुसंधान संस्थान) की स्थापना की गई। हालाँकि मलेरिया की स्थिति स्थिर हो गई। किन्तु फाल्सीपेरम मलेरिया की घटनाओं में निरन्तर वृद्धि होती गई तथा बड़े पैमाने पर विकास सम्बद्ध गतिविधियों, शहरी करण, पर्यावरणी परिवर्तनों के फलस्वरूप मलेरिया के नए प्रतिरूप उभर कर सामने आए।

मलेरिया के प्रतिरूप

बढ़ते औद्योगिकरण, सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों, पर्यावरणी बदलाव तथा शहरों की चरमराती कार्य व्यवस्था के फलस्वरूप मलेरिया के निम्न प्रतिरूप उभरकर स्पष्ट हुए हैं :

ग्रामीण अथवा सिंचित मलेरिया

यह मुख्यतः शुष्क अथवा अर्द्धशुष्क क्षेत्र हैं जो वर्षा द्वारा अथवा सिंचाई द्वारा प्रभावित रहते हैं। कृषि के उत्पादन की वृद्धि के लिए नहरों द्वारा सिंचाई के विस्तार में भी आशातीत वृद्धि हुई है जिसके फलस्वरूप जल भराव, दलदल की स्थिति एवं रिसाव के फलस्वरूप मच्छरों के प्रजनन के लिए आदर्श स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। प्रमुख सिंचाई की योजनाओं जिनके साथ मलेरिया की सम्बद्धता भी दर्ज की गई, वे हैं : शारदा नहर, इर्विन (अब विशेश्वरैया) नहर, कावेरी-मेट्टूर सिंचाई योजना, अपर कृष्णा परियोजना, नागार्जुन सागर बाँध, इन्द्रावती परियोजना, सरदार सरोवर परियोजना तथा राजस्थान में इंदिरा नहर परियोजना आदि। गैरकानूनी सिंचाई, दुर्बल अनुरक्षण (रख-रखाव), बढ़ी हुई आर्द्रता तथा परिस्थितिकीय बदलाव से मच्छर का प्रजनन भी काफी प्रभावित होता रहता है। *एनॉ. क्युलिसिफेसीन* तथा *एनॉ. फ्लुवियाटिलिस* यहाँ प्रमुख रोगवाहक है।

शहरी मलेरिया

वर्ष 1951 में भारत में कुल 2590 शहर थे, जिनकी आबादी 62.44 मिलियन थी, वर्ष 1990 के दशक में इनकी संख्या बढ़ कर 3768 तक पहुँच गई तथा आबादी 217.8 मिलियन तक जा पहुँची। साथ-साथ रोजगार एवं अन्य शैक्षिणक अथवा व्यावसायिक उद्देश्य से ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों की ओर पलायन तेज हो जाने से झुग्गी-झोपड़ी विस्तार में वृद्धि तथा अनियोजित निर्माण कार्य, अनुपयुक्त जल निकासी एवं बिगड़ते मूल-भूत ढाँचे के मद्देनजर मच्छर के प्रजनन स्थलों में अतिशय वृद्धि हो गई। बढ़ते शहरीकरण के फलस्वरूप बहुमंजिली इमारतों के निर्माण के तहत ओवर हेड टैंक तथा अन्य जल भराव के स्थलों/टंकियों के बढ़ने से मच्छरों के प्रजनन को बढ़ावा मिला। चूँकि, यहाँ अधिकांशतः मानव निर्मित प्रजनन स्थल होते हैं, अतः *एनॉ. स्टीफेंसाई* यहाँ प्रमुख रोग वाहक है।

शहरी मलेरिया बढ़ने का प्रमुख कारण वैधानिक उपायों की कमी, कीट विज्ञानी घटक की अनुपस्थिति, औद्योगिक एवं निर्माण कार्य की बढ़ती गतिविधियाँ, सीमित जल आपूर्ति के कारण जल संग्रह, अन्य विभागों के साथ समन्वयन की कमी आदि मुख्य हैं। शहरों में मच्छर नियंत्रण के लिए लार्वानाशी का प्रयोग प्रमुख है तथा पेयजल में अबेट (टीमीफॉस) का प्रयोग किया जाता है। रोग के प्रकोप की रोकथाम के लिए थर्मल फॉगिंग तथा लोकल स्प्रे भी किया जाता है। शहरों में मच्छर नियंत्रण के लिए कठोर कानून बनाने की जरूरत है। ओवर हेड टैंकों को सही तरीके से बन्द किया जाना चाहिए तथा अन्तर्विभागीय सहयोग सर्वोपरि होना चाहिए।

वनीय अथवा जनजातीय मलेरिया

देश की लगभग 7.8 प्रतिशत जनजातीय आबादी 30 प्रतिशत से अधिक मलेरिया की घटनाओं तथा 75 प्रतिशत मृत्यु के लिए जिम्मेदार पाई जाती है। यह आबादी मुख्यतः घने वनों में निवास करती है। इन क्षेत्रों में निम्न साक्षरता, बिखरा हुआ सामाजिक ताना-बाना अंधविश्वावस, नीम-हकीमों की उपस्थिति तथा दुर्बल स्वास्थ्य सुविधाएँ देखी जाती हैं। इन क्षेत्रों में *एनॉ. क्युलिसिफेसीज, एनॉ. फ्लुवियाटिलिस, एनॉ. डाइरस* तथा *एनॉ. मिनिमस* प्रमुख रोगवाहक हैं। निर्वनीकरण, जागरूकता का अभाव, औषधि प्रतिरोध, अलाक्षणिक वाहक तथा *पी. फातसीपेरम* की अधिकता ने इस क्षेत्र को ज्यादा जटिल बना दिया है।

औद्योगिक अथवा परियोजना मलेरिया

इन क्षेत्रों की प्रमुख समस्या निर्माण कार्य एवं विकासत्मक गतिविधियों के चलते मजदूरों की एकत्रीकरण है जो रोग स्थानिक क्षेत्रों से मलेरिया का प्रसार करते हैं। यहाँ के निवास स्थल अधिकांशतः अस्थाई होते हैं तथा *एनॉ. क्युलिसिफेसीज, एनॉ. स्टीफंसाई* एवं *एनॉ. फ्लुवियाटिलिस* यहाँ प्रमुख रोग वाहक हैं। कुछ प्रमुख परियोजनाएँ जहाँ मलेरिया की सम्बद्धता पाई गई हैं, वे हैं : नेशनल थर्मल पावर कार्पोरेशन (NTPC) (मिर्जापुर), विशाखापट्टनम स्टील प्लान्ट, मथुरा तेल शोधन कारखाना, भिलाई स्टील प्लान्ट, भारत हेवी इलेक्ट्रॉनिकल्स लिमिटेड (BHEL) (हरिद्वार), सूरत औद्योगिक संकुल आदि। इन स्थलों पर स्वास्थ्य प्रभाव आंकलन (HIA) पर बल देना आवश्यक है।

प्रवासी (माइग्रेशन) मलेरिया

रोगस्थानिक क्षेत्रों से रोगमुक्त क्षेत्रों में प्रवासी आबादी के आने से मलेरिया की संभावना बढ़ जाती है। इसके फलस्वरूप नए क्षेत्र भी मलेरिया की चपेट में आ जाते हैं तथा कभी-कभी नए औषधि प्रतिरोधी परजीवी का भी प्रवेश हो जाता है। इन क्षेत्रों में बाहर से आने वाली आबादी की जाँच आवश्यक हो जाती है।

सीमान्त (बार्डर) मलेरिया

भारत की सीमाएँ मुख्यतः म्याँमार, बांग्लादेश, भूटान, नेपाल तथा पाकिस्तान के साथ सम्बद्ध हैं। सीमावर्ती 16 कि.मी. का क्षेत्र जिसे नो मेन्स लैण्ड के रूप में जाना जाता है वहाँ रोगवाहक नियंत्रण की कोई गतिविधि नहीं होती है। आबादी के इधर से उधर जाने से मलेरिया की गतिविधि भी प्रभावित होती है। इन क्षेत्रों में प्रमुख रोगवाहक *एनॉ. डाइरस, एनॉ. मिनिमस, एनॉ. फ्लुवियाटिलिस तथा एनॉ. क्युलिसिफेसीज* हैं।

तटीय मलेरिया

यह मुख्यतः अण्डमान एवं निकोबार द्वीप समूह के क्षेत्र हैं। यहाँ का प्रमुख रोगवाहक *एनॉ. सण्डाईकस* है, जो क्रीक्स में खारे जल में प्रजनन करता है।

एयरपोर्ट मलेरिया

हाल में संक्रमित मच्छरों के आवागमन के फलस्वरूप एयर-पोर्ट के समीप मलेरिया की घटनाएँ प्रकाश में आई हैं। चूँकि लोगों में प्रतिरक्षा का अभाव होता है तथा जाँच में विलम्ब से समस्या गंभीर हो जाती है। अंतर्राष्ट्रीय ट्रेवलर्स के द्वारा मलेरिया का संचार चिन्ता का विषय है। यू.के. में वर्ष 1997 में कुल 2364 मलेरिया की घटनाएँ देखने को मिलीं।

मलेरिया का जैव पर्यावरण नियंत्रण

मलेरिया के रोगवाहक मच्छरों के प्रति बढ़ते कीटनाशी प्रतिरोध के मद्देनजर 1980 के दशक में खेड़ा, गुजरात में मलेरिया की जैव पर्यावरणीय नियंत्रण नीतियों पर सराहनीय कार्य किया गया, जिसे बाद में देश की विभिन्न भौगोलिक एवं जानपदिक-परिस्थितिकीय स्थितियों में प्रयोग किया गया। इसके अंतर्गत छोटे एवं अस्थाई मच्छर के प्रजनन स्थलों को नष्ट करके, प्रजनन स्रोतों में कमी, रिसाव वाले स्थलों पर श्रमदान के द्वारा मिट्टी भरकर मच्छरजनक स्थिति पर नियंत्रण तथा पर्यावरणी प्रबन्धन के तहत इन स्थलों पर यूकेलिप्टस तथा अन्य पेड़ों का लगाना तथा घरों के बाहर शोष खड्डों का निर्माण शामिल था, ताकि मच्छरों को पनपने का मौका ही न मिले। तालाब, नहरों, धान के खेतों तथा अन्य स्थाई स्थल जिन्हें नष्ट नहीं किया जा सकता था, वहाँ जैविक नियंत्रण के रूप में लर्वाभक्षी मछलियों जैसे गप्पी एवं गम्बूसिया का व्यापक प्रयोग किया गया। लोगों में मच्छर नियंत्रण के लिए जागरूकता उत्पन्न करने एवं कार्यक्रम में उनकी भागीदारी के लिए स्वास्थ शिक्षा पर विशेष बल दिया गया। स्कूलों एवं पंचायतों में हेल्थ कैम्प तथा जीवन्त प्रदर्शन के द्वारा मलेरिया के विषय में जानकारी दी गई तथा स्कूली बच्चों को भी कार्यक्रम में शामिल किया गया। घरों के भीतर जल संग्रह के स्थलों को ढँककर रखना, सप्ताह में एक बार पानी परिवर्तित करना, टंकियों में मछलियों का प्रयोग एवं वीडियो शो निरन्तर दर्शाए गए। युवा मण्डल तथा महिला मण्डल का कार्यक्रम में समावेश किया गया। उपयोगी कुओं में लर्वाभक्षी

Larvivorous Fish

EPS Beads

Environmental Management

Earth Work through Shramdans

Food Fish Culture

Social Forestry

मलेरिया का जैव पर्यावरणीय नियंत्रण

मछलियों का प्रयोग तथा अनुपयोगी कुँओं एवं सैप्टिक टैंकों तथा गोबर गैस प्लान्ट में पॉलीस्टीरीन के दानों (EPS) को प्रयोग किया। मलेरिया नियंत्रण के लिए त्वरित जाँच एवं शीघ्र निदान पर विशेष बल दिया गया। आय वृद्धि की योजना एवं लोगों की मलेरियारोधी कार्यक्रम में रुचि बनाए रखने के लिए लर्वाभक्षी मछलियों के उत्पादन के साथ-साथ मत्स्य उत्पादन को भी बढ़ावा दिया तथा वृक्षारोपड़ एवं विलेज नर्सरी की भी योजना शुरू की गई। इस नीति के द्वारा मलेरिया नियंत्रण के साथ-साथ ग्रामीण विकास को भी अत्यधिक बढ़ावा मिला तथा यह एक संम्पूर्ण समुदाय आधारित प्रयोग था, जिसमें कीटनाशी का प्रयोग सिर्फ महामारी की स्थिति के लिए रखा गया था। इसके फलस्वरूप मलेरिया की घटनाओं में उल्लेखनीय कमी आ गई तथा इसे पूरे विश्व में सराहा गया। आज इस कार्यक्रम के कई घटकों को राष्ट्रीय मलेरिया कार्यक्रम में शामिल कर लिया गया है।

मलेरिया एवं जलवायु परिवर्तन

मलेरिया प्रमुख रूप से वातावरण एवं जलवायु पर निर्भर करता है क्योंकि मलेरिया के रोगवाहक तापमान एवं आर्दता के प्रति अत्यधिक संवेदनशील होते हैं। हाल के दिनों में जलवायु परिवर्तन के मद्देनजर मलेरिया में भी बदलाव देखे गए हैं। ऐसा अनुमान है कि विगत 100 वर्षों के अन्दर वैश्विक सतही तापमान में 0.3 से 0.6°C की वृद्धि हुई है। यह वृद्धि समुद्र सतही तापमान एवं भू-आधारित सतही तापमान दोनों में हुई है। जलवायु सम्बद्ध कारकों के चलते प्रति दशक समुद्र के स्तर में भी 1 से 2 से.मी. तक की वृद्धि देखी गई है, तथा अनुमान है कि वर्ष 2100 तक तापमान में 2 से 4°C तक तथा समुद्र के स्तरों में 18-59 से.मी. तक की वृद्धि हो सकती है। जल के तापमान बढ़ जाने से मच्छर के डिंभक शीघ्र परिपक्व हो जाते हैं तथा जीवन चक्र तेज हो जाता है, गर्म जलवायु में मादा मच्छर जल्दी पाचन करके फिर से रक्तपान शुरु कर देती है। अत्यधिक सूखे की स्थिति में नदियाँ, गड्ढों में परिवर्तित होकर मच्छरों को और अधिक पनपने का मौका देती हैं तथा अत्यधिक वर्षा के कारण, मच्छरों के और प्रजनन स्थल उत्पन्न हो जाते हैं। इन दोनों स्थितियों के फलस्वरूप आबादी के विस्थापन से भी मलेरिया को बढ़ावा मिलता है। जलवायु परिवर्तन के कारण 1.3 प्रतिशत आबादी के मलेरिया के खतरे की संभावना बढ़ सकती है। हाल के वर्षों में मलेरिया मुक्त उच्च स्थलों पर मलेरिया की घटनाओं को जलवायु सम्बद्ध परिवर्तनों के साथ जोड़ा गया है। हालाँकि, मूल-भूत ढाँचे में सुधार के साथ, प्रभावशील पूर्व चेतावनी प्रणाली एवं असरदार नियंत्रण नीतियों के द्वारा इस पर काबू पाया जा सकता है।

दूसरे नौवहन उपग्रह का सफल प्रक्षेपण

भारत ने दिनांक 4 अप्रैल, 2014 (शुक्रवार) को अन्तरिक्ष अनुसंधान के क्षेत्र में एक नया कदम बढ़ाया है। उसने अपने दूसरे नौवहन उपग्रह आईआरएनएसएस-1बी का सफलतापूर्वक प्रक्षेपण किया। इसरो ने श्रीहरिकोटा स्थित सतीश धवन अंतरिक्ष केंद्र से शाम 5 बजकर 14 मिनट पर अपने पोलर उपग्रह प्रक्षेपण वाहन पीएसएलवी-सी24 के जरिए आईआरएनएसएस-1बी को छोड़ा। यह भारतीय क्षेत्रीय नौवहन उपग्रह प्रणाली (आईआरएनएसएस) का हिस्सा बनेगा। इसरो के अध्यक्ष के. राधाकृष्णन ने कहा, मैं समूचे इसरो दल को धन्यवाद देता हूँ जिसने इसे देश की महत्वपूर्ण उपलब्धि बना दिया है। इससे यह सिद्ध हो गया है कि हमारा पीएसएलवी गर्व का विषय है। आईआरएनएसएस अमेरिका की ग्लोबल पोजीशनिंग सिस्टम के समकक्ष है। इस उपग्रह का वजन 1432 किग्रा. है तथा प्रक्षेपण के 19 मिनट बाद यह अपनी कक्षा में स्थापित हो गया। आईआरएनएसएस कार्यक्रम 1420 करोड़ रुपयों का है और कुल सात नौवहन उपग्रह अन्तरिक्ष में प्रक्षेपित किये जाने हैं।

श्री हरिकोटा में दूसरे नौवहन उपग्रह आईआरएनएसएस 1बी का प्रक्षेपण

ISSN 2231-2455

कहाँ जन्मा था पहला जीव?

विष्णुप्रसाद चतुर्वेदी*

विज्ञान के अब तक के सभी प्रयासों के बावजूद पृथ्वी के बाहर किसी स्थान पर जीवन होने की पुष्टि अभी तक नहीं हो पाई है। पृथ्वी पर एक कोशिकीय, बहुकोशिकीय, कवक, पादप, जन्तु आदि लाखों प्रकार के जीव पाए जाते हैं मगर वैज्ञानिक इस बात पर सहमत हैं कि इन सब का प्रथम पूर्वज एक ही था। आज भी इस प्रश्न का उत्तर जानना शेष है कि सभी जीवों का प्रथम पूर्वज पृथ्वी पर ही जन्मा था या किसी अन्य खगोलीय पिण्ड से पृथ्वी पर आया? प्रथम जीव उत्पत्ति में ईश्वर जैसी किसी शक्ति की कोई भूमिका रही है या यह मात्र प्राकृतिक संयोग की देन है? प्रथम जीव के अजीवातजनन को समझाने वाले ओपेरिन व हाल्डेन के विचारों को भी जोरदार चुनौती दी जा रही है।

लगभग सभी धर्मों में विशिष्ट सृजन की बात कही गई है। इस मान्यता के अनुसार पृथ्वी पर पाए जाने वाले सभी जीवों को ईश्वर ने ठीक वैसा ही बनाया जैसे वे वर्तमान में पाए जाते हैं। मनुष्य को सबसे बाद में बनाया गया। इस मान्यता में विश्वास करने वाले इसाई धर्म गुरू आर्चबिसप उसर ने सन् 1650 में अपनी गणना के आधार पर बताया था कि ईश्वर ने विश्व सृजन का कार्य एक अक्टूबर 4004 ईसापूर्व को प्रारम्भ कर 23 अक्टूबर 4004 ईसापूर्व को पूरा किया। इस मान्यता के पक्ष में किसी प्रकार के प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। अपने अवलोकनों के आधार पर अरस्तू जैसे दार्शनिकों ने निर्जीव पदार्थों से जीवों की उत्पत्ति को समझाने का प्रयास किया। इस मान्यता के अनुसार प्रकृति में निर्जीव पदार्थों जैसे कीचड़ से मेढ़क, सड़ते माँस से मक्खियाँ आदि सजीवों की उत्पत्ति होती रहती है। वान हेल्मोन्ट जैसे वैज्ञानिक ने प्रयोग द्वारा पुराने कपड़ों व अनाज द्वारा चूहे जैसे जीव पैदा होने की बात प्रयोग द्वारा सिद्ध करने का प्रयास भी किया था। निर्जीव पदार्थों से सजीव उत्पन्न होने की मान्यता उन्नीसवीं शताब्दी तक चलती रही जब तक लुई पाश्चर ने अपने प्रयोगों के बल पर निर्विवाद रूप से इसका अन्त नहीं कर दिया। आज सभी यह जानते हैं कि कोई भी जीव पहले से उपस्थित अपने जैसे जीव से ही उत्पन्न हो सकता है मगर यह प्रश्न अभी भी महत्वपूर्ण है कि सबसे पहला जीव कहाँ से आया?

प्रथम जीव का अजैविक जनन

जीव की उत्पत्ति में ईश्वर की भूमिका को नकारकर प्राकृतिक नियमों के अनुरूप जीव की उत्पत्ति की सर्व प्रथम विवेचना करने का श्रेय चार्ल्स डार्विन को जाता है। अपनी पुस्तक ओरिजन ऑफ स्पेसीज में पृथ्वी पर पाए जाने वाले विभिन्न जीवों की उत्पत्ति को जैव विकास के सिद्धान्त से समझाते हुए चार्ल्स डार्विन को यह कहना पड़ा कि ईश्वर ने सभी जीवों को अलग-अलग नहीं बनाकर एक सरल जीव बनाया तथा वर्तमान सभी जीवों की उत्पत्ति उस एक पूर्वज से, जैव विकास की विधि द्वारा हुई है। अपने मित्रों तथा अन्य जिज्ञासुओं से डार्विन ने अपने विचार की असलियत को नहीं छुपाया। डार्विन ने जीव की उत्पत्ति में ईश्वर की भूमिका को नकारते हुए कहा था कि प्रथम जीव की उत्पत्ति निर्जीव पदार्थों से हुई। एक फरवरी 1871 को जासेफ डाल्टन हूकर को लिखे पत्र में चार्ल्स डार्विन ने संभावना प्रकट की कि अमोनिया, फास्फोरस आदि लवण घुले गर्म पानी के किसी गड्ढे में, प्रकाश, उष्मा, विद्युत आदि के प्रभाव से, निर्जीव पदार्थों से पहले जीव की उत्पत्ति हुई होगी।

रूसी वैज्ञानिक अलेक्जेण्डर इवानोविच ओपेरिन ने 1924 में जीव की उत्पत्ति नाम से निर्जीव पदार्थों से जीवन की उत्पत्ति का सर्व प्रथम सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। ओपेरिन ने कहा कि लुई पाश्चर का यह कथन सच है कि जीव की उत्पत्ति जीव से ही होती है मगर प्रथम जीव पर यह सिद्धान्त लागू नहीं होता। प्रथम जीव की उत्पत्ति तो निर्जीव पदार्थों से ही हुई होगी। ओपेरिन ने कहा कि सजीव व निर्जीव में कोई मूलभूत अन्तर नहीं होता। रसायनिक पदार्थों के जटिल संयोजन से ही जीवन का विकास हुआ है। विभिन्न खगोलीय पिण्डों पर मीथेन की उपस्थिति इस बात का संकेत है कि पृथ्वी का प्रारम्भिक वायुमण्डल मीथेन, अमोनिया, हाइड्रोजन तथा जल वाष्प से बना होने के कारण अत्यन्त अपचायक रहा होगा। इन तत्वों के संयोग से बने यौगिकों ने आगे संयोग कर और जटिल यौगिकों का निर्माण किया होगा। इन जटिल यौगिकों के विभिन्न विन्यासों के फलस्वरूप उत्पन्न नए गुणों ने जीवन की नियमितता की नींव रखी होगी। एक बार प्रारम्भ हुए जैविक लक्षण ने स्पर्धा व संघर्ष पर चलकर वर्तमान सजीव सृष्टि का निमार्ण किया होगा।

अलेक्जेण्डर ओपेरिन

अपने सिद्धान्त के पक्ष में ओपेरिन ने कुछ कार्बनिक पदार्थों के व्यवस्थित होकर कोशिका के सूक्ष्म तन्त्रों में बदलने के उदाहरण दिए। बाद में डच वैज्ञानिक जोंग के द्वारा किए गए प्रयोगों में बहुत से कार्बनिक अणुओं के आपस में जुड़कर विलयन से भरे पात्र जैसी सूक्ष्म रचनाओं के बनने से ओपेरिन के सिद्धान्त को बल मिला। कार्बनिक अणुओं की पर्त से बने सूक्ष्म पात्रों को ही डी जुंग ने कोअसरवेट नाम दिया था। कोअसरवेट द्वारा परासरण जैसी क्रियाओं के प्रदर्शन के कारण इन्हें उपापचयी क्रियाओं का आधार मानते हुए जीवन के प्रथम घटक के रूप में देखा गया। ओपेरिन का मानना था कि खाद्य समुद्र

*पूर्व प्रधानाचार्य, 2 तिलक नगर, पाली-306 401 (राजस्थान).

में अनेकानेक कोअसरवेट बने होंगे तथा उनके जटिल संयोजन से ही अचानक प्रथम जीव की उत्पत्ति हुई होगी।

सन् 1929 में जे.बी.एस. हाल्डेन ने ओपेरिन के विचारों को और विस्तार दिया। हाल्डेन ने पृथ्वी की उत्पत्ति से लेकर सुकेन्द्रकीय कोशिका की उत्पत्ति तक की घटनाओं को आठ चरणों में बाँटकर समझाया। हाल्डेन ने कहा कि सूर्य से अलग होकर पृथ्वी धीरे-धीरे ठण्डी हुई तो उस पर कई प्रकार के तत्व बन गए। भारी तत्व पृथ्वी के केन्द्र की ओर गए तथा हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, आर्गन से प्रारम्भिक वायुमण्डल बना। वायुमण्डल के इन तत्वों के आपसी संयोग से अमोनिया व जलवाष्प बने। इस क्रिया में पूरी ऑक्सीजन काम आ जाने के कारण वायुमण्डल अपचायक हो गया था। सूर्य के प्रकाश व विद्युत विसर्जन के प्रभाव से रासायनिक क्रियाओं का दौरा चलता रहा और कालान्तर में अमीनो अम्ल, शर्करा, ग्लिसरोल आदि अनेकानेक प्रकार के यौगिक बनते गए। इन यौगिकों के जल में विलेय होने से पृथ्वी पर पूर्वजीवी गर्म सूप बना।

जे.बी.एस. हाल्डेन

सूप का घनत्व बढ़ता गया तथा उसमें कोलायडी कण बनने लगे। जल की सतह पर तैरते इन कणों ने आपस में जुड़कर झिल्ली का रूप लिया होगा। इस झिल्ली ने बाद में सूक्ष्म पात्रों का निर्माण कर लिया जिन्हें कोअसरवेट नाम दिया था। इस प्रकार जीवनपूर्व रचनाओं का उदय हुआ होगा। एन्जाइम जैसे उत्प्रेरकों के प्रभाव के कारण कोअसरवेट में भरे रसायनों में संश्लेषण विश्लेषण जैसी क्रियाएँ होने लगी होंगी। धीरे-धीरे अवायु श्वसन होने लगा। कोअसरवेट में कोई रसायन कम होता तो बाह्य वातावरण से अवशोषण कर उसकी पूर्ति कर ली जाती। चिपचिपेपन के कारण कोअसरवेट का आकार बढ़ता रहता तथा अधिकतम आकार हो जाने पर वह स्वतः विभाजित हो जाता था। बाद में नाभिकीय अम्लों के रूप में कार्बनिक नियंत्रक-तंत्र विकसित हुए जो वृद्धि व जनन जैसी जैविक क्रियाओं को नियन्त्रित करने लगे। प्रारम्भिक कोशिका परपोषी प्रकार की रही होगी। बाद में पर्णहरित यौगिक तथा हरितलवक कोशिकांग के कोशिका में प्रवेश करने से पहली स्वपोषित कोशिका बनी होगी। प्रकाश संश्लेषण की क्रिया के प्रारम्भ होने पर जल का विघटन होने लगा जिससे आक्सीजन उत्पन्न होने लगी। वायुमण्डल में ऑक्सीजन की मात्रा साम्य स्थापित होने तक बढ़ती रही होगी।

स्टेनले मिलर का प्रयोग

ओपेरिन तथा हाल्डेन की कल्पनाओं का कोई प्रायोगिक आधार नहीं था। 1953 में स्टेनले मिलर ने ''प्रारम्भिक पृथ्वी अवस्था में अमीनो अम्लों का उत्पादन संभव'' लेख प्रकाशित कर ओपेरिन व हाल्डेन के विचारों का समर्थन किया। स्टेनले मिलर ने अपने गुरू हारोल्ड यूरे के निर्देशन में एक बहुत ही अच्छे प्रयोग की योजना तैयार कर उसे क्रियान्वित किया था। मिलर ने पृथ्वी के प्रारम्भिक वायुमण्डल जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर यह देखना चाहता था कि क्या ओपेरिन ने जो कहा वैसा होना सम्भव है? मिलर ने प्रयोग करने के लिए एक विद्युत विसर्जन उपकरण बनाया। उपकरण में एक गोल पेंदे का फ्लास्क, एक विद्युत विसर्जन बल्ब तथा एक संघनक लगा था। गोल पेंदे के फ्लास्क में पानी भरने के बाद उपकरण में हवा निकाल कर उसमें मिथेन, अमोनिया व हाइड्रोजन को 2:1:2 अनुपात में भर दिया गया। विद्युत विसर्जन के साथ-साथ पानी को उबलने दिया जाता तो उत्पन्न भाप के प्रभाव के कारण गैसें निरन्तर वृत्त में घूमती रहती। विद्युत विसर्जन बल्ब से निकलने वाली जलवाष्प के संघनित होने पर उसे विश्लेषण हेतु बाहर निकाला जा सकता था। मिलर ने निरन्तर एक सप्ताह विद्युत विसर्जन होने के बाद संघनित द्रव का विश्लेषण किया। विश्लेषण करने पर उस द्रव में अमीनों अम्ल, एसिटिक अम्ल आदि कई प्रकार के कार्बनिक पदार्थ पाए गए।

मिलर के प्रयोग द्वारा ओपेरिन के रसायनिक विकास की परिकल्पना की पुष्टि होने से इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई। मिलर के प्रयोग के महत्व को इस बात से समझा जा सकता है कि शनि के उपग्रह टाइटन के वायुमण्डल में जीव की उत्पत्ति की संभावना की पड़ताल के सन्दर्भ में इस प्रयोग को पुनः दोहराया गया है। प्रयोग से प्राप्त आकड़ों के आधार पर कहा जाने लगा है कि जल की अनुपस्थिति में भी वायुमण्डल में जीवन के घटकों का संश्लेषण संभव है। मिलर के प्रयोग से पृथ्वी के प्रारम्भिक वातावरण में कार्बनिक अणुओं के बनने की बात तो समझ में आ गई थी मगर अब प्रश्न यह था कि इन एकल अणुओं ने आपस में जुड़कर बहुलक अणुओं का निर्माण किस प्रकार किया होगा? सन् 1950 से 1960 के मध्य सिडनी फोक्स ने कुछ प्रयोग किए जिनमें यह पाया गया कि पृथ्वी के प्रारम्भिक समय में अमीनो अम्ल स्वतः ही पेप्टाइड बंधों से जुड़कर पोलीपेप्टाइड बनाने में सफल रहे होंगे। ये अमीनों अम्ल तथा पोलीपेप्टाइड जुड़कर गोलाकार झिल्ली व प्रोटीनॉइड माइक्रोस्फेयर में व्यवस्थित हो सकते थे जैसा कि प्रारम्भिक जीवन रहा होगा।

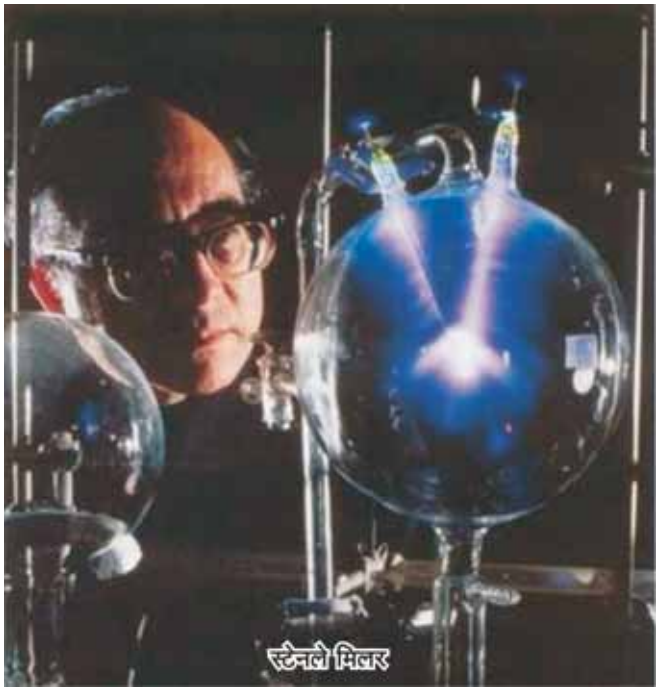
स्टेनले मिलर

मात्र अणुओं का समूह ही नहीं है जीवन

जीवन मात्र अणुओं का समूह ही नहीं है। जीवन के विषय में ज्यों-ज्यों जानकारियाँ बढ़ती जा रही हैं, प्रथम जीव की उत्पत्ति को समझाना उतना ही कठिन होता रहा है। जीवन की संरचना व उसकी कार्य प्रणाली को सन् 1992 में हारोल्ड होरोविट्ज ने निम्न बिन्दुओं में समझाया –

1. जीव कोशिका से बना होता है।
2. प्रत्येक कोशिका का 50 से 90 प्रतिशत भाग जल होता है। जल ही प्रकाश संश्लेषण की क्रिया में हाइड्रोजन, प्रोटोन तथा आक्सीजन की आपूर्ति करता है तथा जैव अणुओं के लिए विलायक की भूमिका निभाता है।
3. जीवन के निर्माण में प्रयुक्त अधिकांश सहसंयोजक जैव-अणु कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, फास्फोरस तथा गंधक से बने होते हैं।
4. जैव-अणुओं जैसे शर्करा, अमीनोअम्ल, न्यूक्लियोटाइड, वसीय अम्ल, फोस्फोलिपिड, विटामिन तथा सहएन्जाइम आदि से बना एक छोटा समूह ही सम्पूर्ण सजीव सृष्टि का निर्माता है।
5. प्रत्येक जीव के गठन में प्रमुख भाग बड़े अणुओं प्रोटीन, लिपिड, कार्बोहाइड्रेट व नाभिकीय अम्ल का होता है।
6. सभी जीवों की कोशिकाओं में एक ही प्रकार की दोहरी लिपिड झिल्ली पाई जाती है।
7. सभी जीवों में ऊर्जा का प्रवाह फास्फेट बंध (एटीपी) के जल अपघटन के माध्यम से होता है।
8. सम्पूर्ण सजीव जगत में उपापचय क्रियाएँ एक छोटे समूह-ग्लाइकोलिसिस, क्रेब्स चक्र, इलेक्ट्रोन स्थानान्तरण शृंखला के माध्यम से सम्पन्न होती है।
9. विभाजित होने वाली प्रत्येक कोशिका में डीएनए का एक सेट जिनोम के रूप में होता है। यह आरएनए के रूप में निर्देश भेजता है जिसका अनुवाद प्रोटीन के रूप में होता है।
10. वृद्धि करती प्रत्येक कोशिका में राइबोसोम पाए जाते हैं जो प्रोटीन संश्लेषण करते हैं।
11. प्रत्येक जीन सूचनाओं का अनुवाद न्यूक्लियोटाइड भाषा से विशिष्ट एन्जाइम के सक्रियण व ट्रान्सफर आरएनए के रूप में करता है।
12. जनन करने वाला प्रत्येक जीव, उसके जीनोटाइप में उत्परिवर्तन के कारण, स्वयं से कुछ भिन्न सन्तानें उत्पन्न करता है।
13. सभी जीवित कोशिकाओं में पर्याप्त तीव्र गति से होने वाली रसायनिक कियाएँ एन्जाइमों से उत्प्रेरित होती हैं।

जीवन की उपरोक्त विशेषताओं से स्पष्ट है कि जीवन कार्बनिक अणुओं या उनके बहुलकों का विशिष्ट समूह मात्र नहीं है। जीवन में कोशिका झिल्ली, उपापचय क्रियाएँ, जिनोम, एन्जाइम आदि अनेक तंत्र अद्भुत सन्तुलन के साथ क्रियाशील रहते हैं। किसी की भी अनुपस्थिति में जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। जीवन के विकास की बात करने पर यह तो सम्भव नहीं है कि प्रकृति में ये सभी तंत्र एक साथ विकसित होकर साथ काम करने लगे होंगे। यदि इनका विकास अलग-अलग हुआ तो कौन पहले और कौन बाद में बना। यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है कि किसी तंत्र विशेष के बनने तक शेष तंत्रों का कार्य कैसे चला होगा? यह कोई एक प्रश्न नहीं अपितु प्रश्नों का समुच्य है जिनका जबाव खोजना चुनौती भरा कार्य है। वैज्ञानिक इस अनबूझ पहेली से घबराए नहीं हैं। हजारों वैज्ञानिक अनवरत रूप से इन प्रश्नों के हल तलाशने में लगे हैं। यहाँ हम कुछ प्रमुख प्रयासों की चर्चा करेंगे।

उष्णजलीय रन्ध्र (हाइड्रोथर्मल वेन्ट) सिद्धान्त

लम्बे समय से चले आ रहे ओपेरिन व हाल्डेन के विचार को उस समय गहरा धक्का लगा जब कई युवा वैज्ञानिकों ने इस बात से असहमति जताई कि आद्यसूप में जन्मे प्रथम जीव ने अपनी ऊर्जीय आवश्यकताओं की पूर्ति अवायु श्वसन द्वारा की होगी। उनका कहना है कि ओपेरिन व हाल्डेन के विचार जैव-और्जिकी व उष्मागतिक सिद्धान्तों के अनुरूप नहीं है। प्रोफेसर विलियम मार्टिन के निर्देशन में भूरसायनज्ञ माइकल रुस्सेल ने जीव की प्रथम उत्पत्ति का वैकल्पिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उष्णजलीय रन्ध्र सिद्धान्त नाम के इस सिद्धान्त में कहा गया कि जीव की उत्पत्ति आद्यसूप में नहीं होकर समुद्र के पेंदे पर धात्विक लवणों से निर्मित चट्टानों पर बने सूक्ष्म उष्णजलीय रन्ध्रों में हुई होगी। जल में विलेय हाइड्रोजन, कार्बन डाई आक्साइड, नाइट्रोजन व हाइड्रोजन सल्फाइड गैसों ने इन रंध्रों में प्रवेश कर विभिन्न प्रकार के कार्बनिक योगिकों को जन्म दिया होगा। सूक्ष्म दूरी पर स्थित इन रंध्रों के मध्य ठीक वैसी ही रसायनिक प्रवणता स्थापित हुई होगी जैसी वर्तमान कोशिका में उत्पन्न होती है। प्रारम्भिक जीव ने रसायनिक-परासरण के माध्यम से रसायनिक प्रवणता का उपयोग कर ऊर्जा की वैश्विक मुद्रा एटीपी या उसके समकक्ष किसी अन्य का उपयोग किया होगा। इस प्रकार प्रारम्भिक जीवन अपनी ऊर्जा आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु धरती माँ पर निर्भर रहा होगा। कालान्तर में जीवन ने अपना स्वयं का प्रोटोन प्रवणता तंत्र विकसित कर इलेक्ट्रोन का स्थानान्तरण करना सीख होगा। इस सिद्धांत के प्रतिपादकों का मानना है कि हाइड्रोजन ने प्रथम इलेक्ट्रोन दाता तथा कार्बन डाईआक्साइड ने प्रथम ग्राहाता की भूमिका निभाई होगी। अपना ऊर्जा उत्पादन तंत्र विकसित करने के बाद जीवन सूक्ष्म उष्णजलीय रंध्रों से बाहर स्वतंत्र जीवन जीने लगा होगा। आज सभी जीव रसायनिक परासरणी हैं, प्रथम जीव भी ऐसा ही रहा होगा।

आरएनए विश्व

वर्तमान जीवन पूर्णतः डीएनए आधारित है। डीएनए में संग्रहित सूचना को केन्द्रक के बाहर कोशिका द्रव्य में आरएनए ले जाता है। कोशिका द्रव्य में उपस्थित राइबोसोम डीएनए से प्राप्त सूचना के अनुरूप प्रोटीन (एन्जाइम) का संश्लेषण करते हैं। प्रोटीन के उत्प्रेरण से ही जीवन की सभी क्रियाएँ निर्देशित होती हैं। कोशिका में सभी प्रकार के निर्माण होते हैं। डीएनए के संश्लेषण में कई प्रकार के प्रोटीन (एन्जाइम) की भूमिका होती है। अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जीवन विकास के क्रम में पहले डीएनए आया या प्रोटीन? बहुत सम्भव है कि जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में डीएनए नहीं था। आरएनए अपनी भूमिका के साथ डीएनए व प्रोटीन की भूमिका भी अभिनीत किया करता होगा। सन् 1983 में थोमस केच तथा सिडनी अल्टान ने स्वतंत्र रूप से कार्य करते हुए राइबोजाइम की खोज की। इन वैज्ञानिकों ने पता लगाया कि आरएनए को अपने निर्माण व परिवर्तन में किसी प्रोटीन की आवश्यकता नहीं होती। प्रोटीन की तरह

कार्य कर सकने वाले आरएनए को ही राबोजाइम नाम दिया गया। इस परिकल्पना के अनुसार एक समय ऐसा था जब अणु जगत का सुप्रिमो आरएनए ही था। उस काल को आरएनए विश्व के नाम से जाना जाता है। आरएनए विश्व की अवधारणा विकसित करने पर थोमस केच तथा सिडनी अल्टान को नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया। वैज्ञानिकों का मानना है कि बाद में डीएनए ने आरएनए की कई भूमिकाओं को उससे छीन लिया। आरएनए के द्विगुणन तथा स्पालसिंग में राइबोजाइम आज भी सक्रिय है।

यह प्रश्न विचारणीय है कि आरएनए संश्लेषण की क्रिया प्रणाली भी इतनी सरल तो नहीं कि जीवन के प्रारम्भ से ही इसकी भूमिका को स्वीकार लिया जाय? सन् 2009 में जोहन सुथरलैण्ड ने जीवन पूर्व परिस्थितियों में आकस्मिक रूप से पायरीमीडीन न्यूक्लियोटाइड एकलक शृंखला का संश्लेषण संभव बताकर आरएनए विश्व की संभावना को बल प्रदान किया है। प्यूरीन न्यूक्लियोटाइड एकलक शृंखला का संश्लेषण की संभावना का प्रतिपादन अभी नहीं हुआ है।

समहस्तता का विकास

अमीनो अम्ल, शर्कराएँ आदि असममित कार्बन यौगिक होते हैं और प्रकाश समावयता का गुण प्रदर्शित करते हैं। इनके अणु प्रतिबिम्ब आकृति लिए दो रूप के होते हैं। एक रूप समध्रुवी प्रकाश को बाँई और तो दूसरा रूप समध्रुवी प्रकाश को दाँई रूप घूमाने का गुण रखता है। पहले प्रकार के अणुओं को वामहस्त तथा दूसरे को दक्षिणहस्त रूप अणु कहते हैं। प्रयोगशाला में इनका निर्माण करने पर दोनों रूप साथ-साथ व समान मात्रा में बनते हैं। एक अनुपात एक के इस रैसेमिक मिश्रण का समध्रुवित प्रकाश पर कोई असर नहीं होता। आश्चर्य की बात है कि जीवन की संरचना में लगे असममित अणु जैसे अमीनों अम्ल, शर्कराएँ आदि समहस्तता का प्रदर्शन करते हैं। केवल वामहस्ती अमीनो अम्ल ही प्रोटीन बनाने व दक्षिणहस्ती शर्करा नाभिकीय अम्लों के निर्माण में उपयोगी होती है। अध्ययन से पता चलता है कि समहस्तता जीवन की अनिवार्यता है। कई दशकों से अनुसंधानकर्ता इस चमत्कार का जबाव खोजते रहे हैं कि समहस्तता व जीवन का साथ कब से व किस कारण से हुआ?

अभी हाल ही में हुए कुछ अध्ययनों से इस बात का पता चला है कि जीवन के साथ समहस्तता का जुड़ाव कोई चमत्कार नहीं होकर एक प्राकृतिक घटना है। इस विषय में पहला प्रमाण मुरकीशन उल्का के

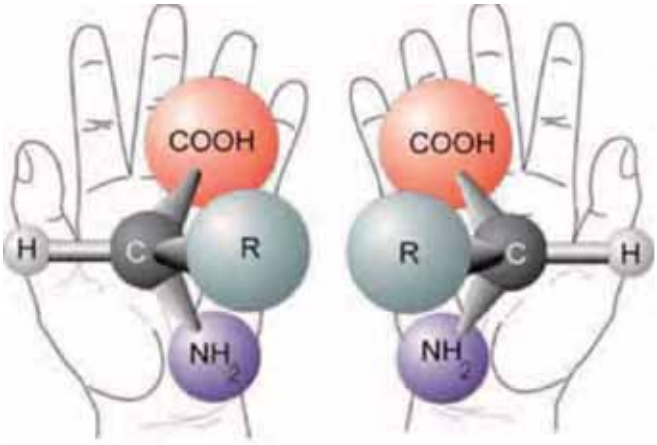

वामहस्त तथा दक्षिणहस्त

अध्ययन से प्राप्त हुआ है। मुरकीशन उल्का का नामकरण ऑस्ट्रेलिया के उस स्थान के नाम कर किया गया है जहाँ 28 सितम्बर 1969 को यह उल्कापात हुआ था। इस उल्का का रसायनिक विश्लेषण करने पर अन्य पदार्थों के साथ इसमें कई प्रकार के अमीनो अम्ल भी पाए गए। इनमें कुछ अमीनो अम्ल वे थे जो पृथ्वी के जीवों के प्रोटीन में पाए जाते हैं, तो कई ऐसे अमीनो अम्ल भी थे जो प्रोटीन बनाने में काम नहीं आते हैं। हमारी रुचि कि बात यह है कि मुरकीशन उल्का में पाए गए कई अमीनो अम्लों के वाम व दक्षिण हस्त रूप बराबर अनुपात में नहीं थे। ग्लेविन तथा डोरकिन ने एक अध्ययन में वामहस्ती आइसोवेलीन की मात्रा उसके दक्षिणहस्ती रूप से 18 प्रतिशत अधिक पाई। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि समहस्तता के गुण का विकास किसी उत्प्रेरक क्रिया के कारण प्रकृति में उत्पन्न हुआ है। बाद के अध्ययनों में पाया गया कि कई प्रकार के धात्विक क्रिस्टल के प्रभाव से या अन्य किसी रसायन के प्रभाव से वामहस्त या दक्षिण रूप अणुओं का अनुपात बढ़ जाता है। वैज्ञानिकों का कहना है कि अमीनों अम्लों में समहस्तता जीवन पूर्व काल में स्थापित हो गई होगी तथा बाद में एन्जाइम के रूप में इसका प्रभाव शर्करा पर हुआ होगा। आगे के अनुसंधान इस बात को और स्पष्ट कर सकेंगे।

पहले विकसित हुए उपापचय तंत्र

जीवन की जटिलता को देखते हुए कई वैज्ञानिकों का मानना है कि जीवन की उत्पत्ति से पूर्व कई उपापचय चक्रों का स्वतंत्र रूप से विकास हो चुका होगा तथा बाद में जीवन ने उनका उपयोग कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किया होगा। वर्तमान में उपापचय तंत्रों का नियंत्रण-निर्देशन एन्जाइमों के माध्यम से आनुवंशिक अणुओं द्वारा होता है। हम पूर्व में भी चर्चा कर चुके हैं कि आनुवंशिक पदार्थ डीएनए तथा आरएनए के संश्लेषण में उपापचय-तन्त्रों की भूमिका होती है। उपापचय तन्त्र के पहले विकसित होने की परिकल्पना में कहा गया है कि आरएनए विश्व के विकास से पूर्व न्यूक्लियोटाइडों, ओलिगोन्यूक्लियोटाइडों आदि का संश्लेषण संभव हुआ होगा। उष्णजल रन्ध्रों में जीवन की उत्पत्ति के समय समुद्र के तली में चट्टानों की सतह पर उपापचय चक्रों का विकास हुआ होगा। कार्बन डाईआक्साइड व जल के अणुओं के आकस्मिक संयोग से एसीटेट जैसा दो कार्बन परमाणुयुक्त बना होगा। इसके बाद खनिज लवणों व चट्टान सतह पर उपस्थित रन्ध्रों के उत्प्रेरकीय प्रभाव के कारण सरल कार्बनिक अणुओं के संश्लेषण के विभिन्न परिपथों का सूत्रपात हुआ होगा। प्रारम्भ में सरल अमीनों अम्ल व लिपिड अणुओं का संश्लेषण हुआ होगा व कालान्तर में सरल कार्बनिक यौगिकों के उत्प्रेरण प्रभाव से जटिल कार्बनिक अणु बनने लगे होंगे। इनमें कुछ सरल पेप्टाइड भी रहे होंगे। पेप्टाइडों के बनने से उत्प्रेरण की क्रिया और तेज हुई होगी जिसके परिणाम स्वरूप जटिल अमीनो अम्ल तथा न्यूक्लियोटाइड अणु अस्तित्व में आए होंगे। समहस्तता व आरएनए विश्व के विकास में इन उपापचय परिपथों की भूमिका रही होगी। जेम्स ट्रेफिल, हारोल्ड मारोविट्ज तथा इरिक स्मिथ ने अपने प्रयोगों के माध्यम से बताया कि अपचायक साइट्रिक अम्ल चक्र वर्तमान कोशिका में पाए जाने वाले सभी कार्बनिक अणुओं के संश्लेषण में समर्थ है। साइट्रिक अम्ल चक्र को अभी तक ऊर्जा उत्पादक परिपथ के रूप ही देखा जाता रहा है। कोशिका की संरचना में इसकी भूमिका को पहली बार स्वीकार किया गया है।

सूर्य से पुराना है पृथ्वी पर जीवन

प्रथम जीव पृथ्वी पर नहीं जन्मा अपितु सूक्ष्म बीजाणुओं के रूप में अन्तरिक्ष के किसी जीवधारी पिण्ड से आया है। यह परिकल्पना जीव विज्ञान के इतिहास में बहुत पुरानी है। लार्ड केल्विन, वोन होल्महोल्ट्ज आदि ने उन्नीसवी शताब्दी में इस बात को प्रतिपादित किया था। फ्रेड हॉयल, विक्रमसिंघे, जयन्त विष्णु नार्लीकर आदि ने बीसवीं शताब्दी में इसी बात को नए तथ्यों के साथ प्रस्तुत किया। फिर भी आद्यसूप-परिकल्पना के मुकाबले यह विचार अधिक वजन ग्रहण नहीं कर पाया। अब स्थितियाँ बदलने लगी हैं। अनुसंधान के नए उपकरणों के विकास के बाद अब ऐसे तथ्य जुटने लगे हैं जिनके आधार पर वैज्ञानिक अब मजबूती के साथ कह रहे हैं कि प्रथम जीव की उत्पत्ति पृथ्वी पर नहीं हुई थी। पृथ्वी पर पहला जीव बाहर से आया था।

पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति के पक्ष में अब तब जुटाए सभी तथ्यों को नकारते हुए इन वैज्ञानिकों का कहना है कि रसायनिक पदार्थों के आकस्मिक संयोग से पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति की बात करना ठीक वैसा ही है जैसा मंगल ग्रह पर कम्प्यूटर मिलने पर कोई यह दावा करे कि इस कम्प्यूटर का रेण्डम संयोजन मिथेन कुण्ड में हुआ है। विभिन्न वैज्ञानिक अनुसंधानों से अब तक जुटाए गये तथ्यों का गहन अध्ययन करने के बाद डॉक्टर रहाव्न जोसेफ ने प्रतिपादित किया है कि पृथ्वी पर पाया जाने वाला जीवन सूर्य तथा उसके सौरमण्डल से भी पुराना है। जोसेफ की बात सुनने में अविश्वसनीय लगती है मगर अपनी बात के पक्ष में उन्होंने जो तथ्य जुटाए हैं उन्हें झुठलाना मुश्किल है।

वैज्ञानिक अनुमानों के अनुसार पृथ्वी की उम्र 4 अरब 54 करोड़ वर्ष है। पृथ्वी की उत्पत्ति से लेकर 3 अरब 80 करोड़ वर्ष पूर्व तक के काल को वैज्ञानिक हैडीएन काल कहते हैं। यह पृथ्वी के जीवन का सर्वाधिक कठिन काल माना जाता है। इस काल में पृथ्वी पर निरन्तर उल्कापात होता रहा था। ज्वालामुखियों की सक्रियता के कारण तापक्रम इतना बढ़ गया था कि पृथ्वी पिघल गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि सतह पर उपस्थित भारी धातुओं ने पृथ्वी के केन्द्र की ओर खिसक कर केन्द्रीय सघन भाग का निर्माण किया। उस काल बनी चट्टानों से प्राप्त सूक्ष्म जीवाश्मों का अध्ययन करने से पता चलता है कि लगभग 4 अरब वर्ष पूर्व पृथ्वी पर प्रकाशसंश्लेषी जीवन उपस्थित था। यदि यह तथ्य सही है तो मात्र 58 करोड़ वर्ष में रसायनिक प्रक्रियाओं द्वारा पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति की बात को सही नहीं माना जा सकता। ऐसे में पृथ्वी के बाहर से जीव के आने का विकल्प ही रहता है।

वैज्ञानिकों का मानना है कि हेडीएन काल में जीवन सूक्ष्म बीजाणुओं के रूप में पृथ्वी पर बरसा होगा। मंगल पर भी लगभग उसी समय जीवन पहुँचा होगा। आज इस बात के पक्ष में प्रबल प्रमाण मिल रहे हैं कि सूक्ष्म बीजाणु किसी एक ग्रह के वायुमण्डल से निकलकर अन्तरिक्ष की लम्बी व कठिन यात्रा सफलता पूर्वक पूरी कर, किसी अन्य ग्रह पर उतर सकते हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि जीवन की उत्पत्ति एक बार नहीं होकर, कई बार कई स्थानों पर हुई तथा वहाँ से जीवन हर दिशा में फैलता गया।

डॉक्टर रहाव्न जोसेफ के अनुसार हमारे सूर्य व पृथ्वी की उत्पत्ति एक नष्ट हुए तारे के मलवे से हुई होगी। उस तारे के किसी ग्रह पर जीवन उपस्थित था। तारे के नष्ट होने की प्रक्रिया में जब उस तारे की गुरुत्वाकर्षण शक्ति कम हुई तो वह ग्रह उससे छिटककर अलग हो गया। किसी कारणवश उस ग्रह का विघटन अणु स्तर तक नहीं हुआ। अणु स्तर तक विघटित होने से बचे उस ग्रह के मलबे का उपयोग पृथ्वी के निर्माण में हुआ होगा। स्पष्ट है कि पृथ्वी की उत्पत्ति के साथ ही उस पर जीवन उपस्थित रहा होगा या पृथ्वी के बनने के कुछ करोड़ वर्ष में ही जीवन पृथ्वी पर आ गया होगा।

उल्काओं में जैवघटकों की तलाश

जीवन के घटक बाहर अन्तरिक्ष से आने की बात की पुष्टि करने के लिए वैज्ञानिक आजकल पृथ्वी पर गिरी उल्काओं को एकत्रित कर उनका आधुनिक तकनीकों से विश्लेषण कर रहे हैं। उल्काओं का उपयोग पूर्व में भी किया जाता रहा है मगर उनके पृथ्वी के पदार्थों से संक्रमित होने की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता था। वर्तमान अनुसंधान में ऐसे नाभिकीय क्षारक व उनसे मिलते-जुलते अन्य अणु मिले हैं जो पृथ्वी के रसायन नहीं हैं। इससे इस बात का सहज अनुमान किया जा सकता है अन्तरिक्ष में जीवन के घटक प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं। कार्बनधनी अन्य उल्काओं का अध्ययन करने पर कोशिका के उपापचय चक्रों जैसे साइट्रिक अम्ल आदि के घटक भी पाए गए हैं। इस अनुसंधान से इस बात का भी संकेत मिलता है कि साइट्रिक अम्ल चक्र जीवन उत्पत्ति के प्रारम्भिक इतिहास में भी उपस्थित थे।

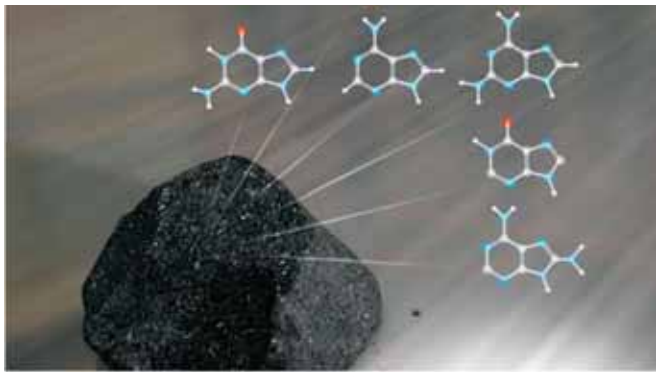

उल्कापिंड

ऑक्सीकारी था पृथ्वी का प्रारम्भिक वायुमण्डल ?

नए अनुसंधानों से प्रथम जीव की उत्पत्ति के इतिहास की खोज में एक रणनीतिक बदलाव आया है। न्यूयार्क के खगोलजैविकी (एस्ट्रोबायोलोजी) केन्द्र के वैज्ञानिकों ने प्राप्त प्राचीनतम खनिजों के आधार पर पृथ्वी के प्रारम्भिक वायुमण्डल का जो संघटनात्मक चित्र तैयार किया है वह प्रचलित धारणाओं से मेल नहीं खाता। अब तक यह माना जाता रहा है कि पृथ्वी के प्रारम्भिक वायुमण्डल में मीथेन, कार्बन मोनोआक्साइड, हाइड्रोजन सल्फाइड, अमोनिया जैसी जीवन विरोधी गैसों का प्रभुत्व था। ऑक्सीजन की कमी के कारण पृथ्वी का प्रारम्भिक वायुमण्डल घोर अपचायक था। जिर्कोन्स के अध्ययन से प्राप्त जानकारी के आधार पर वैज्ञानिकों का कहना है कि पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद मात्र 50 करोड़ वर्ष की अवधि में ही वर्तमान वायुमण्डल बन गया था। कुछ वैज्ञानिक इस सीमा तक तो आगे नहीं बढ़ते हैं मगर वे भी मानते हैं कि

वायुमण्डल में ऑक्सीजनयुक्त गैसों जैसे कार्बन डार्डआक्साइड, सल्फर डाईआक्साइड, जल वाष्प आदि का प्रभुत्व अवश्य था। यदि इस बात को स्वीकार किया जाता है तो जीव की प्रथम उत्पत्ति के विषय में अब तक दिए गए सिद्धान्तों को छोड़ना होगा क्योंकि वे अपचायक वायुमण्डल को ध्यान में रखकर दिए गए हैं।

पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति को लेकर विभिन्न प्रकार के विचार प्रकट किए जाते रहे हैं मगर अभी किसी एक के पक्ष में आम सहमति नहीं बन पाई है। अभी तक ''जितने मुँह उतनी बातें'' जैसी स्थिति बनी हुई है। कुछ वैज्ञानिक जीव की उत्पत्ति को विशुद्ध प्राकृतिक संयोग मानते हैं तो ऐसे वैज्ञानिकों की भी कमी नहीं है जो जीवन की उत्पत्ति में ईश्वरीय योगदान की सम्भावना को नकारने के लिए तैयार नहीं हैं। अनुसंधानों का दौर अभी जारी है। बहुत सम्भव है कि जल्दी ही हमें किसी नए सिद्धान्त के प्रतिपादन की सूचना मिले।

पृथ्वी जैसे दो हजार ग्रहों पर मिल सकता है जीवन

हमारी पृथ्वी के अतिरिक्त किसी और ग्रह पर जीवन मिलने का पक्का सबूत अभी तक नहीं मिला है। लेकिन खगोलीय अध्ययन के आँकड़ों से एक अमेरिकी वैज्ञानिक ने अनुमान लगाया है कि पृथ्वी से अपेक्षाकृत कम दूरी पर स्थित करीब दो हजार ग्रह जीवन के अनुकूल हो सकते हैं। वैसे वैज्ञानिकों का मानना है कि हमारी आकाशगंगा में लगभग 40 अरब ग्रह ऐसे हैं जिन पर जीवन पनपने की संभावना हो सकती है।

अमेरिकी वेब कॉमिक रैंडाल मुनरो ने एक इन्फोग्राफिक बनाकर जीवन के लिए अनुकूल संभावित ग्रहों का एक आंकलन पेश किया है। इसमें दिखाया गया है कि करीब दो हजार ऐसे ग्रह हैं जो रहने लायक हो सकते हैं। ये पृथ्वी से 60 प्रकाश वर्ष तक दूर हो सकते हैं। हमारी आकाशगंगा करीब एक लाख प्रकाश वर्ष चौड़ी है। विभिन्न पर्यवेक्षणों के मुताबिक आकाशगंगा में 1049 ग्रह ऐसे हैं जो अन्य तारों की परिक्रमा कर रहे हैं।

ब्लैक होल का वजूद नकारा ?

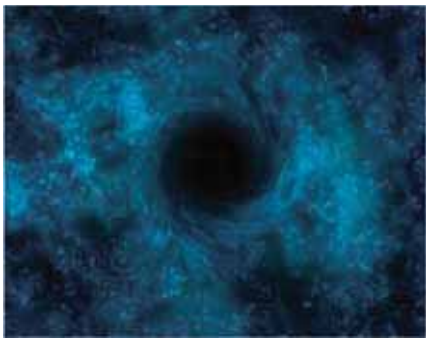

दुनिया के शीर्ष वैज्ञानिकों की श्रेणी में शुमार प्रोफेसर स्टीफन हॉकिंग ने ब्लैक होल के वजूद को नकार दिया है। हालाँकि उन्होंने कहा है कि अंतरिक्ष में 'ग्रे होल' हैं। उनकी इस नई अवधारणा ने भौतिकविदों को आश्चर्य में डाल दिया है। प्रोफेसर हॉकिंग पहले ब्लैक होल के वजूद को मानते थे। लेकिन अब उन्होंने ऑनलाइन प्रकाशित शोध पत्र 'ब्लैक होल के लिए सूचना संरक्षण और मौसम का पूर्वानुमान' में लिखा है कि जैसा उन्होंने पहले सोचा था उसके विपरीत दरअसल 'ग्रे होल' होते हैं। शोध पत्र में कहा गया है कि घटना क्षितिजों की अनुपस्थिति का मतलब है कि ब्लैक होल नहीं हैं। यहाँ घटना क्षितिज का तात्पर्य उस क्षेत्र से है जिसमें प्रवेश करने के बाद प्रकाश अनंत तक बाहर नहीं निकल सकता।

प्रकृति में छिपा है संवेदनशीलता का मर्म

आइवर यूशिएल*

सभ्यता की दौड़ में भौतिक साधनों को जुटाने की होड़ आज सम्पूर्ण मानव जाति को इस कदर उलझाये हुए है कि हम अपने आस-पास के वातावरण, अपने परिवेश से पहले की तरह ही घिरे होने के बावजूद उससे पूरी तरह निष्प्रभावित हैं। हमारे अंदर की संवेदनशीलता मरती जा रही है और हम भावनाओं की पूरी तौर पर उपेक्षा कर सिर्फ एक यंत्र की तरह जी रहे हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए और जीव जन्तुओं के संसार के दूसरे सदस्यों की चर्चा न भी की जाए तब भी हमें वनस्पति जगत तक में फैली संवेदनशीलता के आगे शर्मिंदा ही होना पड़ेगा।

सभ्यता के विकास के साथ हमारी सोच-समझ और ज्ञान का दायरा बढ़ा है पर कितना आश्चर्य है कि प्रकृति से दूरी बढ़ाकर हमने अनेक ऐसी चीजों की महत्ता को ही अस्वीकार दिया जिनके बिना जीवन ही संभव नहीं। खुली स्वच्छ हवा, खिली-खिली धूप और सोंधी महक देती मिट्टी से बढ़ता हमारा फासला यदि हमारे अज्ञान के कारण होता तो शायद सब्र आ जाता, परन्तु जानते-बूझते बरती जाने वाली इस उपेक्षा के बारे में क्या कहा जाए? खुली ताजी हवा की वनिस्पत एयरकंडीशनरों का लगाव बढ़ता जा रहा है, दिन के स्वाभाविक प्रकाश को छोड़ हम ट्यूबलाइटों की रोशनी को अधिक पसन्द करने लगे हैं और सभ्य कहलाने के नाम पर हमारी इस दिशा में चाहत इतनी ऊँची उठ गई है कि मिट्टी की बात तो दूर हमारा बस चले तो हम जमीन पर पाँव ही न रखें।

बड़े से बड़ा युद्ध लड़कर उसमें विजय हासिल किस तरह की जाए, हमेशा इसी तैयारी में लगे रहने वाले मानव के जीवन में संवेदनशीलता का वैसे भी भला काम ही क्या है? आधुनिक विचारधारा के अनुसार संवेदनशीलता का गुण तो भौतिक विकास में बाधक ही होता है तभी तो अपने इस गुण को सुरक्षित रखने वाला छोटे से छोटा पौधा भी नष्ट होने के पहले विकास के एक सीमित स्तर को ही छू पाता है और सदियों से यही क्रम चल रहा है। इस दिशा में विकास की कोई भी नई मंजिल उसने हासिल नहीं की पर अपने जन्मजात गुण और प्रकृति से निकटता को उसने किस खूबी से बनाए रखा है यह देखकर आश्चर्य होता है।

वनस्पति जगत के बारे में गहराई से अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पेड़-पौधे केवल स्पर्श से ही प्रभावित नहीं होते। प्रकाश, हवा, सदी-गर्मी, रात-दिन और पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण आदि का भी इनके ऊपर बहुत प्रभाव पड़ता है और यह गुण ट्रॉपिज्म या गतिशीलता कहलाता है। प्रायः ही यह देखा जाता है कि बरामदे आदि में रखे रहने वाले पौधे थोड़े समय बाद उस ओर मुड़ जाते हैं जिधर से प्रकाश आकर उन पर पड़ता है। पर ऐसा होता क्यों है – यह जरूर एक जिज्ञासा का विषय है। विशेषतौर पर यह जिज्ञासा उस समय और बढ़ जाती है जब हम इस तथ्य से अवगत होते हैं कि प्रकाश में पेड़-पौधों को अपनी ओर आकर्षित कर सकने वाला कोई गुण नहीं होता।

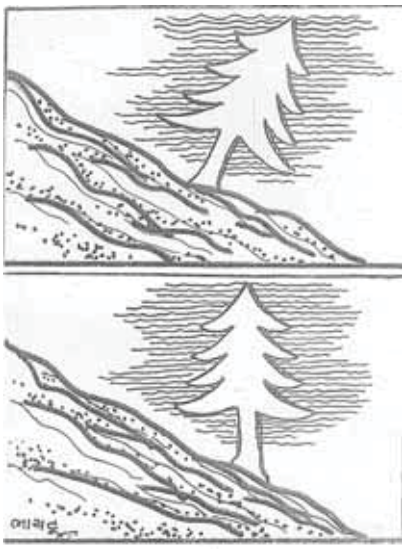

क-1 और क-2

पौधों के अंग-प्रत्यंग में ऑक्सिन नामक पदार्थ होता है जो इसकी कोशिकाओं को बढ़-बढ़ाकर पौधों के विकास में सहायक होता है। परन्तु प्रकृति का पौधों के साथ यह कैसा परिहास है कि पौधे की वृद्धि में सहायक यह ऑक्सिन पदार्थ प्रकाश में अपना मूल गुण खो निष्क्रिय हो जाता है। अतः होता क्या है कि पौधे के उस भाग में जिस पर प्रकाश सीधा पड़ रहा होता है, ऑक्सिन के प्रभावहीन हो जाने के कारण कोशिकाओं की वृद्धि का कार्य बहुत धीमा हो जाता है जबकि प्रकाश से अप्रभावित पौधे में दूसरी ओर विकास दर सामान्य गति से चलती रहती है। जाहिर है कि एक ही पौधे में कोशिकाओं के इस तरह असंतुलित विकास के कारण कुछ विकार तो दृष्टिगोचर होना ही चाहिए और वह पौधे के सीधा ऊपर बढ़ने के बजाय प्रकाश की ओर मुड़ जाने के रूप में देखा जा सकता है।

प्रत्येक पौधे के जन्म के शुरुआती दौर से ही मानों इसकी जड़ों और तने के बीच अपने-अपने रास्तों पर चलने का एक समझौता-सा रहता है और इसी समझौते के अन्तर्गत इसकी जड़ें हमेशा पृथ्वी में नीचे की ओर और तना सीधा लम्बवत् ऊपर की ओर बढ़ने को बाध्य नजर आता है। यही कारण है कि किसी पहाड़ी ढलान पर उगने वाले देवदार या चीड़ आदि के वृक्ष उस ढलान से 90° का कोण न बनाकर हमेशा क्षैतिज धरातल से ही इस कोण का रचना करते सीधे ऊपर बढ़ते जाते हैं। इतना ही नहीं एक गमले में सीधे ऊर्ध्वाधर बढ़ते किसी पौधे को यदि गमले समेत आड़ा लिटा दिया जाए तो कुछ दिनों बाद पौधे का तना मुड़कर धरातल से 90° का कोण बनाता हुआ फिर से सीधा ऊपर उठने लगता है।

*लोकप्रिय बालविज्ञान लेखक, ज्ञाशिम, सी–203, कृष्णा काउण्टी, रामपुर-नैनीताल मिनी बाईपास, बरेली–243 122.

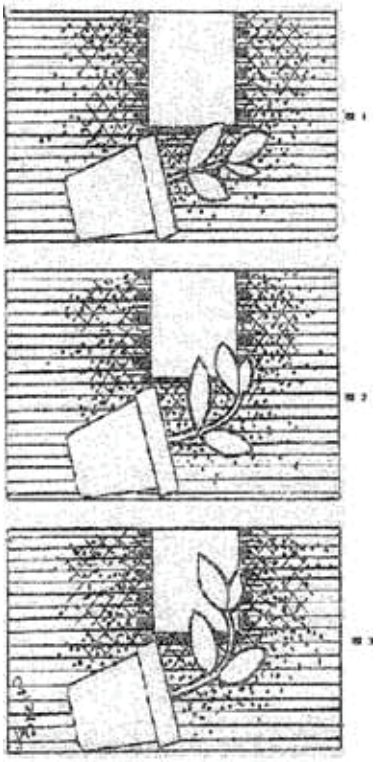

ख-1, ख-2 और ख-3

इस तथ्य के पीछे जो वैज्ञानिक आधार है वह यह है कि तने की कोशिकाओं में भरे जीवन रस में स्टेटोलिथ्स नामक स्टार्चयुक्त कण मौजूद रहते हैं जो गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से तने की निचली सतह में उतर आते हैं। इससे तने के इस भाग की कोशिकाओं की वृद्धि की दर विशेषरूप से बढ़ जाती है। नतीजे के तौर पर तने की निचली सतह ऊपर की तुलना में तेजी से बढ़ कर तने को ऊपर की ओर मोड़ देती है।

बेल-लताएँ किसी ने न देखी हों ऐसा तो हो ही नहीं सकता। खुशबूदार व खूबसूरत फूलों की हों या सेम व तोरई जैस सब्जियों की पर हर कोई इनसे किसी न किसी रूप में परिचित तो है ही। अपने सहारे के साथ चिपक-लिपट कर बढ़ते जाने के मामले में इनका कोई सानी नहीं है। अंगुली पकड़ते ही बाँह पकड़ने वाली कहावत को सही मायने में चरितार्थ करती इन बेलों के लिए उन्हें खम्भे या पेड़ के तने जैसे किसी भी सहारे को बस स्पर्श करने की जरूरत है, बाकी तो इस स्पर्श की प्रतिक्रिया मात्र से जिसे हेप्टोट्रॉपिज्म कहते हैं, ये अपने आप लिपटने-बढ़ने का काम कर लेती हैं। वास्तव में बाहरी स्पर्श की अनुभूति के साथ ही इनके रेशे उत्तेजित हो अपने सहारे को अपनी गिरफ्त में लेना शुरू कर देते हैं। सबसे मजेदार बात तो यह कि इनकी यह वृत्ताकार गति हमेशा घड़ी की सूइयों के घुमाव की दिशा में ही होती है। यह क्रिया भी कोशिकाओं के अंदर भरे संवेदनशील जीवन रस के कारण ही संभव हो पाती है।

स्पर्श से प्रभावित हुई संवेदनशीलता के परिणामस्वरूप कीट भक्षी पौधों में भी एक ऐसी रोचक प्रक्रिया देखने को मिलता है जिसके अन्तर्गत बेचारे नन्हें कीट-पतंगे इनके आकर्षक फूलों पर बैठे नहीं कि यह स्पर्श उनके जान का दुश्मन बन जाता है। इन पौधों द्वारा किया जाने वाला शिकार इतनी फुर्ती और चमत्कारिक ढंग से होता है कि इसमें सारा खेल सेकेण्ड के भी शतांश में ही निबट जाता है। सनड्यू और वीनस फ्लाई ट्रैप नामक पुष्पों की संवेदनशीलता ने तो इन्हें माँसाहारी पौधों की श्रेणी का एक विशिष्ट सदस्य बना दिया है। सनड्यू तो इतना ज्यादा संवेदनशील होता है कि स्पर्श तो दूर, वर्षा की सिर्फ एक बूँद या हवा का सिर्फ एक झोंका ही उसके ऊपर अपना असर दिखाने के लिए काफी है। अपने विकसित मस्तिष्क के कमाल से गौरवान्वित होते मानव के पास इस बात का कोई जवाब नहीं कि बिना मस्तिष्क वाले इस फूल को बार-बार बेवकूफ क्यों नहीं बनाया जा सकता? रजकण जैसी कोई भी चीज इसके ऊपर रखकर इसे एक या दो बार ही धोखा दिया जा सकता है। बार-बार यही क्रिया दोहराकर उन्हीं परिणामों की प्राप्ति का प्रयास निराशा ही देगी। बिना आँख, बिना मस्तिष्क वाले अनुभवों पर आधारित होने वाली ये प्रतिक्रियाएँ संवेदनशीलता की चरम परिणति नहीं तो और क्या मानी जायेंगी?

कीटभक्षी पौधे

इतना ही नहीं, कुछ पौधे तो ऐसे हैं जो विपरीत परिस्थितियों में भी अपनी प्रवृत्ति को नहीं छोड़ते। प्रयोग के लिए यदि ऐसे पौधों पर रात के समय दिन जैसा तेज प्रकाश डाला जाए या फिर भरी दोपहरी में उन्हें अंधेरी कोठरी में रखकर प्रकाश से पूरी तरह वंचित कर दिया जाए, तब भी चाहे कुछ दिनों तक ही सही, पर वे अपने पूर्व-स्वभाव को भूल नहीं पाते हैं। ऐसे में पहले की तरह ही ये पौधे रात में सोने और दिन में जागने की प्रवृत्ति पर ही कायम रहते हैं। हाँ, प्रयोग की लम्बी अवधि उन्हें अपने को इस नये वातावरण के अनुसार अपनी दिनचर्या में बदलाव के लिए बाध्य कर देती है यह बात और है।

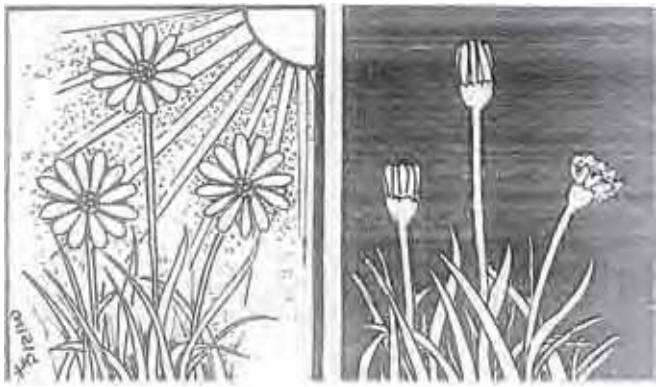

ग-1 व ग-2

सूरजमुखी का दिनभर सूर्य की ओर मुँह किये उसी के साथ मुड़ते जाना और कमलिनी का सूर्य के उदय के साथ खिलना और इसके अस्त होने के साथ अपनी पंखुड़ियों को समेट लेने का सूरज की आराधना और प्रेम से कहीं कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो कवियों की कल्पना मात्र है। इसी प्रकार

सूर्य की तरफ झुका सुरजमुखी का पौधा

कमल के पौधे

ISSN 2231-2455

छुई मुई (लाजवन्ती) के पौधे

हर ऋतु के साथ अपनी रंगत बदलने वाला धूप-छाँव का पौधा हो या स्पर्श की बात तो दूर, सिर्फ छाया पड़ जाने भर से कुछ समय के लिए मुरझा जाने वाला लाजवंती का पौधा – इन सबके ही साथ कहानी किस्से चाहे कोई से भी जुड़े हों पर वास्तविकता की जड़ में तो समाई है सिर्फ इनकी संवेदनशील प्रकृति जिसके कारण ही इनमें जीवन है, जागृति है, ताजगी है और है एक विशेष आकर्षण।

पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने पर लगता है कि मानव शरीर में भी कोई ऐसा तत्व जरूर समाहित रहता होगा जिसकी निष्क्रियता के कारण ही आज हम अपनी संवेदनशीलता की विशेषता खोते जा रहे हैं और अगर वास्तव में ऐसा है तो कौन जाने विज्ञान कृत्रिम रूप से तैयार किये गये इस तरह के किसी तत्व को शरीर में प्रविष्ट कराकर हमें संवेदनशीलता का हमारा पुराना गुण कब वापस दिला पायेगा ?

विनाश के कगार पर खड़े मानव के लिए आज के परिवेश में यह बात और भी जरूरी हो गई है कि वो संवेदनशीलता के महत्व को स्वीकार कर अपने अंदर इस गुण का विकास करे। शायद तभी 'जिओ और जीने दो' के सिद्धान्त पर सच्ची तरह अमल कर हम वसुधैव कुटुम्बकम का अपना सपना साकार का पाएँगे। वरना, संवेदनशीलता से रहित मानव का सिर्फ वैज्ञानिक स्तर पर हासिल उपलब्धियों के साथ इक्कीसवीं सदी में इस तरह कदम बढ़ाते जाना, आगे आने वाले समय में संपूर्ण सृष्टि के लिए यदि अभिशाप सिद्ध हो जाए तो इसमें शायद बहुत आश्चर्य की कोई बात नहीं होगी।

संलग्न चित्रों का विवरण

क-1 व क-2

कोई भी वृक्ष ढलान वाली सतह से 90° का कोण न बनाकर हमेशा क्षैतिज धरातल से ही 90° का कोण बनाता हुआ सीधा ऊपर बढ़ता है।

ख-1, ख-2 व ख-3

पौधे समेत गमले को आड़ा लिटा देने पर गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव में पौधा मुड़कर सीधा ऊपर की ओर ही बढ़ेगा। यही स्थिति छाया में रखे पौधे की होगी और वह प्रकाश की ओर मुड़ जाएगा।

ग-1 व ग-2

दिन में जाग्रत और रात में निद्राधीन पुष्प।

फफूँद से बनेगी कार भी

फफूँद के अनेक उपयोग हैं। इसका उपयोग पावरोटी से लेकर बीयर बनाने तक में किया जाता है। लेकिन आने वाले दिनों में सजीव जगत के बेहद मामूली से लगने वाले इस सदस्य के जरिए बेहतर दवाएँ, भवन निर्माण सामग्री, ईंधन और यहाँ तक कि कार भी बनाई जा सकेगी। अनेक वैज्ञानिकों का मानना है कि फफूँद सुरक्षित कीटनाशकों, चिकित्सकीय प्रत्यारोपणों या हरित ईंधन के निर्माण में मुख्य भूमिका निभा सकता है। जबकि वैज्ञानिकों के एक समूह के मुताबिक हम 'फफूँद युग' प्रवेश कर सकते हैं और यह पर्यावरण संकट से जूझ रही दुनिया को बचाने में मददगार साबित हो सकता है। अमेरिका में बोजेमान स्थित मोंटाना यूनिवर्सिटी के वैज्ञानिक ग्रे स्ट्रोबे ने फफूँद की एक खास प्रजाति से एक जैव ईंधन विकसित किया है। इस खास प्रजाति का वैज्ञानिक नाम *एस्कोराइन सारकोइड्स* है, जबकि आम बोलचाल में इसे 'जेली ड्रॉप' मशरूम कहते हैं। उन्होंने जैव ईंधन को अपनी मोटर बाइक में परीक्षण करके देखा। खमीरयुक्त फसल से ईंधन तैयार करने के विपरीत ग्रे द्वारा मशरूम से तैयार किया गया ईंधन कृषिजनित अवशिष्ट से तैयार किया जा सकता है।

इवोकेटिव कंपनी के सीइओ इबेन बोवेर का मानना है कि फफूँद से कार भी बनाई जा सकती है। कवक-जाल लचीला होता है। वास्तव में यह पॉलीमर या एक तरह का प्लास्टिक है, जिसको जैव तरीके से विघटित किया जा सकता है। इसको विभिन्न घनत्वों में विकसित किया जा सकता है।

नौ बिलियन बनाम 2°C : वर्तमान व भविष्य की चुनौतियाँ

डॉ0 दिव्या पाण्डेय* एवं प्रो0 शशि भूषण अग्रवाल**

बढ़ती हुई जनसंख्या एवं उपभोग प्राकृतिक संसाधनों व पर्यावरण पर निरंतर दबाव बनाए हुए है। एक ओर जहाँ वर्ष 2050 तक मानव जनसंख्या 9 बिलियन पार कर जाएँगी (चित्र 1) वहीं दूसरी ओर उनके भरण की व्यवस्था के लिए कृषि क्षेत्र का फैलाव भी बढ़ेगा। कृषि चूँकि ग्रीनहाउस गैसों के विनियमन में सबसे शक्तिशाली मानवजनित कारक है, इसके फैलाव से ग्रीनहाऊस गैसों के उत्सर्जन में वृद्धि की संभावनाएँ भी अधिक हैं। इसका एक पहलू यह भी है कि तापमान वृद्धि एवं जलवायु परिवर्तन के कारण कृषि क्षेत्र की उत्पादकता घट रही है। यह एक धनात्मक फीडबैक की तरह है जहाँ एक समस्या में वृद्धि दूसरे को स्वतः ही बढ़ाती जाती है। ग्रीनहाऊस गैसों पर नियंत्रण में असफल होने के कारण,

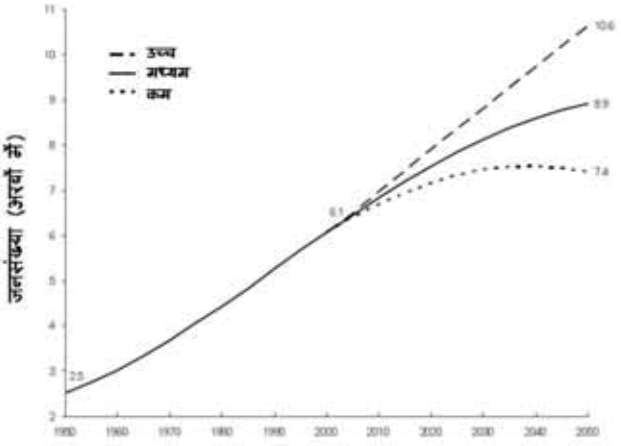

चित्र 1: विश्व की जनसंख्या (1950-2000) और अनुमानित (2000-2050) संयुक्त राष्ट्र, 2004 से लिया गया

वायुमंण्डलीय तापमान में सामान्य से 0.75°C की वृद्धि पहले ही दर्ज की जा चुकी है। वैज्ञानिक साक्ष्यों के अनुसार यदि यह वृद्धि 2°C से अधिक होती है तो मानव जाति समेत समूची ग्रहीय प्रणाली को विनाशकारी परिणाम देखने होंगे। बाढ़, सूखा एवं चक्रवाती तूफानों द्वारा होने वाली तबाही में इजाफा इसके संकेत हैं।

इन सबके बीच, विश्व का हर सातवाँ व्यक्ति कुपोषित अथवा पर्याप्त भोजन की कमी झेल रहा है। इस प्रकार संपोषित विकास की अवधारणा के मूल क्रियान्वयन के सम्मुख यह एक प्रमुख चुनौती है कि क्या हम पर्यावरण को सुरक्षित रखते हुए खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित कर पाएँगें।

प्रस्तुत लेख में इस समस्या के विभिन्न पहलुओं का पुनरावलोकन करते हुए उपलब्ध विकल्पों के निरीक्षण की कोशिश की गई है।

1. कृषि की वर्तमान स्थिति

पृथ्वी की बर्फरहित भूमि का 12 प्रतिशत हिस्सा कृषि के अंतर्गत है, जो लगभग 1.53 बिलियन हेक्टेयर के बराबर है (FAO, 2007), कृषि क्षेत्र का फैलाव लगातार जारी है। मुख्यतौर पर उष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में यह फैलाव वनों की कटाई का मुख्य कारण है। हालाँकि वैज्ञानिक पद्धतियों एवं नई तकनीकों के फलस्वरूप पिछले कुछ दशकों में कृषि क्षेत्र का उत्पादन भी बढ़ा है। सन् 1985-2005 के बीच कृषि उत्पादन 47 प्रतिशत तक बढ़ गया जबकि कृषि भूमि का फैलाव मात्र 7.1 ही था (FAO, 2005)। अतः इस प्रकार, कृषि क्षेत्र की उत्पादन क्षमता, थॉमस माल्थस के आंकलन के विरुद्ध, बढ़ी हुई जनसंख्या का भरण करने में अभी तक सक्षम है। हालाँकि वैज्ञानिक शोध यह भी दर्शाते हैं कि उत्पादकता में बढ़ोत्तरी की दर अब घटने लगी है। फसलों के अलावा पशुपालन कृषि क्षेत्र के एक बड़े हिस्से का उपयोग करता है। चूँकि पशुपालन किसानों की आय को बेहतर बनाता है, कुछ क्षेत्रों में किसान फसलों की बजाय चारे की उपज पर अधिक ध्यान देते हैं। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से कृषि योग्य भूमि का प्रयोग चारा उगाने के लिये करना निराशाजनक है (फोले व अन्य, 2012)।

2. कृषि एवं पर्यावरण

पर्यावरण एवं कृषि निरंतर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जैव विविधता, कार्बन भण्डारण, मृदा एवं जल संरक्षण पर कृषि गतिविधियों का सीधा प्रभाव पड़ता है। विश्व के 70 प्रतिशत घास के मैदान 45 प्रतिशत शीतोष्ण पर्णपाती वन एवं 27 प्रतिशत उष्ण कटिबंधीय वन खेतों में परिवर्तित हो चुके हैं (रामाकृट्टी व अन्य, 2008)।

इस प्रकार के भूमि प्रयोग में परिवर्तन के कारण ग्रीनहाऊस गैसों के उत्सर्जन में अप्रत्याशित वृद्धि दर्ज की गई है। कृषि के लिए वनों का कटाव, प्रत्येक वर्ष लगभग 1.1×10^{12} kg कार्बन उत्सर्जन का कारण है।

*शोध छात्रा; **आचार्य, वनस्पति विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221 005.

ISSN 2231-2455

पारिस्थितिक सेवाओं का आंकलन किया जाए तो हम पाएँगे कि वैश्विक स्तर पर उपलब्ध मीठे जल का प्रयोग सिंचाई के लिए होता है। साथ ही उर्वरक एवं दलहनों की खेती ने प्राकृतिक नाइट्रोजन एवं फॉस्फोरस चक्रों को प्रभावित किया है। इन सबके अलावा, मृदा का क्षरण विश्व के अनेक हिस्सों में एक चुनौती के रूप में उभर रहा है। इस कारण मृदा की उत्पादन क्षमता घट रही है जिसके कारण, कृषि भूमि में विस्तार के बावजूद उत्पादन प्रत्याशित दर से नहीं बढ़ रहा है।

पर्यावरणीय घटक भी खेती को सीधे तौर पर प्रभावित करते हैं। जलवायु परिवर्तन के कारण चावल, गेहूँ एवं मक्का जैसे मुख्य अनाजों के उत्पादन में कमी दर्ज की गई है। बढ़ा हुआ तापमान, वर्षा में अनियमितता एवं तूफानों में बढ़ोतरी के कारण उपजाऊँ मृदा का तेजी से ह्रास हो रहा है। वायु प्रदूषण जैसे ओजोन भी कृषि की उत्पादकता के समक्ष एक बड़ी चुनौती प्रस्तुत कर रहा है।

3. समाधान एवं विकल्प

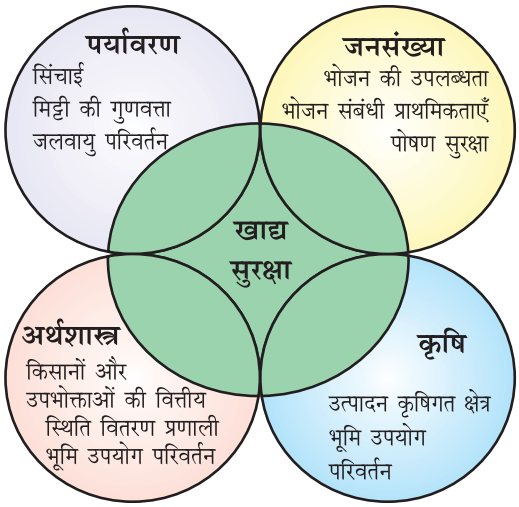

चित्र 2 : खाद्य सुरक्षा के विभिन्न घटक

सतत् खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने हेतु विभिन्न घटकों (चित्र 2) के सामावेश के साथ-साथ निम्न बिंदुओं को ध्यान में रखते हुए कृषि क्षेत्र में क्रांति की आवश्यकता है।

(क) कृषि का उत्पादन 2050 तक दुगना करना।
(ख) कृषि क्षेत्र से ग्रीन हाऊस गैसों के उत्सर्जन को 80 प्रतिशत तक कम करना।
(ग) जैव विविधता का संरक्षण।
(घ) सिंचाई के लिए समुचित जल प्रबंधन।
(ड) कृषि के कारण होने वाले जल प्रदूषण को पूर्णतया रोकना।

उपरोक्त पाँच चुनौतियों को एक साथ पूरा करना प्रथम दृष्टया दुष्कर लगता है, परन्तु वैज्ञानिक शोध कुछ विकल्प जरूर पेश करते हैं।

कृषि क्षेत्र के फैलाव को रोकना

चूँकि उष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में वनों को परिवर्तित कर हो रही कृषि की उत्पादन क्षमता अधिक नहीं है, अतः उष्ण कटिबंधीय वनों को बचाते हुए, शीतोष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में कृषि भूमि के फैलाव को कुछ वैज्ञानिक शोध कार्यों में उचित माना गया है (फोले व अन्य, 2012)। कार्बन भण्डारण एवं वनों के संरक्षण की एवज में किसानों को धन देने के भी सुझाव बेहतर माने गए हैं। बढ़ती हुई ऊर्जा माँग की पूर्ति के लिये कृषि योग्य भूमि का एक हिस्सा ऊर्जा फसलों के लिये प्रयोग किया जा रहा है। यह अपेक्षित है कि यह भूमि खाद्य फसलों की खेती के प्रयोग में लाई जाएँ।

उत्पादकता में वृद्धि

विश्व की अधिकतर कृषि क्षेत्र उसके उच्चतम उत्पादक क्षमता से बहुत नीचे पाये गये हैं। उपजाऊ भूमि की उत्पादकता बढ़ाने के लिए फसलों में आनुवांशिक बदलाव कर अपेक्षित गुणों को विकसित किया जा सकता है। ऐसे बदलाव उत्पादन क्षमता में शीघ्र वृद्धि करने में सक्षम हैं। कम उपजाऊ मृदा में बेहतर उर्वरकों, उचित कृषि तकनीकों एवं मृदा संरक्षण के तरीकों को अपनाकर बिना कृषि क्षेत्र के फैलाव किये उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार कृषि उत्पादन में 58 प्रतिशत तक की वृद्धि लाई जा सकती है।

संसाधनों का कुशल प्रयोग

पर्यावरणीय कुप्रभावों को कम करने के लिये उपलब्ध संसाधनों का दक्ष प्रयोग वांछनीय है ताकि प्रति इकाई उत्पादन पर जल, ऊर्जा, भूमि एवं उर्वरकों की खपत को घटाया जा सके। आवश्यकता से अधिक सिंचाई, जोताई एवं उर्वरकों के प्रयोग से न केवल मृदा पर दुष्प्रभाव पड़ते हैं, अपितु आर्थिक रूप से भी यह लाभकारी सिद्ध नहीं होता।

खाद्य पदार्थों की सुरक्षा एवं उपलब्धता

खाद्य एवं कृषि संघ (FAO) ने यह पाया है कि विश्वभर का लगभग एक तिहाई भोजन केवल उचित भण्डारण एवं आबंटन की कमी के कारण पूर्णतया नष्ट हो जाता है। आज विश्व की लगभग 14 प्रतिशत जनसंख्या कुपोषित है। खाद्य वस्तुओं की कीमत, बाजार पर नियंत्रण एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक नीतियों के चलते भोजन की उपलब्धता के बावजूद उसका न्यायोचित आबंटन एक चुनौती है। इनके अलावा, वैज्ञानिक शोध यह दिखाते हैं कि शाकाहार को प्रसारित कर विश्व के बढ़े हिस्से के लिये भोजन की उपलब्धता बढ़ाई जा सकती है।

उपसंहार

ग्लोबल वार्मिंग एवं खाद्य सुरक्षा परस्पर एक दूसरे से संबंधित हैं। अतः एक चुनौती के समाधान हेतु दूसरे का समुचित प्रबंधन वांछनीय है। यह आवश्यक है कि कृषि के विभिन्न तरीकों का पुनरावलोकन कर सर्वाधिक उत्पादक एवं पर्यावरण को कम से कम क्षति पहुँचाने वाली तकनीकों का प्रयोग किया जाए। साथ ही कृषि के फैलाव को रोकने के लिए किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार एवं अंतर्राष्ट्रीय नीतियों में आशावादी बदलाव वांछनीय है। इसके लिए विश्वस्तर पर कृषि एवं पर्यावरण शोध से संबंधित तंत्र की आवश्यकता है। तभी हम आने वाले समय में 9 बिलियन से अधिक की जनसंख्या को भोजन उपलब्ध कराने के साथ-साथ पर्यावरणीय ह्रास द्वारा उत्पन्न संकटों से भी बचा पाएँगे।

सन्दर्भ

(1) फोले व अन्य (2012) नेचर 10452, 1-6।
(2) रामाकुट्टी व अन्य (2008) बायोजियोकेमिकल साइकिल्स 22, GB1003।

नींद का विज्ञान

डॉ0 सुभाष लखेड़ा*

हम अपनी जिंदगी का एक तिहाई हिस्सा नींद में बिताते हैं। थॉमस एडिसन का कहना था कि सोना समय की बरबादी है। नेपोलियन, फ्लोरेंस नाइटिंगेल और मार्गरिट थैचर प्रतिदिन सिर्फ 4 घंटे सोते थे। हमारे भूतपूर्व प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू के बारे में भी यही कहा जाता है। आखिर, हमें नींद क्यों आती है अथवा हम क्यों सोते हैं? यह सवाल वैज्ञानिकों को हजारों वर्षों से परेशान करता रहा है और ताज्जुब की बात है कि आज भी नींद से जुड़ी कई बातें वैज्ञानिकों के लिए अबूझ पहेलियाँ बनी हुई हैं। मजेदार बात यह भी है कि विभिन्न प्राणियों में नींद की समयावधि भी भिन्न-भिन्न है। अपने आलसीपन के लिए मशहूर चमगादड़ और अजगर प्रतिदिन क्रमश बीस और अठराह घंटे सोते हैं तो बाघ, बिल्ली, चिंपांजी, भेड़, हाथी और जिराफ प्रतिदिन औसतन क्रमश 15.8, 12.1, 9.7, 3.8, 3.3 एवं 1.9 घंटे नींद में बिताते हैं।

नींद के दौरान हमारे शरीर में अनेक परिवर्तन होते हैं। हमारा धमनीय रक्तदाब कम हो जाता है। नाड़ी की धड़कने की दर कम हो जाती है। त्वचा की रक्त-वाहिकाएँ विस्तारित हो जाती हैं। आमाशय पथ की क्रियाशीलता बढ़ जाती है। मासपेशियाँ पूर्णतया विश्रामावस्था में रहती हैं और चयापचय (मेटाबोलिज्म) की दर में दस से बीस प्रतिशत की गिरावट आ जाती है। नींद के अभाव में प्रारंभ में तंत्रिका तंत्र के अतिसूक्ष्म कार्य प्रभावित होते हैं। फलस्वरूप भावदशा, अभिप्रेरणा और ध्यान पर बुरा प्रभाव पड़ता है। लम्बे समय तक नींद से वंचित रखे जाने पर व्यक्तिविशेष की प्रमस्तिष्कीय एवं स्वचालित, दोनों तरह की क्रियाएँ प्रभावित होती हैं। प्रकंपन, उच्चारण दोष, अक्षि दोलन के साथ-साथ पलकें भी असामान्य रूप से बंद होने लगती हैं।

बहरहाल, हमें नींद क्यों आती है अथवा कब आती है? इन प्रश्नों पर विद्वानों ने कई सौ वर्ष ईसा पूर्व से विचार करना शुरू कर दिया था। प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू का मानना था कि आमाशय से ऊपर उठती हुई ''गरम वाष्प'' प्राणियों में नींद पैदा करती है। कुल मिलाकर, उन्नीसवीं सदी के मध्य तक 'नींद' वैज्ञानिकों के लिए एक ऐसा रहस्यमय विषय बना रहा जिसके बारे में वे अपने सारे प्रयत्नों के बावजूद कुछ अधिक न जान सके। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जहाँ एक ओर कुछ विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया कि किसी प्राणी के मस्तिष्क में जब खून की मात्रा बढ़ने लगती है तो उसे नींद आती है, वहीं दूसरी ओर कुछ विद्वानों का विचार था कि मस्तिष्क में खून की कमी यानी प्रमस्तिष्कीय अरक्तता (सेरेब्रल एनीमिया) नींद पैदा करती है। इन विद्वानों का तर्क था कि नींद की प्रक्रिया के प्रारंभ में मस्तिष्क को पहुँचने वाले खून की सामान्य मात्रा में कमी होने लगती है। शरीर में रक्त का पुनर्वितरण होता है और मस्तिष्क को सामान्यावस्था में पहुँचने वाले रक्त की मात्र का कुछ भाग शरीर के दूसरे भागों, विशेषकर आहारनाल में पहुँचने लगता है। फलस्वरूप, जहाँ एक ओर उस समय के कुछ चिकित्सक अच्छी नींद लेने के लिए सिर के नीचे कोई तकिया न रखने की सलाह देते थे, वहीं 'अरक्तता' के विचार को मानने वाले चिकित्सक खूब मोटे तकियों पर सिर रखकर सोने की सलाह देते रहे।

इन शरीर क्रिया संबंधी विचारों के साथ-साथ उन्हीं दिनों कुछ विद्वानों ने यह विचार प्रकट किया कि उद्दीपन के अभाव में प्राणी को नींद आती है। उनका कहना था कि यदि जीव को निरंतर सक्रियकृत करते रहें तो वह जागता रहेगा। इन विद्वानों का यह विचार अधिक समर्थन न प्राप्त कर सका क्योंकि इस तथ्य से हम सभी परिचित हैं कि हम भारी शोर-शराबे के बीच में भी सो सकते हैं और कभी-कभी रात्रि में व्याप्त पूर्ण सन्नाटे के बावजूद हमारी पलकों से नींद उड़ी रहती है।

बीसवीं सदी के प्रारंभ में एक स्विस शरीर क्रिया विज्ञानी ने बताया कि नींद उद्दीपन की कमी के कारण होने वाली निष्क्रिय क्रिया नहीं है अपितु प्राणियों की अन्य दूसरी मूल प्रवृतियों की भाँति एक सक्रिय क्रिया है। इसका उद्देश्य हमारे शरीर को चयापचय के कारण पैदा हुए वर्ज्य पदार्थों से नशीला एवं परिक्लांत होने से बचाना है। एडुअर्ड क्लापारेडे नामक इस वैज्ञानिक के पास इस प्रश्न का उत्तर भी था कि कोई प्राणी कितनी देर सोता है। उनके अनुसार कोई भी प्राणी यथेष्ट मात्रा में नींद लेने के बाद जाग उठता है।

इतना ही नहीं, बीसवीं सदी के प्रारंभ में कुछ वैज्ञानिक उन निद्रा पदार्थों की खोज भी करते रहे जो जागरण के दौरान मस्तिष्क में एकत्रित होते रहते हैं और एक क्रांतिक स्तर पर पहुँचकर प्राणी को सोने के लिए विवश करते हैं। उस समय तक लगाये गए अनुमानों के अनुसार इन निद्रा पदार्थों में लैक्टिक अम्ल, कार्बन डाइऑक्साइड, कोलेस्टेरॉल, ल्यूकोमेन समूह के रसायन, चयापचय के दौरान पैदा होने वाले टॉक्सिक ऐमाइन एवं यूरोटॉक्सिन प्रमुख थे। प्रेयर नामक वैज्ञानिक ने विचार प्रकट किया कि जागते रहने के दौरान किए जाने वाले दैहिक एवं मानसिक कार्यों के कारण शरीर में लैक्टिक अम्ल बनता है। लैक्टिक अम्ल का यह जमाव एक स्तर विशेष पर पहुँचकर प्रमस्तिष्क प्रभाग में श्वासावरोध (ऑक्सीजन की कमी एवं कार्बन डाईऑक्साइड की वृद्धि) की स्थिति उत्पन्न करता है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति विशेष को नींद आने लगती है।

बहरहाल, प्रेयर की इस अवधारणा से उनके समकालीन वैज्ञानिक डुबाइस ने असहमति जताई। उनका विचार था कि शारीरिक क्रियाओं के कारण शरीर के भीतर कार्बन डाइऑक्साइड गैस का संचय होता रहता है। यह गैस एक स्तर विशेष पर पहुँचकर तंत्रिका तंत्र की ऑक्सीकरण क्रियाओं

*180, सिद्धार्थ कुंज, सेक्टर – 7, प्लाट नंबर – 17, द्वारका, नई दिल्ली – 110 075.

उम्र की स्थिति	प्रतिदिन औसत नींद
नवजात	18 घंटे तक
1-12 महीने	14-18 घंटे
1-3 वर्ष	12-15 घंटे
3-5 वर्ष	11-13 घंटे
5-12 वर्ष	9-11 घंटे
किशोरवय	9-10 घंटे
बुजुर्ग समेत वयस्क	7-8 (+) घंटे
गर्भवती महिलाएँ	8 (+) घंटे

पर निरोधी प्रभाव डालती है। फलस्वरूप, प्राणी का तंत्रिका तंत्र शिथिल होने लगता है और उसे नींद महसूस होने लगती है। खैर, डुबाइस की यह परिकल्पना अधिक दिन न टिक पाई। वर्ष 1907 में फ्रांस के दो वैज्ञानिकों, रैने लीजेंड्री एवं हेनरी पेरों ने देखा कि कई दिनों तक लगातार जगाये रखने के बावजूद कुत्तों के खून में कार्बन डाईऑक्साइड गैस की मात्रा में कोई वृद्धि नहीं हुई। उन्होंने प्राकृतिक निद्रा पदार्थों को प्राप्त करने के लिए कई प्रयोग किए। उन्होंने 6 से लेकर 15 दिन की अवधि तक जबरदस्ती जगाए गए कुत्तों के प्रमस्तिष्कीय मेरु द्रव से एक ऐसा पदार्थ पृथक करने का दावा किया जो प्राणियों में नीद पैदा करता हैं उन्होंने इस पदार्थ को ''हिप्नोटॉक्सिन'' नाम दिया।

उपरोक्त खोज उन वैज्ञानिकों के लिए अत्यंत उत्साहवर्द्धक साबित हुई जो निद्रा पदार्थों की अवधारणा में विश्वास रखते थे। फलस्वरूप, अगले कई वर्षों तक वैज्ञानिक इन पदार्थों की खोज में जुटे रहे। वर्ष 1911 में इरेरा नामक वैज्ञानिक ने एक नया विचार प्रकट किया। उनका कहना था कि संभवतया ''ल्यूकोमेन'' समूह के नशीले पदार्थों का तंत्रिका ऊत्तकों पर पड़ने वाला ''अवनमनी प्रभाव'' नींद पैदा करता है। वर्ष 1923 में वैज्ञानिक काबिटो ने थकाने वाले ''नशीले रसायनों'' के होने की बात कही। उनसे ठीक 10 वर्ष बाद 1933 में बैनक्राफ्ट तथा रुटलर ने एक बिल्कुल नया विचार प्रकट किया। उनका कहना था कि नींद चेतना के केन्द्रों में कुछ प्रोटीनों के प्रतिवर्ती संश्लेषण के कारण आती है। उन्होंने बताया कि इन प्रोटीनों का ''एक्स'' समूह नींद पैदा करता है और ''वाई'' समूह मनुष्य को नींद से जगाता है। इन्हीं वर्षों के दौरान कई जर्मन वैज्ञानिकों ने ब्रोमहॉरमोन जैसे रसायनों को नींद से जोड़ने का प्रयत्न किया, किन्तु अपनी सारी कोशिशों के बावजूद ये सभी वैज्ञानिक ऐसे किसी रसायन की पुष्टि प्रयोगों द्वारा न कर पाए जिसे प्राणियों में नींद पैदा करने के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता था। वर्ष 1936 में क्लोइटा नामक वैज्ञानिक ने नींद को खून से ऊत्तकों में होने वाले कैल्शियम आयनों के स्थानान्तरण से जोड़ने का असफल प्रयास किया। कूपरमैन ने थोड़े दिनों बाद प्रयोगों द्वारा यह साबित कर दिया कि नींद का कैल्शियम आयनों के स्थानान्तरण से कोई भी रिश्ता नहीं है।

बहरहाल, वैज्ञानिकों ने अपना शोध कार्य जारी रखा। वर्ष 1937 में डीस्ट एवं विंटर ने नींद संबंधी अपना शोध कार्य प्रकाशित करवाया। उनके द्वारा किये शोध के अनुसार चयापचय की क्रियाओं के कारण शरीर के अम्लीय-क्षारीय संतुलन में परिवर्तन होता है और यह परिवर्तन एक क्रांतिक स्तर पर पहुँचकर ''आत्मग तंत्रिका तंत्र'' की क्रियाशीलता को कम करने लगता है। आत्मग तंत्रिका तंत्र की सक्रियता में कमी आने पर हमें नींद आने

लगती है। तत्पश्चात, किसी महत्वपूर्ण निर्णय पर न पहुँच पाने के कारण वैज्ञानिकों की निद्रा पदार्थों की खोज में दिलचस्पी घटने लगी। लेकिन कुछ ही समय बाद कुछ शरीरक्रिया विज्ञानियों ने यह घोषणा कर डाली कि ''तंत्रिकीय अवमंदन (न्यूरल इनहिबिशन)'' नींद पैदा करता है। इन वैज्ञानिकों का कहना था कि मस्तिष्क को कोई हिस्सा इन्द्रियों से पहुँचने वाले संकेतों को रोक कर नींद पैदा करता है। वैज्ञानिक इवान पावलोव का कहना था कि मस्तिष्क के सम्पूर्ण प्रमस्तिष्कीय गोलार्द्धों से नींद की प्रक्रिया का संबंध है। यह प्रक्रिया सक्रिय होने पर मस्तिष्क में पहुँचने वाले और वहाँ से जाने वाले संवेगों को रोक देती है। पावलोव उन शरीरक्रिया वैज्ञानिकों से सहमत नहीं थे जो उन दिनों मस्तिष्क में नींद पैदा करने वाले विशिष्ट केंद्र अथवा केन्द्रों के होने की बात कह रहे थे।

बहरहाल, बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक के अंतिम वर्षों में मध्य-मस्तिष्क एवं पश्च मस्तिष्क में फैले ''जागरण तंत्र'' की खोज से अब तक चली आ रही इस संभावना को बल मिला कि मस्तिष्क में अन्य केन्द्रों की भाँति निद्रा भी होनी चाहिये। वर्ष 1939 में वैज्ञानिक रेन्सन ने बंदरों पर किये अपने शोध में बताया कि मस्तिष्क के अंदरूनी हिस्सों पार्श्व अधश्चेतक (हाइपोथैलेमस), स्तानाकर पिंडों (चूचूकाभ थैलेमस) पर किए घाव नींद पैदा करते हैं। रेन्सन का कहना था कि मस्तिष्क के इन हिस्सों का प्राणी के सोने एवं जागने से अवश्य कोई संबंध होना चाहिए। वर्ष 1951 में वैज्ञानिक फ्रीडी ने कहा कि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि नींद और प्रमस्तिष्क-मेरु द्रव का आपस में संबंध है। उनका कहना था कि ऐसा कोई उद्दीपन पदार्थ अवश्य होना चाहिए जो जागरण के दौरान धीरे-धीरे प्रमस्तिष्क-मेरु द्रव में मुक्त होता रहता है और एक स्तर विशेष पर पहुँचने पर नींद पैदा करता है। इसके बाद वर्ष 1956 में वैज्ञानिक पुरपुरा ने इस विचार का समर्थन किया कि किसी उद्दीपन पदार्थ का जमाव ही नींद के लिए उत्तरदायी है। इस दौरान मोनियर तथा हुसली ने खरगोशों पर नींद संबंधी कुछ प्रयोग किये। इन वैज्ञानिकों ने उद्दीपन पदार्थ होने वाले विचार का समर्थन तो किया किन्तु इनका कहना था कि यह पदार्थ प्रमस्तिष्क-मेरु द्रव के बजाय संभवतया शिरा रक्त में जमा होता है। वर्ष 1957 में डब्ल्यू आर हैश ने नींद के विषय में कुछ महत्वपूर्ण बातें बताईं। उनका कहना था कि नींद का केंद्र चेतक (थैलमस) के आसपास है। अपने प्रयोगों की चर्चा करते हुए उन्होंने बताया कि जब इस केंद्र को विद्युत तरंगों से उत्तेजित किया जाता है तो सजग प्राणी सोने लगता है।

हैश के बाद नींद के प्राक्रम को समझने में अनेक वैज्ञानिकों ने अपना योगदान दिया। प्राप्त आंकड़ों तथा उपलब्ध तथ्यों से यही निष्कर्ष निकलता है कि न तो नींद का मस्तिष्क में कोई एक अकेला केंद्र है और न ही कोई एक अकेला निद्रा पदार्थ है। दरअसल, मस्तिष्क में आपस में एक दूसरे से जुड़े कई ऐसे केंद्र हैं जो नींद की प्रक्रिया का संचालन करते हैं। इनमें से कुछ का संबंध नींद के प्रतिदिन के समय तथा नींद शुरू होने की प्रक्रिया से है तो कुछ का संबंध स्वप्नरहित नींद और गहरी नींद से है। प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि मस्तिष्क वृंत में स्थित तंत्रिका कोशिकाओं का एक समूह ''जालक तंत्र'' जागने की प्रक्रिया और अधश्चेतक में स्थित तंत्रिका कोशिकाओं का एक अन्य समूह ''राफे'' केन्द्रक नींद की प्रक्रिया का संचालन करता है। वर्ष 1963 में वैज्ञानिक जावेट ने निद्रा संबंधी एक नया केंद्र ढूँढ़ निकाला। ''नील स्थली'' नामक यह केंद्र पॉन्स में होता है और गहरी नींद यानी रैम स्लीप को नियंत्रित करता है।

बहरहाल, नींद के केंद्रों का पता तो चल गया किन्तु उस समय तक वैज्ञानिक उस तथाकथित उद्दीपक पदार्थ के विषय में कुछ खास प्रमाण न ही जुटा पाए थे जो जागने के दौरान हमारे शरीर में एकत्रित होता रहता है और फिर एक क्रांतिक मात्रा में जमा होने के बाद निद्रा केन्द्रों को उत्तेजित कर प्राणी विशेष को सोने के लिए विवश करता है। वर्ष 1974 में हारवर्ड मेडिकल स्कूल के वैज्ञानिक पापैनहीमर एवं उनके सहयोगी जबरदस्ती जगाई हुई बकरियों के प्रमस्तिष्क-मेरु द्रव से एक ऐसे रसायन को प्राप्त करने में सफल हुए जो प्राणियों में नींद पैदा करता है। जब यह पदार्थ जागते हुए खरगोशों और चूहों के शरीर में इन्जैक्ट किया गया तो वे तुरन्त सो गए। उन्होंने उस समय तक अज्ञात इस रसायन का नाम ''फैक्टर-एस'' रखा। तत्पश्चात, वर्ष 1980 के प्रारंभ में पापैनहीमर की प्रयोगशाला में मनुष्यों के मूत्र से फैक्टर-एस को पृथक किया गया लेकिन तीन हजार लीटर मूत्र से कुल एक ग्राम के सत्तरवें लाख भाग के बराबर रसायन प्राप्त किया जा सका। यूँ इतनी कम मात्रा भी प्राणियों में नींद पैदा करने के लिए 500 खुराक बनाने के लिए पर्याप्त साबित हुई। जब यह खुराक खरगोशों को दी गई तो मात्र एक खुराक देने से खरगोशों की निद्रा अवधि में छह घंटों की वृद्धि हुई। नींद में हुई यह वृद्धि बिल्कुल प्राकृतिक थी। कृत्रिम नींद की गोलियों के प्रभाव के विपरीत फैक्टर-एस की खुराक के कारण सोये जानवरों को आसानी से जगाया जा सका। यूँ ऐसे खरगोश थोड़ी देर तक जागे रहने के बाद कुछ खाकर फिर सो जाते थे। तत्पश्चात, टैनेस्से विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक जिम क्राइगर ने पापैनहीमर के कार्य को आगे बढ़ाया। उन्होंने बताया कि फैक्टर-एस एक म्यूरैमिल पेप्टाइड है जो बैक्टीरिया की कोशिका-झिल्ली के घटकों से मिलता-जुलता है।

इस तथ्य से वैज्ञानिकों ने पहले यह निष्कर्ष निकाला कि फैक्टर-एस संभवतया प्रमस्तिष्क-मेरु द्रव एवं मूत्र को दूषित करने वाले जीवाणुओं का कोई उत्पाद है। बहरहाल, क्राइगर और उनके साथियों द्वारा किये शोध कार्य से ज्ञात हुआ कि यह पदार्थ शरीर के प्रतिरक्षा तंत्र के प्रमुख घटक श्वेत रुधिर कणिकाओं द्वारा नष्ट किए गए एवं तत्पश्चात उत्सर्जित किए गए जीवाणुओं का उपचारित अवशेष हैं। इतना ही नहीं, तत्पश्चात इन वैज्ञानिकों ने म्यूरैमिल पेप्टाइड संश्लेषित किया। क्राइगर ने प्रयोगों द्वारा दिखाया कि म्यूरैमिल पेप्टाइड के एक अन्य रूपांतर म्यूरैमिल डाइपेप्टाइड (एमडीपी) का जब चूहों, खरगोशों, बिल्लियों और बंदरों में अंतःक्षेपण (इंजेक्ट) किया गया तो इन प्राणियों की स्वप्नरहित नींद की अवधि बढ़ गई। प्रयोगों से यह भी ज्ञात हुआ कि अन्य दूसरे अभिप्रायित प्राकृतिक निद्रा पदार्थों की तरह म्यूरैमिल डाइपेप्टाइड की क्षमता भी दिन के समय के अनुसार बदलती रहती है। साथ ही प्राणियों के शरीर में पहुँचने के बाद निद्रा प्रभाव भी काफी देर बाद पड़ता है। यह प्रतिरक्षा तंत्र को उत्तेजित करता है और शारीरिक तापमान में वृद्धि करता है। क्राइगर के अनुसार एमडीपी ''इण्टरल्यूकिन-1'' रसायन को उत्तेजित कर नींद पैदा करता है। इण्टरल्यूकिन-1 को रक्त में बृहत्केन्द्रक श्वेताणुओं (मोनोसाइट) के द्वारा और मस्तिष्क में उसकी कोशिकाओं का पोषण एवं बचाव करने वाली कुछ कोशिकाओं के द्वारा बनाया जाता है। एमडीपी बृहत्केन्द्रक श्वेताणुओं को अधिक इण्टरल्यूकिन-1 बनाने के लिए उत्तेजित करता है।

इण्टरल्यूकिन-1 एक ''अंतर्जनित तापजनक (पाइरोजैन) है और ज्वर पैदा करने वाला प्राकृतिक शारीरिक रसायन है। क्राइगर और उनके साथियों ने प्रयोगों द्वारा यह भी साबित कर दिया कि शारीरिक तापमान में होने वाली वृद्धि को दवाओं द्वारा रोके जाने के बावजूद एमडीपी प्राणियों में नींद पैदा करता है और उसकी अवधि में वृद्धि करता है। वैसे भी तथ्य से हम परिचित हैं कि जिस दिन हम कठिन शारीरिक परिश्रम करते हैं, उसके बाद रात में हमें काफी गहरी नींद आती है। वैज्ञानिकों का कहना है कि कठिन शारीरिक परिश्रम करने से शरीर में इण्टरल्यूकिन-1 के स्तर में वृद्धि होती है। क्राइगर के अनुसार इण्टरल्यूकिन-1 शरीर में प्रोस्टाग्लान्डिन डी-2 के स्राव को बढ़ाता है और यह प्रोस्टाग्लान्डिन प्राणियों को सोने के लिए विवश करता है और नींद अवधि को बढ़ाता है। बहरहाल, बीसवीं सदी के आठवें दशक में वैज्ञानिकों ने कई दूसरे निद्र पदार्थों को खोजने का दावा किया। ''डेल्टा स्लीप इन्ड्यूसिंग पेप्टाइड'' भी इनमें से एक था लेकिन बाद में किये गए शोध कार्यों से इसकी पुष्टि न हो सकी।

पिछले तीन दशकों के दौरान किये शोध कार्यों से ज्ञात हुआ है कि जागते रहने के दौरान प्रोस्टाग्लान्डिन डी-2 (पीजी डी-2) मस्तिष्क में एकत्रित होता रहता है। यह पीजी डी-2 फिर डीपी संग्राहकों (रिसेप्टर्स) को उत्तेजित कर कॉर्टेक्स एवं अग्रमस्तिष्क के बाह्यकोशीय प्रभाग में ऐडेनोसिन की सांद्रता को बढ़ाता है। यह ऐडेनोसिन फिर नींद संबंधी न्यूरोंस (तंत्रिकोशिकाओं) को सक्रिय कर नींद की अनुभूति को पैदा करता है। नींद के दौरान ऐडेनोसिन का अपघटन होता है। जब यह अपने पूर्व सामान्य स्तर पर आ जाता है तो प्राणी का जागरण तंत्र फिर सक्रिय हो उठता है। यहाँ यह बताना भी उचित होगा कि हमारे नींद के प्रक्रम को हमारी जैविक घड़ी यानी ''बायोलॉजिकल क्लॉक'' और पर्यावरणीय कारक भी निर्धारित करते हैं। उदाहरण के लिए, हम इस तथ्य से परिचित हैं कि उजाले और अंधेरे से हमारी नींद का एक प्राकृतिक संबंध है। हमारी जैविक घड़ी हमारे मस्तिष्क में मौजूद कुछ ऐसी विशिष्ट कोशिकाओं का समूह है जो आँखों के माध्यम से पहुँचने वाले प्रकाश से सक्रिय होकर हमें सजग बनाये रखती है।

अंधेरा होने पर यह जैविक घड़ी मेलाटोनिन हॉर्मोन की उत्पादन प्रक्रम को सक्रिय करती है। हम मनुष्यों में मेलाटोनिन हॉर्मोन का उत्पादन मस्तिष्क के केंद्र में अवस्थित पीनियल ग्लैंड में होता है। यह हॉर्मोन हमारे अन्दर नींद की भावना को पैदा करता है। हमारे मस्तिष्क में शाम ढलने के बाद इस हॉर्मोन की मात्रा बढ़ने लगती है और रात के दूसरे पहर के दौरान इसकी मात्रा अधिकतम होती है। रात की पारी में कार्य करने वाले लोग यह अच्छी तरह से जानते हैं कि दिन में उस नींद को पूरा करना कितना अप्राकृतिक होता है। लंबी हवाई यात्राओं के दौरान भी लोगों को नींद और जागरण के बीच होने वाली गड़बड़ियों का सामना करना पड़ता है।

ड्रैकुला आर्किड्स : फूल या बन्दर

डॉ0 इरफाना बेगम*

साधरणतौर पर जब भी हमें खतरनाक चीज दिखाई देती है तो हम उसे ड्रैकुला का नाम दे देते हैं। लेकिन जरा सोचिए कि अगर कोई फूल हो और उसे ड्रैकुला कहा जाये तो कैसा लगेगा। सामान्यतः हम फूल को कोमल और लुभावना समझते हैं। परन्तु, वास्तव में ये एक प्रकार के फूल हैं जिन्हें ड्रैकुला कहा जाता है, और जब इन फूलों की शक्ल बन्दर जैसी हो तो इन्हें 'मंकी फ्लावर' कहा जाता है। फूलों को लेकर हर व्यक्ति की अपनी-अपनी पसन्द होती है – किसी की गुलाब से तो किसी को सूरजमुखी से। लेकिन ईरेकिया शुल्ज नाम के व्यक्ति जिनकी उम्र 57 साल है और जो एक शौकिया फोटोग्राफर हैं, उनको पसन्द है ड्रैकुला जैसे दिखने वाले ये पसन्दीदा फूल। शुल्ज ने जर्मनी के एक पुष्प प्रदर्शनी के दौरान हेरेनहाउसेन के बगीचे से कई फोटो खीचे। शुल्ज ने कैटर समाचार एजेन्सी को बताया कि इन फूलों को देखने के बाद भी मैं सहसा यह विश्वास नहीं कर पा रहा था कि यह फूल बन्दरों से कितने मिलते-जुलते हैं। मैं यकीन नहीं कर पा रहा था कि यह कितने अलग और खूबसूरत थे। जिन्हें भी मैं इन तस्वीरों को दिखाता वह भी मेरी ही तरह विस्मृत हो जाता था। वास्तव में बन्दरों की तरह दिखने वाले यह फूल आर्किड प्रजाति के हैं। इनमें केवल एक या दो नहीं बल्कि 123 प्रजातियाँ पाई जाती हैं। सवाल यह है कि यह फूल तो है परन्तु यह है कहाँ? इस फूल का नाम *ड्रैकुला सीमिया* है। यह 1000 से 2000 मीटर की ऊँचाई पर दक्षिणी पूर्वी इक्वेडोर, कोलम्बिया और पेरू के वर्षा वनों में पाया जाता है। और मजेदार बात यह है कि इतिहास में अभी तक लोगों ने इन विशेष फूलों को इस लायक ही नहीं समझा कि इनके बारे में कहीं लिखा जाये।

***ड्रैकुला वेनिफिका* : सर्दियों से बसंत तक के मौसम में खिलता है।**

***ड्रैकुला सोडिरोई* : इक्वाडोर में 1500-2600 मीटर की ऊँचाई पर केवल एक बार खिलता है।**

***ड्रैकुला ब्रांगरी* : पूरे साल खिलने वाला फूल है।**

*विज्ञान प्रसार, सी-24, कुतुब संस्थागत क्षेत्र, नई दिल्ली–110 016.

इन फूलों को सौ साल पहले पहचाना गया। एक विख्यात वनस्पति वैज्ञानिक हेनरी केस्टेरटन (1840–1883) जिनका मुख्य शोध आर्किड पर था अपने साथियों के साथ आर्किड संग्रह कर रहे थे, अचानक उनकी मृत्यु होने के बाद पहचान में आये इस आर्किड का नाम *ड्रैकुला केस्टेरटनी* रखा गया। लेकिन इस समय तक अधिक ड्रैकुला प्रजातियों की पहचान न होने के कारण इनका वर्गीकरण ठीक प्रकार से ज्ञात नहीं था और ड्रैकुला को अलग समूह में रखने के स्थान पर मसडीवैलियस समूह के साथ रखा गया। लेकिन सन् 1978 में विभिन्न प्रजातियों के अध्ययन के आधार पर वनस्पति शास्त्री लुएर ने बताया कि ये चमगादड़, राक्षस आदि जैसे आकार के दिखते हैं जो कि 2 सेमी. से 12 सेमी. तक के आकार के हो सकते हैं। इसलिए वर्ष 1978 में वनस्पति शास्त्री लुएर ने नाम दिया *ड्रैकुला आर्किड*। इसके परिवार में लगभग 123 सदस्यों को पाया गया। अलग-अलग दिखने के कारण इनको अलग-अलग नाम दिये गये।

पेड़ों की शाखाओं पर और जमीन पर कूड़े के ढेर पर बढ़ते हैं। नीचे की ओर लटकता हुआ स्पाइक बाद में फूल में बदल जाता है। अधिकतर एक स्पाइक से एक फूल बनता है जो कि कुछ दिनों तक रहता है। यह हवा में नमी को सोखता है और हवा के सम्पर्क में रहने के कारण इसके सड़ान्ध नहीं होती है।

गुच्छेदार त्रिकोणीय वाह्यदल पर एक असामान्य लम्बी पूँछ दिखती है। *ड्रैकुला आर्किड* की जीभनुमा भाग में विशेष गंध होती है जो फ्रूट फलाई को आकर्षित करती है। यही छोटे कीट इनके परागण में सहायता करते हैं। *ड्रैकुला अर्किड* की पुखुडियाँ छोटी होती हैं लेकिन इसका लेबिला काफी लम्बा होता है जो कि मशरूम की तरह हिलता रहता है। इसके हिलते समय ऐसा प्रतीत होता है कि यह आपको चिढ़ा रहा है। *ड्रैकुला आर्किड* अधिकतर उन जगहों पर ही पाया जाता है जहाँ पर दिन

कोलम्बिया और इक्वाडोर में 800 से 1600 मीटर की ऊँचाई पर बसंत में खिलने वाला *ड्रैकुला लोटेक्स*

कोस्टारिका में 1100 मीटर की ऊँचाई पर पाया जाने वाला *ड्रैकुला इनएक्सपर्टा*

उत्तर पश्चिम इक्वाडोर के 2000 मीटर ऊँचाई पर पाया जाने वाला *ड्रैकुला साइकी*

लेकिन यह विशेष रूप से ऊँची जगहों के बादल वनों पर पाये जाते हैं। हालांकि इसको नाम देने के लिये काफी मशक्कत भी नहीं करनी पड़ी। इसकी शक्ल को देखते हुए इसका नाम बन्दर आर्किड रख दिया गया। इसकी महक पके हुए संतरों की तरह होती है और यह इक्वाडोर के सभी मौसम में मिलते हैं। इनमें मौसम के प्रति विशेष आकर्षण नहीं होता। लैटिन में ड्रैकुला का अर्थ होता है छोटा ड्रैगन। यह अधिजीवी आर्किड का तापमान 13-26° सेग्रे. के बीच होता है। आमतौर पर ऊँचे स्थानों के पौधे कम तापमान में ही उगते हैं।

यह फूल न्यूजीलैण्ड के नेपियर में गर्मी में भी उग सकते हैं क्योंकि वहाँ का तापमान इनके अनुकूल होता है और रात और दिन के तापमान में 4-5° सेग्रे. का अन्तर रहता है।

1800–2200 मीटर ऊँचाई पर पाया जाने वाला मशरूम की गंध वाला *ड्रैकुला केस्टेरटनी*

इक्वाडोर और कोलम्बिया के 1800–2200 मीटर ऊँचाई पर पाया जाने वाला *ड्रैकुला केस्टेरटनी*

कोलम्बिया के 2000–2200 मीटर ऊँचाई पर पाया जाने वाला *ड्रैकुला रोबेलडोरम*

कोलम्बिया में 400–1400 मीटर की ऊँचाई पर पाया जाने वाला *ड्रैकुला इनाग्विलिस*

कोलम्बिया में पाया जाने वाला *ड्रैकुला बेल्ला*

कोलम्बिया में 2000–3000 मीटर की ऊँचाई पर पाया जाने वाला *ड्रैकुला बेनाडिक्टी*

उत्तर पश्चिम इक्वाडोर के 1800 मीटर की ऊँचाई पर पाया जाने वाला *ड्रैकुला उबानानि*

ड्रैकुला आर्किड में जल भण्डारण क्षमता का अभाव होता है इसलिए पानी की कमी में ये जल्दी सूख जाते हैं। वातावरण की आर्दता इन्हें ताजा रहने में मदद करती है। वर्षा वनों में आर्द्रता बहुत अधिक होती है। इसलिए यह फूल 70-90 प्रतिशत आर्द्रता वाले हिस्से में पनपते हैं। अनुकूल मौसम वाले क्षेत्रों में इन पौधों को गमलों में भी लगाया जा सकता है। चूँकि इन पौधों के फूलों की शाखाएँ अधिकतर नीचे की ओर झुकती हैं, इसलिए ऊँचाई पर टँगे हुए डालियों में इनको लगाया जा सकता है जिनके तले में लकड़ियों के छोटे टुकड़ों को डालना अच्छा होगा।

चूँकि इन पौधों के फूलों की शाखाएँ अधिकतर नीचे की ओर झुकती हैं, इसलिए ऊँचाई पर टँगे हुए डालियों में इनको लगाया जा सकता है जिनके तली में लकड़ियों के छोटे टुकड़ों को डालना अच्छा होगा।

इन फूलों को बहुत ही सीमित मात्रा में खाद की जरूरत होती है। खाद की मात्रा अधिक हो जाने पर इनका रंग काला पड़ जाता है। साधारणतया हर दूसरे साल इन पौधों के बर्तनों को बदल देना चाहिए, वरना इसके बीच के पत्ते सड़ने लगते हैं। इनकी राइजोम वाली पत्तियाँ जिनमें जीवित जड़ें हों, काटकर एक जगह से दूसरे बर्तन में लगाया जा सकता है, जिनमें पर्याप्त मात्रा में नमी सोखने के लिए लकड़ी के छोटे टुकड़े डाले जा सकते हैं।

कोलम्बिया में 2000-2500 मीटर की ऊँचाई पर पाया जाने वाला टोड स्किन *ड्रैकुला क्यूटिसबफोनिस*

मध्य अमेरिका से इक्वाडोर के 1400-2000 मीटर की ऊँचाई पर पाया जाने वाला *ड्रैकुला वेसपर्टिलो*

कोलम्बिया में 2500 मीटर की ऊँचाई पर पाया जाने वाला *ड्रैकुला वेलाडटेप्स*

जैव-प्रौद्योगिकी : खतरे की आहट भी

डॉ0 दुर्गादत्त ओझा*

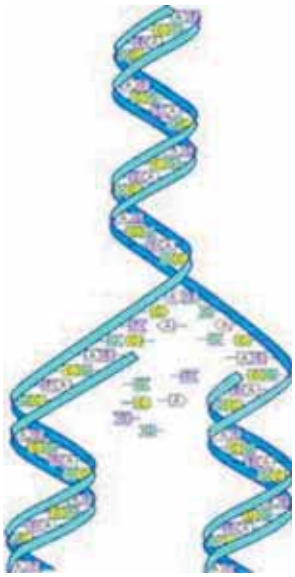

वैश्विक स्तर पर जैव-प्रौद्योगिकी की वर्तमान प्रगति को देखते हुए तो ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान सहस्त्राब्दी 'बायोटेक मिलेनियम' होगी, क्योंकि असंख्य एवं अपार मनु-पुत्रों की क्षुधा-शांति, स्वास्थ्य एवं जीवन-रक्षा में निश्चय ही जैव-प्रौद्योगिकी की निर्णायक भूमिका रहेगी। परन्तु, जैव-प्रौद्योगिकी के कई विवादित पहलू भी बन गए हैं।

टर्मिनेटर प्रौद्योगिकी : खतरे की घंटी

हम सभी जानते हैं कि किसी बीज को अनुकूल उपजाऊ भूमि में बोने से पौधा अंकुरित होता है। यह पौधा अपनी प्रजाति के पौधों का विस्तार करने में सक्षम बीजों का उत्पादन करता है। वस्तुतः, बीज से पौधा और पौधे से पुनः बीज प्राप्त करने का यह चक्र सदियों से यों ही चलता आया है, परन्तु 3 मार्च, 1998 को अमेरिका में पंजीकृत कराए गए एक पेटेंट में प्रकृति के इस चक्र को रोकने का प्रावधान है। 'डेल्टा एंड पाइनलैंड' कंपनी तथा अमेरिकी कृषि विभाग द्वारा कराए गए पेटेंट में पौधों में जीन अभिव्यक्ति को नियंत्रित करने का तरीका पंजीकृत कराया गया है। इस तकनीक के अनुसार, किसी भी पौधे में कुछ इस प्रकार के जीन डाले जा सकते हैं जिससे उस पौधे की अच्छी फसल तो प्राप्त की जा सकेगी, परन्तु

मक्के के अक्षम बीज

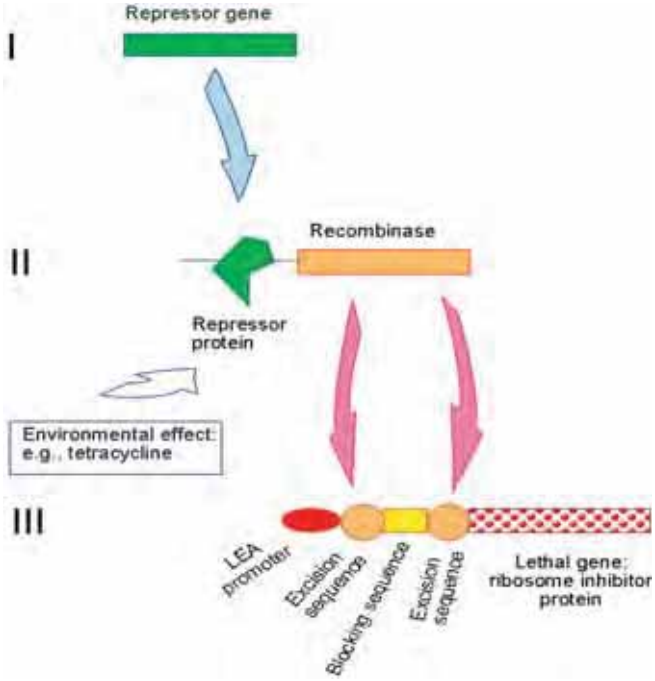

टर्मिनेटर प्रौद्योगिकी का रेखा चित्र

इसके बीज नई पौधे देने में अक्षम होंगे, अर्थात् इन पौधों के डी.एन.ए. अपने ही अंकुर का वध करेंगे।

पौधों को वंध्यता प्रदान करने वाली यह तकनीक जैव-प्रौद्योगिकी की ही देन है। जैव-प्रौद्योगिकी द्वारा किसी जीन की क्रिया को रोकना या चलाना एक ऐसी विशेषता है, जो वस्तुतः जनसाधारण के लाभ का कारण बनती है, परन्तु इस तकनीक में विपरीत स्थिति है, जो विवादित बन चुकी है। इस कारण व्यंग्यस्वरूप इसे 'टर्मिनेटर' यानी 'समापन तकनीक' की संज्ञा दी गई है। इस समापन तकनीक में डी.एन.ए. की तीन विशेष रचनाएँ इस प्रकार किसी पौधे में समाहित की जाती हैं कि पौधे के बीज में अपने अंकुर को नष्ट करने के गुण आ जाते हैं। इन बीजों को बेचने से पहले इन्हें टेट्रासाइक्लीन के संपर्क में लाया जाता है, जिससे इनमें वंध्यता की प्रक्रिया आरंभ होने लगती है।

आज विश्व में टर्मिनेटर तकनीक को लेकर बहुत गहमागहमी का वातावरण है। विश्व के सभी वैज्ञानिकों का इस बारे में एक मत है कि यह तकनीकी प्रकृति के साथ खिलवाड़ है जो भविष्य में बहुत महँगी साबित होगी। यह किसानों के लिए भी हितकारी नहीं है, विशेषतः विकासशील देशों के किसानों के लिए तो यह बिल्कुल ही अनुकूल नहीं है। इस प्रणाली

*'गुरुकृपा', ब्रह्मपुरी, हजारी चबूतरा, जोधपुर – 342 001.

ISSN 2231-2455

से एक समस्या यह भी हो सकती है कि यदि पूरे विश्व में समान जीव वाली फसलें उगने लगेंगी तो विविधता समाप्त हो जाएगी और फसलों के लुप्त होने का खतरा बढ़ जाएगा, क्योंकि समांग फसलें महामारियों के प्रति अधिक संवेदनशील होंगी। पर्यावरणविदों के अनुसार, टेट्रा-साइक्लीनयुक्त बीज जब बार-बार बोए जाएँगे तो वे मिट्टी में उपस्थित लाभदायक सूक्ष्म जीवों को नष्ट कर मृदा की उर्वरा शक्ति को घटाएँगे।

डॉ. एम.एस. स्वामीनाथन

हमारे देश के अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कृषि वैज्ञानिक डॉ0 एम.एस. स्वामीनाथन ने इस तकनीक को अनैतिक करार देते हुए यह आशंका व्यक्त की है कि इस तकनीक को अपनाने से देश की खाद्य व्यवस्था को खतरा उत्पन्न हो जाएगा।

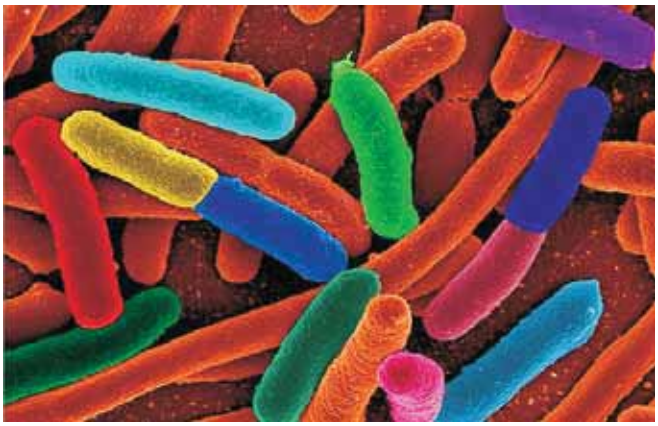

एन्थ्रेक्स जीवाणु

अमर जीवाणु

जैव-प्रौद्योगिकी द्वारा ऐसे जीवाणु बनाए जा सकते हैं, जिन पर दवाओं या एंटीबायोटिकों का कोई प्रभाव न हो। यदि ऐसे जीवाणु सृजित कर लिये गए और किसी प्रकार वे परखनली तथा प्रयोगशाला से बाहर आ गए तो इस पृथ्वी पर जीवन खतरे में पड़ सकता है। इसी तरह विषाक्त

जैविक युद्ध में सहायता

पदार्थ उत्पन्न करने वाले ऐसे जीवाणु खुले छोड़ देने पर पर्यावरण में विष घोल सकते हैं। इसी प्रकार विभिन्न रोगों के जीवाणु संवर्धित होकर यदि किसी प्रकार बाहर निकल भागे तो फिर हम लोग कहाँ भागकर जाएँगे ? आज जैव-तकनीक द्वारा कैंसर कोशिका और जीवाणु या विषाणु कोशिका को क्लोनित कर जीवाणु मनुष्यों में पहुँच जाएँ तो इनसे मनुष्य में कैंसर उत्पन्न हो जाएगा।

जैविक युद्ध एवं जैविक

आयुधमानव सदैव युद्ध की आशंकाओं से घिरा रहा है। आज विश्व के सभी बड़े राष्ट्रों के पास विभिन्न क्षमता वाले आयुध हैं। प्राचीन काल के बेडौल शिला प्रक्षेपकों तथा तीर-तलवारों का स्थान आज नाभिकीय बमों और मिसाइलों ने ले लिया है। वर्तमान में अनेक देशों के शस्त्रागारों का सबसे आधुनिक हथियार है 'जैविक हथियार', जो बहुत छोटे से समय में एक बड़ी जनसंख्या को प्रभावित करने की क्षमता रखता है।

सामान्यतः एक आम आदमी की दृष्टि में जीवाणु या विषाणु या कवक प्राकृतिक रूप में मिलने वाले सूक्ष्म जीव हैं। जीवाणुओं के विषय में प्रायः यह समझा जाता है कि ये किसी बड़ी विपत्ति के सृजन में सक्षम नहीं हैं, परन्तु इतिहास साक्षी है कि जीवाणुओं द्वारा संक्रमण बहुत विनाशकारी हुआ है। जैविक युद्ध का अर्थ है दुश्मन की सेना, आबादी, खाद्य स्रोत तथा पशुधन को हानि पहुँचाने या नष्ट कर देने के लिए रोगोत्पादक कारकों का प्रयोग। पहले जैव हथियार रोमवासियों द्वारा प्रयुक्त किया गया था। प्राचीन रोमन लोग अपने शत्रुओं के कुओं में जहर डाल देते थे। 606 ई. पूर्व असीरियनों ने अपने पतन से पूर्व फफूँदग्रस्त राई का प्रयोग कर शत्रुओं को शिथिल करने का प्रयास किया था। ऐसे खाद्य पदार्थ का सेवन करने से गैंग्रीन, गर्भपात, मानसिक विभ्रमता आदि रोग हो जाते हैं। विष-बाण का प्रयोग तो हमारे पुराणों में भी उल्लेखित हैं। सन् 1347 में टारटर लोग प्लेगग्रस्त मृतकों को कफ्फा शहर की दीवारों के पार फेंक देते थे। सन् 1941-42 में संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, रूस एवं चीन में भी प्लेग, एंथ्रेक्स, कॉलेरा आदि घातक जीवाणुओं का प्रयोग युद्ध में किया गया। जैविक हथियारों की दौड़ के चलते जापान ने भी अनेक जीव तथा वनस्पतिनाशक हथियार बनाए, जिससे अमेरिका एवं सोवियत संघ की प्रमुख फसलें नष्ट हो सकें।

डाक द्वारा जैविक युद्ध

जैव हथियार दो प्रकार के हो सकते हैं – जीवित और अजीवित। इनमें से कुछ आसानी से उपलब्ध हो सकते हैं और भीषण त्राहि मचा सकते हैं, जबकि कुछ सीमित रूप से प्रभावित करते हैं, अर्थात् कुछ समय के लिए व्यक्ति को अपंग या असहाय बना सकते हैं। जीवित वर्ग में एंथ्रेक्स, चेचक, प्लेग आदि के जीवाणु या स्पोर तथा अजीवित पदार्थों में बॉटुलिन, एंटरोक्सिन इत्यादि हैं।

वस्तुतः जैव हथियार का प्रभाव कई बातों पर निर्भर करता है-जैसे

वायु का रूख या दिशा, मौसम, तापमान, आर्द्रता आदि। जीवाणुओं का एक हथियार मध्यम हवा के चलते लगभग 1 लाख लोगों को प्रभावित कर

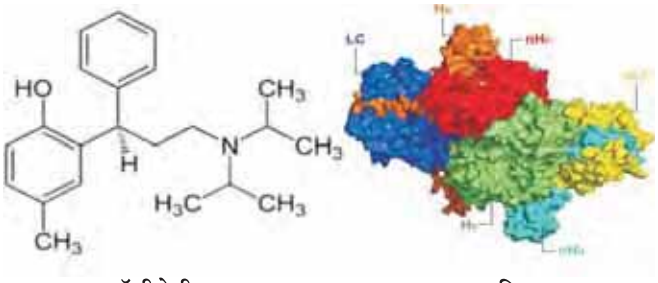

टॉलीरोडीन

बाटुलिनम

सकता है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत या आनुवंशिक, जैसे-शरीर की प्रतिरोधक क्षमता पर भी इनका प्रभाव निर्भर करता है। कुछ प्रतिवेदनों के अनुसार, पचास से अधिक आयु वाले लोगों की प्रतिरोधक क्षमता कम होती है। अतः जीवाणु की कम सांद्रता में भी उक्त आयु वर्ग के लोग जल्दी प्रभावित हो जाते हैं।

जैविक हथियारों के गुण एवं दोष

जैविक अस्त्रों की उच्च एवं विलक्षण मारक क्षमता के बारे में प्रिटोरिया (दक्षिण अफ्रीका) स्थित 'पादप संरक्षण संस्थान' के पादप रोग विशेषज्ञ डॉ0 जे.ई.वान. डैर प्लांक का कहना है कि विश्व की किसी भी सेना के पास शायद ही कोई ऐसा विस्फोटक हो जो इन जीवाणुओं से शक्तिशाली हो। अनुमान है कि एक ग्राम टॉक्सिन से 1 करोड़ लोग मारे जा सकते हैं। बोटुलिन नामक टॉक्सिन रासायनिक नर्व गैस सैरिन की तुलना में 30 लाख गुना शक्तिशाली है। यदि इस टॉक्सिन को स्कड

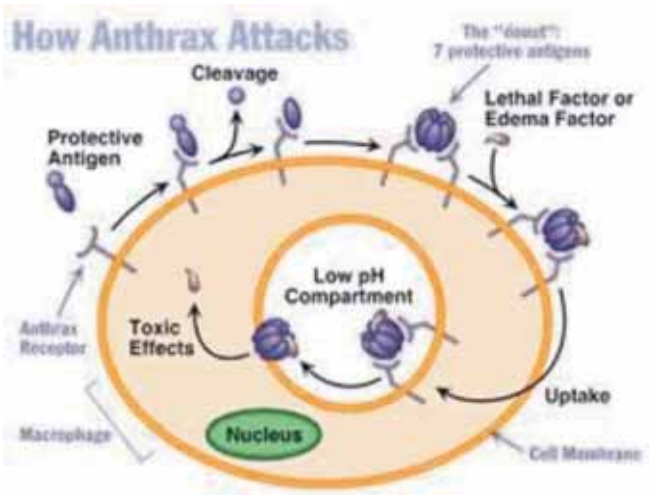

एन्थ्रेक्स के आक्रमण का रेखाचित्र

मिसाइल में भरकर युद्ध क्षेत्र में डाल दिया जाए तो 3700 किमी^{2} क्षेत्रफल को प्रभावित कर सकता है, जो सैरिन की तुलना में सोलह गुना अधिक क्षेत्रफल होगा।

जैविक आयुधों का एक गुण यह भी है कि जीवाणु, कवक या विषाणु को हथियार के रूप में प्रयोग करने के लिए किसी विशेष तकनीकी की

जैविक युद्ध से प्रभावित का उपचार

आवश्यकता भी नहीं है। कुछ दशक पूर्वक अमेरिकी मूल के लोगों को चेचक से प्रभावित करने के लिए ब्रिटेन ने चेचक के विषाणुयुक्त कम्बलों का प्रयोग किया था जिससे काफी बड़ी जनसंख्या प्रभावित हुई थी, क्योंकि उन्हें चेचक के रक्षात्मक टीके नहीं लगे थे। वैज्ञानिकों का ऐसा मानना है कि जिन देशों के पास नाभिकीय अस्त्र नहीं हैं वे भी बहुत कम खर्च में इस प्रकार के विनाशकारी हथियार बिना किसी कठिनाई के बना सकते हैं और संवाहक के रूप में वायु का उपयोग करके मनुष्य को हानि पहुँचाने वाले इस प्रकार के सूक्ष्म जीवों द्वारा थोड़े समय में ही विशाल मानव जीवन को क्षति पहुँचा सकते हैं।

जैविक अस्त्रों के सन्दर्भ में एक भयभीत करने वाला तथ्य यह भी है कि ये ऐसे हथियार हैं जिनके प्रयोग में न तो गोलियाँ चलेगी, न ही धमाके होंगे, न ही रेडियोंधर्मिता फैलेगी, न ही बारूदी सुरंगों के फटने से अंग विच्छेदन होगा – बस, गुप्त रूप से लोगों की मृत्यु होती रहेगी। इनके प्रयोग से एक समस्या यह भी होगी कि समय रहते इनसे बचाव करना भी लगभग असंभव है, क्योंकि इनके स्रोत का पता लगना भी संभव नहीं है। यदि जैविक अस्त्रों द्वारा रोगों के माध्यम से प्रत्यक्ष रूप से मानव जीवन को क्षति न भी हो तो भी अपर्याप्त पोषण के कारण पूरे देश की जनता को अशक्त बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त आंतकवादी संगठन भी इन अस्त्रों का उपयोग कर जनहानि कर सकते हैं।

'एन्थ्रेक्स' एक ऐसा रोग है, जो एक जीवाणु *बेसिलस एंथ्रेसिस* के वायु में उड़ने से उत्पन्न होता है। इन जीवाणुओं को प्रयोगशाला में बहुत आसानी से विकसित किया जा सकता है तथा शुष्कावस्था के कणों के रूप में रखा जा सकता है। एन्थ्रेक्स तीन प्रकार से संक्रमण फैलाता है – श्वसन की शुष्क कणिकाओं द्वारा, शरीर के विभिन्न भागों की त्वचा पर पड़ी खरोचों के सम्पर्क द्वारा तथा संक्रमित पशुओं का अधपका माँस खाने से आँतों द्वारा। आँतों की भारी सूजन, जी मिचलाना, भूख का मर जाना, तेज बुखार, आँतों के एंथ्रेक्स की प्रारम्भिक लक्षण हैं। सिप्रोफ्लोक्सेसिन एवं डोक्सीसाईक्लीन एंथ्रेक्स की रामबाण औषधियाँ है।

आंतकवादियों द्वारा जैविक हथियारों में एंथ्रेक्स का चुनाव इसलिए किया गया, क्योंकि इसके जीवाणु कड़ी धूप, कीटनाशक दवाओं तथा तेज गर्मी को भी सरलता से वहन कर लेते हैं। आंतकवादियों का लक्ष्य होता है

कम से कम प्रयास में अधिकाधिक लोगों को नुकसान पहुँचाना, इसीलिए एंथ्रेक्स को चुनकर आंतकवादी इस बीमारी के विषाणु पाउडर की तरह किसी पत्र पर चिपका कर भेजते हैं। जैविक आंतकवादी शस्त्र रूपी रोगाणु प्रयोगशाला में बड़े पैमाने पर विकसित एवं उत्पादित किये जा सकते हैं। एबोला विषाणु को भी एयरोसॉल के रूप में आयुधीकृत किया गया है। इससे रोगी को अत्यधिक उच्च ताप, विभिन्न अंगों से रक्तस्राव तथा निम्न रक्तचाप आदि कष्ट प्राप्त होते हैं। इसकी मृत्यु दर 65 से 80 प्रतिशत होती है।

इसी प्रकार मायकोटॉक्सिन टी-2 भी एक घातक विष है। यह जल अथवा खाद्य पदार्थों में मिलकर कहर ढा सकता है। सैक्सीटॉक्सिन तो और भी घातक है। यह वायु माध्यम से कार्य करता है और चौबीस घंटे के अंदर शिकार को पक्षाघात से अशक्त कर मौत के मुँह में धकेल देता है। एक बैक्टीरिया द्वारा स्रावित प्रोटीन विशेष रूप से तैयार किया गया बोट्यूलिनम भी कम नहीं है। चौबीस से छत्तीस घंटों की अवधि में यह मनुष्य को पूरी तरह पक्षाघात से आक्रांत कर देता है तथा श्वसन में असमर्थता होने के कारण रोगी की मृत्यु हो जाती है।

यदि रणक्षेत्र में *क्लॉस्ट्रीडियम परफिंजेन* बैक्टीरिया की बरसात दुश्मन की टुकड़ियों पर कर दी जाए तो सैनिकों के घावों में आठ से बारह घंटों में गैस गैंग्रीन उत्पन्न हो जाते हैं। यदि भोजन या जल के माध्यम से इसे शरीर के अंदर पहुँचाया जाए तो यह भोजन विषाक्तता भी उत्पन्न कर सकता है। *बैसीलस बुर्खोलडेरिया* द्वारा उत्पन्न ग्लैंडर्स रोग भी वायु के माध्यम से आक्रमण के लिए उपयुक्त है। यह नाक की श्लेष्मा झिल्लियों में इतना विकार उत्पन्न कर सकता है कि कुछ दिनों में ही मनुष्य की मृत्यु हो जाती है।

जैव हथियारों का दोष यह है कि इनके प्रभाव के बारे में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है। मौसम का इन पर भारी प्रभाव पड़ता है। यदि प्रतिकूल हवा बहे तो ये शत्रु क्या, मित्र राष्ट्र को भी चपेट में ले सकते हैं। इसके अतिरिक्त इनकी आयु के बारे में भी कुछ नहीं कहा जा सकता है। ये स्थल विशेष के सूक्ष्म जीवों में घुल-मिलकर शत्रु का विनाश करने के बाद भी बने रहे सकते हैं।

वर्तमान में जब तक जैविक एवं रासायनिक हथियार हैं तब तक इनका खतरा सदैव मंडराता रहेगा। अतः आज के दौर में जैव आंतकवाद एक यथार्थ है, जिससे बचने के उपाय, नीतियों का गठन और संस्थाओं को तैयार रखने की आवश्यकताआ है। आज आवश्यकता ऐसी प्रयोगशालाओं की है, जहाँ जैव हथियारों की पहचान एवं नियंत्रण पर शोध की व्यवस्था संभव हो। इतना ही नहीं, ऐसे सभी जीवाणुओं के प्रति वैक्सीनों का उत्पादन, जीवाणुओं के स्पोर पाउडर की पहचान कर सकें। जन-समुदाय में इन खतरों के प्रति जागृति के लिए भी पर्याप्त प्रचार-प्रसार करना समय की माँग है, जिससे किसी भी संशय को टालने की बजाय वे तुरन्त किसी चिकित्सक या उपयुक्त संस्था में जाकर आवश्यक निदान करा सकें। अतः जैव आतंकवाद से निबटना केवल सरकार का काम नहीं है। इसका सामना करने के लिए प्रशिक्षण, सामुदायिक जागरूकता एवं सतर्कता अनिवार्य है।

भारतीय वैज्ञानिकों ने जैविक एवं रासायनिक हथियारों के मद्देनजर रक्षा अनुसंधान एवं विकास संगठन (डी.आर.डी.ओ.) की शाखा

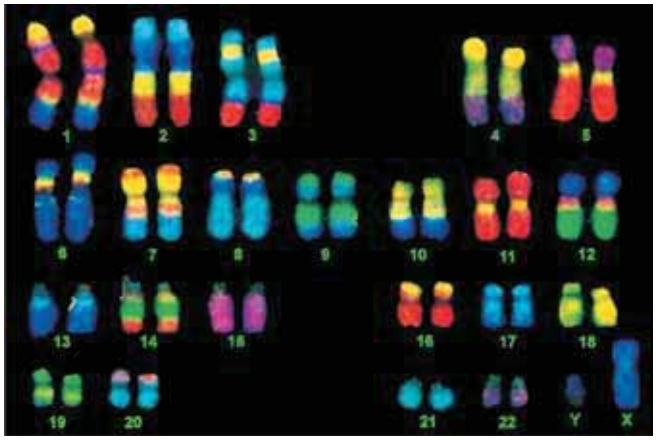

मानव कोशिका का क्रोमोजोम विवरण

डी.एस.एस.आर.डी.ई. ने सेना के लिए नाभिकीय वस्त्र (Nuclear Biological Clothing - एन.बी.सी.) तैयार किया है। इस पर जैविक एवं रासायनिक हथियार का कोई असर नहीं होता है, परन्तु संपूर्ण मानव जाति के लिए इन वस्त्रों को उपलब्ध कराना एवं बचाना संभव नहीं है। जैव एवं रासायनिक हथियारों को बेअसर करने वाले वस्त्र का उत्पादन भारत में शुरू हो गया है।

मानवता का संकट

कृत्रिम प्रजनन तकनीक, जीन प्रतिरोपण तकनीक तथा अन्य जैव-तकनीकों के द्वारा ऐसे जन्तु बनाना संभव है, जिनका आज तक कोई अस्तित्व नहीं है। आज भले ही वैज्ञानिकों को नए जन्तु बनाने की उत्सुकता हो, पर यदि बनते-बनते कहीं कोई ऐसा जन्तु बन गया, जो अधिक विकराल हो और मनुष्यों का सफाया करने लगे, तो इससे सारी मानव जाति संकट में पड़ सकती है। इसी प्रकार क्लोनिंग द्वारा एक ही प्रकार के अनेक मनुष्य तैयार किए जा सकते हैं। यहाँ तक कि केवल एक क्लोनित मानव-कोशिका से संपूर्ण मनुष्य तैयार किया जा सकता है। जैविक प्रयोग मनुष्य पर आजमाने में नैतिक खतरे आते हैं। 'सुपर मैन' या अतिमानव का जैव-प्रौद्योगिकी द्वारा बनाना नैतिक रूप से उचित नहीं ठहराया जाता है।

मानव-जीनोम संबंधी कानूनी एवं सामाजिक समस्याएँ

जैसा पूर्व में वर्णित किया जा चुका है, आधुनिक अनुसंधान में मिली अभूतपूर्व सफलता के कारण वैज्ञानिकों ने अब मानव जीवन की असली जन्म-कुंडली को जान लिया है, इसका मानचित्र भी तैयार कर लिया है तथा इसका क्रमिक सिलसिला भी प्रस्तुत कर दिया है। वैज्ञानिक अब मानव जीनोम को उसी तरह से पढ़ सकते हैं जैसे किसी विश्वकोश को। वैज्ञानिक अब पहचानने लगे हैं कि कौन सा जीन या जीन-समूह क्या कार्य करता है एवं किस चीज को जन्म देता है। अब हम किसी बैक्टीरिया, पौधे, चूहे, यहाँ तक कि मानव की भी, आनुवंशिकीय संरचना में सोद्देश्य परिवर्तन करने में समर्थ हैं।

परमाणु ऊर्जा के विध्वसंक रूप की तरह मानव-कुंडली या जीनोम का उद्घाटन समूची मानव जाति के लिए परमाणु बमों से भी कहीं अधिक प्रलयंकारी सिद्ध हो सकता है। 'जीवन-कुंडली' का उपयोग करके न केवल दूसरी प्रजातियों के क्लोन तैयार किए जा रहे हैं, वरन् कुछ वैज्ञानिकों ने मानव का भी क्लोन बनाने के प्रयास आरंभ कर दिए हैं,

परन्तु, यह जानकारी हमारी चिंताओं को बढ़ाएगी, व्यक्तिगत संबंधों में अप्रिय बदलाव लाएगी तथा हमारे जीवन को भी कलंकित करेगी। तो आइए, हम जानें कि मानव क्लोनिंग के खतरे क्या-क्या हैं –

1. मानव क्लोनिंग से प्रजनन में पुरुष की भूमिका समाप्त हो जाने का खतरा उत्पन्न हो गया है। अब यह स्त्री की इच्छा पर निर्भर करेगा कि वह किसके बच्चे की माँ बनना चाहती है, परन्तु इसे समाज स्वीकार नहीं करेगा। क्लोन के संदर्भ में केंद्रक प्रदाता, डिंब देने वाली महिला और प्रतिनिधि (सरोगेट) माँ की कानूनी स्थिति हमेशा संदेहास्पद रहेगी। अतः मानव क्लोनिंग से ऐसी अनेक सामाजिक एवं कानूनी समस्याएँ उत्पन्न होंगी।
2. अनुसंधानवेत्ताओं ने पाया है कि 'डॉली' की कोशिकाओं की आयु वास्तविक आयु से छह वर्ष अधिक है। वस्तुतः, जिस भेड़ की कोशिका लेकर डॉली का क्लोन तैयार हुआ, उसकी आयु छह वर्ष थी, अर्थात् क्लोन की आयु उतनी ही होगी जितनी पितृ कोशिका की थी और जिसके केंद्रक को मादा अंडाणु में डाला गया था। इसी तरह यदि मानव क्लोन तैयार किया जाता है तो उसकी आयु अपनी पितृ कोशिका के बराबर हो जाएगी, जबकि अभी वह नवजात शिशु ही होगा।
3. क्लोनिंग में बहुत सारी चिकित्सकीय समस्याएँ हैं। कई पशु क्लोन में ही मर जाते हैं। पैदा भी होते हैं तो उनमें मधुमेह, गुर्दों में खराबी और लंबी जीभ जैसी विकृतियाँ देखने में आई हैं। आरंभ में स्वस्थ दिखने वाले क्लोन भी बाद में भयावह विकृतियों के शिकार हो सकते हैं। मानव क्लोनिंग में भी ऐसी समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं।
4. वयस्क कोशिकाओं से तैयार होने वाले क्लोन के बारे में एक और आनुवंशिक खतरा है। पर्यावरण के संपर्क में आने के कारण हमारे जीवनकाल में उत्परिवर्तक (Mutagen) विकिरण आदि के कारण डी.एन.ए. में उत्परिवर्तन तथा अन्य विकृतियाँ उत्पन्न होकर वे विभिन्न कोशिकाओं में एकत्र होती रहती हैं। लैंगिक प्रजनन के तहत माता-पिता के जीन, जो एक-दूसरे के परिपूरक होते हैं, संयोजित हो जाते हैं और इस प्रकार ऐसी विकृतियाँ व्यक्त नहीं हो पातीं, परन्तु अलैंगिक प्रजनन में ऐसी विकृतियों से मुक्ति पाने का कोई उपाय नजर नहीं आता। संचित आनुवंशिक विकृतियों के प्रकट होने की संभावना मानव क्लोन बनाने के मामले में एक बहुत बड़ा खतरा है।
5. मानव क्लोन से अपराध बढ़ने की आशंका है। जिस व्यक्ति की कोशिका से भ्रूण बनता है, क्लोन उसका सही प्रति होता है, अर्थात् क्लोनिंग से एक ही प्रकार के कई लोग पैदा हो सकते हैं। ऐसे में बहुत संभव है कि अपराध कोई करे और पकड़ा कोई और जाए। एक ही व्यक्ति के एक साथ कई क्लोन तैयार होने पर और भी अनेक प्रकार की सामाजिक व नैतिक समस्याएँ उत्पन्न हो जायेंगी।
6. इस बात की भी विपुल संभावना है कि मुर्दे का क्लोन तैयार हो जाए, यद्यपि इसमें तकनीकी कठिनाइयाँ है। मृत्यु के बाद डी.एन.ए. बहुत जल्दी खराब हो जाता है, परन्तु मृत या मरणासन्न व्यक्ति की कोशिकाओं को सही अवस्था में सुरक्षित रखा जाए तो उनसे क्लोन तैयार हो सकेंगे। ऐसी स्थिति में बहुत सारी नैतिक, सामाजिक तथा कानूनी समस्याएँ उत्पन्न होंगी।
7. कुछ विचारकों का मत है कि मानव क्लोनिंग से प्राप्त 'अमरता' के साथ कई भयावह अभिशाप भी जुड़े हुए हैं। क्लोन शारीरिक रूप से भले ही समरूप हो, परन्तु मानसिक स्थिति, स्मृतियाँ, अनुभव, सामाजिक एवं नैतिक मूल्य हमेशा व्यक्तिगत होते हैं। क्लोन समरूप व्यक्ति तो बन सकता है, परन्तु उसका आचरण नितांत भिन्न होगा। मनुष्य के व्यक्तित्व में वातावरण का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। क्लोनिंग से स्मृतियों तथा अनुभवों का सातत्य संभव नहीं हो सकेगा। अतः यह सही अर्थ में अमरता नहीं होगी।
8. मानव क्लोनिंग के और भी अनेक नैतिक एवं सामाजिक भय हैं, जैसे सौदागर वृत्ति के कुछ लोग बड़ी संख्या में युवतियों के क्लोन तैयार कर लेंगे। इससे देह-व्यापार, नारी-शोषण एवं अपराध को बढ़ावा मिलेगा। अतः मानव क्लोनिंग के संभावित खतरों का कोई अंत नहीं है।
9. जैव-प्रौद्योगिकी के फलस्वरूप लिंग चयन टेक्नोलॉजी भी हमारे देश में भयावह एवं सामाजिक दृष्टि से उपादेय नहीं होगी।

अतः 21वीं शताब्दी में हमें विज्ञान की इन उभरती जैव-प्रौद्योगिकी शाखा का विवेकपूर्ण उपयोग करना होगा। यद्यपि सतत् विकास के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जैव-प्रौद्योगिकी के समेकित उपयोग हेतु विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्रयत्न किए जा रहे हैं तथा इस दिशा में हमने बहुत सफलता भी प्राप्त कर ली है, परन्तु संधारणीय विकास के लिए अभी हमें बहुत विवेकपूर्ण कार्य करने होंगे।

निवेदन

समस्त पाठकों से अनुरोध है कि वे 'विज्ञान-गंगा' से सम्बन्धित अपने महत्वपूर्ण विचार एवं सुझाव प्रेषित करने का कष्ट करें। उसे हम पत्रिका में प्रकाशित करेंगे।

—सम्पादक

पुस्तक समीक्षा

यदि आप अपनी प्रकाशित पुस्तकों की समीक्षा 'विज्ञान-गंगा' में प्रकाशित करवाना चाहते हों तो कृपया पुस्तक की दो प्रति प्रेषित करने का कष्ट करें।

—सम्पादक

हरित नैनोकम्पोजिट : भविष्य के पदार्थ

डॉ0 (श्रीमती) अंजलि बाजपेयी*

विभिन्न क्षेत्रों में प्लास्टिक

पदार्थ विज्ञान के क्षेत्र में पिछले पाँच दशकों में युगान्तरकारी विकास हुए हैं। पिछली शताब्दी के मध्य के दशकों में विज्ञान-गल्प में वर्णित कल्पनातीत विवरणों की वास्तविकता में परिणति उल्लेखनीय हैं। आधुनिक पदार्थ विज्ञान द्वारा मानव के जीवन स्तर में गुणात्मक विकास हुए हैं। हर क्षेत्र में सफलता स्पष्ट दृष्टव्य है, चाहे वह खाद्यान्न की उपलब्धता हो, रंग-बिरंगे वस्त्रों की विविधता हो, यातायात की सुगमता हो, मनोरंजन के साधनों की विभिन्न क्षेत्रों में प्लास्टिक पदार्थ प्रचुरता हो, सुदूर संवाद की सहजता हो, गृह निर्माण एवं साज-सज्जा की सामग्री की बहुलता हो, प्रसाधनों द्वारा सौन्दर्य का वरदान हो या चिकित्सा के चमत्कार हों। एक सामान्य बौद्धिक स्तर के मनुष्य के लिये अकल्पनीय संसाधन आज सहज उपलब्ध हैं।

निःसंदेह मनुष्य की सृजनशील प्रकृति स्वप्नों को साकार रूप देने में समर्थ है। उपभोक्ता संस्कृति के प्रवाह में यदि हम केवल वर्तमान में ही लुब्ध रहेंगे, तो संभवतः भावी पीढ़ी के प्रति अन्याय के भागी होंगे। नितान्त व्यावसायिक बुद्धि से संसाधनों का अन्धाधुन्ध दोहन द्रुत गति से उनका क्षरण कर रहा है। आज की उपयोगी वस्तु कल के लिये कबाड़ हो जाती है। यदि विवेकपूर्ण कार्ययोजना तैयार न की जाये, तो अपशिष्टों का निपटान एक विकराल समस्या का रूप धारण कर लेगा।

पिछली शताब्दी के द्वितीयार्द्ध में संश्लेषित बहुलकों (सामान्य प्रचलित शब्द 'प्लास्टिक') ने उपभोक्ता बाजार पर वर्चस्व स्थापित कर लिया। कारण स्पष्ट है, प्लास्टिक के अद्वितीय गुणों की असाधारण रेन्ज के कारण विविध, नूतन एवं जटिल डिजाइनों तथा उपयोगिता की सामग्री का औद्योगिक निर्माण अत्यंत सस्ता एवं सहज है। सस्ते मूल्य पर उपलब्ध पेट्रोलियम पर आधारित प्लास्टिक पदार्थों की जैव-रासायनिक निष्क्रियता ने इनकी लोकप्रियता में मुख्य भूमिका निभाई। दैनन्दिन उपयोग के प्रचलन में लगभग पचास वर्ष के उपरान्त जब हम इनके आदी हो चुके हैं, इनके दोष स्पष्ट होने लगे हैं। पेट्रोलियम के स्रोत तीव्र गति से समाप्ति की ओर अग्रसर हैं। उपयोग के उपरान्त प्लास्टिक अपशिष्ट की जैव अपघटनीय प्रकृति पर्यावरण के लिये खतरा बनती जा रही है।

प्रकृति द्वारा उत्पन्न पदार्थों के क्षरण एवं पुनर्चक्रीकरण की संपूर्ण प्राकृतिक व्यवस्था होती है। संश्लेषित पदार्थों के पुनर्चक्रीकरण की कार्यविधि प्राकृतिक पर्यावरण में उपलब्ध नहीं होती है। अतः निर्माणकर्ता को ही संहारण की तकनीक भी विकसित करनी होगी। मानव निर्मित पदार्थों की विविधता के परिपेक्ष में यह अत्यंत जटिल एवं दुस्साध्य लक्ष्य है। विकासशील देशों की तुलना में विकसित देश अनेक गुना अधिक अजैवअपघटनीय एवं हानिकारक अपशिष्ट उत्पन्न करते हैं। अपनी समस्या के स्थानान्तरण के लिये इस प्रकार के अपशिष्टों को पुनर्चक्रण के नाम पर विकासशील देशों को निर्यात कर देने की प्रथा चल पड़ी है। पृथ्वी के पर्यावरण के लिये असुरक्षित अपशिष्ट पर्यावरणविदों के लिये चुनौती स्वरूप हैं।

सामाजिक प्रतिबद्धता एवं दूरगामी परिणामों की गहरी सोच वाले संवेदनशील वैज्ञानिक ऐसे पदार्थ एवं तकनीक विकसित करने में संलग्न हैं, जो धारणीयता (सस्टेनेबिलिटी), औद्योगिक मितव्ययिता, पर्यावरणीय दक्षता एवं हरित रसायन में सामंजस्य स्थापित कर सके। इक्कीसवीं सदी में पृथ्वी की हरियाली के संरक्षण हेतु नूतन, पर्यावरण हितैषी, पुनर्नवीकरणीय कृषि एवं जैव पदार्थों पर आधारित उत्पादों हेतु शोध कार्य निरन्तर जारी हैं। आशा की जाती है कि शीघ्र ही इस प्रकार के पदार्थ पेट्रोलियम-आधारित उत्पादों के बाजार पर आधिपत्य को चुनौती देने में सक्षम होंगे।

प्राकृतिक बहुलक (पालीसैकेराइड, प्रोटीन इत्यादि) पुरातनकाल से मानवीय उपयोग हेतु प्रयुक्त होते रहे हैं। विश्व के विभिन्न संग्रहालयों के अवलोकन से स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं। विभिन्न वस्तुओं में रेशम, चमड़ा, अस्थि, कागज आदि का प्रयोग किया जाता रहा है। दो या अधिक पदार्थों के सम्मिश्रण से कम्पोजिट का निर्माण किया जाता है। कम्पोजिटों का इतिहास संश्लेषित बहुलकों से कहीं अधिक प्राचीन हैं। बाइबिल में विवरण मिलता है कि मोजेस की माता ने जलबेंत, तारकोल एवं पंक (कीचड़) की सहायता से धनुष बनाया था। आधुनिक वर्गीकरण में इसे रेशा प्रबलित (Fibre-reinforced) कम्पोजिट कहा जा सकता है। चीनी किलों के निर्माण में चावल का मांड, शक्कर, चूना एवं रेत से बने कम्पोजिट प्रयुक्त किये जाते थे। प्राचीन भारतीय महलों एवं दुर्गों के निर्माण में कम्पोजिट पदार्थों में उड़द की दाल के उपयोग का उल्लेख मिलता है।

आधुनिक युग में विगत कई वर्षों से कम्पोजिट प्रयुक्त किये जा रहे हैं

*प्राध्यापक, रसायनशास्त्र, शासकीय आदर्श विज्ञान महाविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.).

और उनका बाजार निरन्तर बढ़ रहा है। इन कम्पोजिटों में संश्लेषित बहुलकों के साथ एक या अधिक पूरकों का इस्तेमाल किया जाता है, जैसे-चूना, काँच तंतु, टॉल्क, काओलिन, माइका, वालस्टोनाइट, सिलिका, ग्रेफाइट, संश्लेषित रेशे, कार्बन फाइबर इत्यादि। इन कम्पोजिटों की प्रमुख कमी यह है, कि दो या अधिक भिन्न-भिन्न घटकों की उपस्थिति के कारण इनका पुनर्चक्रीकरण लगभग असंभव हो जाता है। अतः उन्हें या तो अनुपचारित रूप में फेंक दिया जाता है या जला दिया जाता है। ये दोनों ही विधियाँ पर्यावरण के लिये असुरक्षित हैं।

हरित रसायन का महत्वपूर्ण लक्ष्य कच्चे माल का अधिकतम क्षमता में उपयोग एवं न्यूनतम अपशिष्ट निर्माण है। कच्चे माल के रूप में प्राकृतिक पुनर्नवीकरणीय पदार्थों के प्रयोग का रुझान इसी लक्ष्य की पूर्ति हेतु बढ़ रहा है। प्राकृतिक बहुलकों के बहुविध अनुप्रयोग हैं, यथा रेशों के रूप में, गोंद, आवरण या लेप, जेल, फोम, फिल्म, थर्मोप्लास्टिक एवं थर्मोसेटिंग रेजिन इत्यादि। प्राकृतिक उत्पादों की मुख्य कमियाँ उनके जल स्नेही गुण, द्रुत अपघटन एवं असंतोषजनक यांत्रिक गुण (विशेषतः आर्द्र वातावरण में) होते हैं। अधिकांश प्राकृतिक बहुलक उच्च ताप पर स्थायी नहीं होते हैं। सिद्धान्ततः, प्राकृतिक बहुलकों के गुणधर्म संश्लेषित बहुलकों के साथ सम्मिश्रण (Blending) द्वारा परिष्कृत किये जा सकते हैं। ब्लेंडिंग एक सस्ती एवं बहुपयोगी तकनीक है, जिसमें दो या अधिक पदार्थों के सम्मिश्रण से घटकों के गुणों में यद्यपि क्रांतिकारी परिवर्तन तो नहीं होता, किन्तु ब्लेंड या कम्पोजिट की कार्य निष्पादन क्षमता में उल्लेखनीय सुधार हो जाता है। संश्लेषित बहुलकों का रासायनिक वैविध्य एवं चमत्कारिक गुण अतिविशिष्ट होते हैं। वस्तुतः उनके गुणों एवं प्रकारों की सीमा रेखाएँ प्राकृतिक बहुलकों की तुलना में कहीं अधिक व्यापक हैं। संश्लेषित बहुलक बृहत पैमाने पर कम मूल्य में बनाये जा सकते हैं। इनके साथ प्राकृतिक या जैव बहुलकों (रेशों) की ब्लेंडिंग द्वारा उत्पाद के गुणों के परिष्कार की असीमित संभावनाएँ बनती हैं।

प्राकृतिक रेशे पौधों के विभिन्न भागों से प्राप्त किये जाते हैं, जैसे :

1. तने की आंतरिक छाल जो पौधे की पूरी लंबाई में विस्तृत होती है, उदाहरण - जूट, फ्लेक्स, रेमी आदि।
2. पत्तियों के रेशे – उदाहरण केला, सीसल, अनानास आदि।
3. बीजों के केशीय रेशे – नारियल की जटा, कपास आदि।
4. मज्जा या गूदा – कुछ पौधों के अन्दरूनी हल्के एवं स्पंजी भाग, जैसे – जूट, केनाफ आदि।
5. जड़ों एवं पौधों के अन्य भागों, जिनका ऊपर उल्लेख नहीं है, से प्राप्त रेशे।

प्राकृतिक/वानस्पतिक रेशों को पूरक के रूप में उपयोग कर बनाये जाने वाले कम्पोजिट वाहन उद्योग, हवाई परिवहन, पैकेजिंग, फर्नीचर, खिड़की-दरवाजों के चौखट, रेलमार्ग के स्लीपर एवं अन्य औद्योगिक सामग्रियों के निर्माण में उत्तरोत्तर लोकप्रिय हो रहे हैं।

वाहन उद्योग में हरित कम्पोजिटों के प्रयोग का श्रेय मर्सीडीज-बेन्ज को दिया जाता है, जिन्होंने पिछली सदी के नब्बे के दशक में जूट के रेशों का प्रयोग द्वार-पैनलों के निर्माण में किया। इस अनुकरणीय उदाहरण से प्रेरित होकर अन्य कार निर्माताओं ने कारों के निर्माण में प्राकृतिक कार्बनिक पूरकों का प्रयोग प्रारंभ कर दिया। पर्यावरण मैत्री के साथ भार का हल्कापन, प्रचुर उपलब्धता, कम मूल्य, उच्च तन्यता गुणांक इनके लाभकारी गुण हैं। रेशों के अतिरिक्त कार्बनिक पूरक अनुपयोगी पदार्थों से भी प्राप्त किये जा सकते हैं, जैसे-लकड़ी का बुरादा, गन्ने की खोई, भुट्टे के ठूँठ, गेहूँ या धान का भूसा आदि। खनिज पूरकों की तुलना में इन पदार्थों के अनेक लाभ हैं। वे प्रोसेसिंग मशीनों के प्रति अत्यल्प घर्षण उत्पन्न करते हैं जिससे उत्पादन में लगे श्रमिकों के लिये हानिकारक नहीं होते और श्वसन संबंधी समस्या भी उत्पन्न नहीं करते। ये उपयोग के उपरांत आसानी से भस्मीकृत किये जा सकते हैं। साथ ही हल्के होते हैं और बेहतर तापीय व ध्वनि अवरोधन के गुण प्रदर्शित करते हैं।

विगत 10 वर्षों से वैज्ञानिक ''इकोकम्पोजिट'' या ग्रीन कम्पोजिटों के निर्माण में जुटे हैं। इस प्रकार के पहले प्रयास में पॉलीऑलिफिन (जिनका पुनर्चक्रीकरण किया जा सकता है) के साथ प्राकृतिक कार्बनिक पूरकों का प्रयोग किया गया। डिब्बाबंद भोज्य पदार्थों के उपयोग के उपरान्त खाली डिब्बों, दूध की खाली बोतलों, ग्रीन हाउस की बेकार हुई फिल्मों आदि के

चित्र कार निर्माण में प्रयुक्त पदार्थ

पुनर्चक्रण से प्राप्त बहुलकों का भी कम्पोजिटों में प्रयोग किया गया। इनमें प्राकृतिक कार्बनिक पूरकों को समान्यतः 40-70 प्रतिशत मिलाया जाता है, परिणामतः कठोरता एवं लोच समार्थ्यता बढ़ जाती है, किन्तु तन्यता में कमी आती है। इस समस्या के निदान हेतु संश्लेषित बहुलक पर ध्रुवीय समूहों की ग्राफ्टिंग की जाती है, जिससे विभिन्न घटकों की परस्पर आसंजन क्षमता बढ़ जाती है। प्राकृतिक रेशों का रासायनिक उपचार करने पर वे छोटे-छोटे तंतुओं में विभक्त हो जाते हैं और उपचार में समुपयुक्त रसायन प्रयुक्त कर आर्द्रताशोषक गुण, सतह की गुणवत्ता, ताप सहनीयता, आयामी स्थिरता आदि गुणों में अपेक्षित सुधार किया जा सकता है।

दुर्भाग्यवश ये हरित कम्पोजिट भी पूर्णरूपेण मित्र नहीं होते हैं, क्योंकि इनके पुनर्चक्रीकरण की कुछ सीमाएँ हैं, यथा पुनर्चक्रण के दौरान ताप 200^0C से अधिक होने पर विखण्डन प्रारंभ हो जाता है एवं गुणों का ह्रास होने लगता है। दूसरा-प्राकृतिक पूरक जलस्नेही होते हैं तथा संश्लेषित बहुलकों का आव्यूह (Matrix) जालावरोधी होता है। अतः इनमें पूरी तरह सायुज्य एवं अंतरसतह आसंजन न होने के कारण बीच-बीच में कुछ स्थान बचा रहता है, जिसके कारण यांत्रिक सामर्थ्यता में कमी आती है। इस स्थिति में सुधार के लिये कुछ उभयधर्मी पदार्थ (जिनमें जलस्नेही एवं जलावरोधी दोनों प्रकार के समूह हो) मिलाये जाते हैं, जो विभिन्न घटकों के साथ सामंजस्य के द्वारा यांत्रिक प्रबलता हो बढ़ा देते हैं।

कम्पोजिट के उपयोग काल के उपरांत प्राकृतिक घटक का जैव अपघटन

हो जाता है, किन्तु संश्लेषित बहुलक अपघटित हुए बिना रह जाता है। अतः पिछले कुछ वर्षों से शत-प्रतिशत पर्यावरण धारणीय एवं जैव अपघटनीय कम्पोजिटों के विकास हेतु प्रयास किये जा रहे हैं। इस हेतु पॉलीसैकेराइड (स्टार्च, काइटिन, कोलेजेन, जिलेटिन आदि), प्रोटीन (केसीन, एल्ब्यूमिन, रेशम, इलास्टिन, सोया प्रोटीन आदि), पॉली एस्टर (पॉलीहाइड्रॉक्सी एल्केनोएट, पॉलीहाइड्रॉक्सी ब्यूटाइरेट, पॉलीलेक्टि अम्ल), लिग्निन, लिपिड, प्राकृतिक रबर, कुछ पॉलीएमाइड, पॉलीविनाइल अल्कोहल, पॉलीविनाइल एसीटेट एवं पॉलीकेप्रोलेक्टोन प्रयुक्त किये जा रहे हैं। इनमें से अधिकांश जैव बहुलक हैं जो आर्द्र वातावरण में इन्जाइमों की क्रिया से अपघटित हो जाते हैं।

नोवामोण्ट कंपनी ने मैटर-बि नामक बहुलक विकसित किये हैं, जो संशोधित स्टार्च एवं संश्लेषित बहुलकों (मुख्यतः पॉलीएस्टर) पर आधारित हैं और भूमि में दबाने की कम्पोस्टिंग विधि से अपघटित हो जाते हैं। पॉलीलेक्टिक अम्ल (मक्के से संश्लेषित) के साथ कई रेशों पर प्रयोग किये जा रहे हैं। अस्थि ऊत्तक अभियांत्रिकी के क्षेत्र में जैव अपघटनीय रोपणों (Implants) की माँग बढ़ रही है। इस हेतु ऐसे पदार्थ आवश्यक होते हैं, जो जैवसंयोज्य (Biocompatible) हों और उनकी सतह पर ऊत्तक का पुनरुद्भवन संभव हो। जैवशोषणीय बहुलक पॉलीलेक्टिक अम्ल के साथ घुलनशील कैल्शियम फॉस्फेट काँच के प्रयोग द्वारा पूर्णतः अपघटनीय पदार्थ विकसित किया गया है, जो अस्थि पुनरुद्भवन की सामर्थ्यता प्रदर्शित करता है।

पूर्णतः जैव अपघटनीय कम्पोजिटों के विकास एवं उपयोग में कुछ बाधाएँ हैं। पहली समस्या है कि परम्परागत उपभोक्ता बहुलकों की तुलना में इनका मूल्य अधिक होता है। यद्यपि उपयोग एवं माँग बढ़ने पर मूल्य घटना संभव है। उदाहरण के तौर पर कुछ कंपनियाँ जेनेटिक अभियांत्रिकी द्वारा रेशम निर्माण के लिये प्रयासरत हैं जिसका जैव अपघट्य पदार्थों में उपयोग किया जा सके। दूसरी एवं अधिक जटिल मूलभूत समस्या पूरकों का एकसार प्रसरण एवं बहुलक आव्यूह के साथ अंतर सतह आसंजन की है, जो उत्पाद के गुणों को प्रभावित करने वाला मुख्य कारक है। इस समस्या का सामाधान विभिन्न घटकों को रासायनिक उपचार द्वारा संयोज्य बनाने का है, किन्तु यह प्रविधि सहज एवं सस्ती नहीं है। इन समस्याओं का निदान 'ग्रीन' नैनोकम्पोजिटो के रूप में खोजा रहा है। पॉलीसैकेराइड नैनोक्रिस्टलों एवं सैल्यूलोज नैनोव्हिस्कर्स के प्रयोग से कम्पोजिटों की यांत्रिक सामर्थ्यता बहुगुणित हो जाती हैं। नैनोक्रिस्टल काइटिन एवं स्टार्च के अम्लीय जल अपघटन से प्राप्त किये जा सकते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सेल्यूलोज पेड़-पौधों में पाया जाता है तथा सर्वाधिक प्रचुर पुनर्नवीकरणीय प्राकृतिक पदार्थ है।

दूसरे स्थान पर काइटिन है, जो कीड़ों, मकोड़ों, घोघों, फफूँद, काई आदि में पाया जाता है। यह समुद्री भोज्य सामग्री का प्रमुख अपशिष्ट है। काइटिन के असाधारण रासायनिक एवं जैविक गुणों के कारण इसके अनेक औद्योगिक एवं चिकित्सकीय अनुप्रयोग हैं। यद्यपि इसके गुणों की तुलना में इसका पर्याप्त उपयोग वर्तमान में नहीं हो रहा है, किन्तु इसकी उच्च कार्य क्षमता को देखते हुए इसके उपयोग हेतु अनेक शोध हो रहे हैं।

सेल्यूलोज नैनोफाइबर्स अनेक अद्वितीय गुण प्रदर्शित करते हैं। आयतन की तुलना में सतहीय क्षेत्रफल बहुत अधिक होते हैं। इनके कुछ विशिष्ट गुण, यथा उत्तम यांत्रिक गुण, उच्च यंग मॉडयूल्स, उच्च तन्यता सामर्थ्य, निम्न

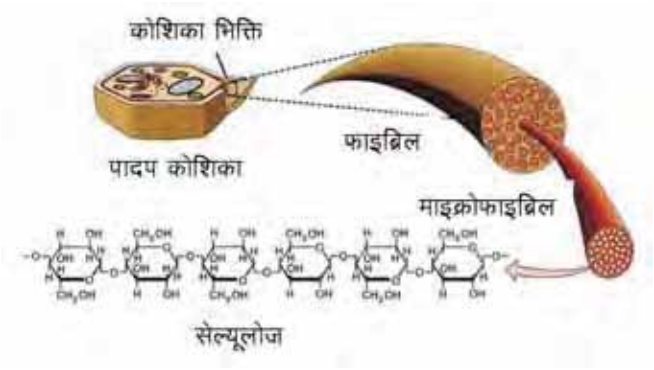

तापीय प्रसार गुणांक, अत्यंत संरंध्र जालिका का निर्माण आदि होते हैं जो अन्य व्यावसायिक रेशों में उपलब्ध नहीं हैं। हाइड्रोजन बन्ध बनाने की क्षमता के कारण सेल्यूलोज में पराआण्विक संरचनाएँ बनती हैं, जो इनके भौतिक एवं रासायनिक गुणों का निर्धारण करती हैं। अतः प्रकृति में पाये जाने वाले सेल्यूलोज की आण्विक श्रृंखलाएँ असंख्य अंतः एवं अन्तराणुक हाइड्रोजन बन्धों द्वारा दृढ़ता से परस्पर आबद्ध होती हैं। यही कारण है कि सेल्यूलोज जल एवं अधिकांश कार्बनिक विलायकों में अविलेय होता है। सेल्यूलोज की यह उच्च दृढ़प्रकृति कम्पोजिटों में प्रबलीकरण के लिये अत्यधिक उपयुक्त है। नैनोफाइबर बनाने के लिये दृढ़ता से आबद्ध श्रृंखलाओं को पृथक करना आवश्यक है। इस हेतु सेल्यूलोज रेशों को आयनिक द्रवों में माइक्रोवेव ऊर्जा से घोलकर नैनोफाइबर बनाने की विधि विकसित की जा रही है। नैनोफाइबर्स का पालीमर आव्यूह में विसरण एवं आसंजन समांगी रूप से संभव हो सकता है, परिणामतः बने नैनोकम्पोजिट अत्यंत उत्कृष्ट एवं विशिष्ट गुण प्रदर्शित करते हैं।

पूर्णतः सेल्यूलोज पर आधारित नैनोकम्पोजिटों में सेल्यूलोज नैनोफाइबर्स को पुनरूद्भवित सेल्यूलोज आव्यूह में विसरित कर असामान्य रूप से पारदर्शी, उच्च यांत्रिक क्षमता युक्त, अविशाक्त, जैव अपघटनीय 'हरित नैनोकम्पोजिट' का विकास किया गया है।

मानवीय स्वभाव है कि एक बार समस्या एवं उसका कारण स्पष्ट हो जाये तो उसके निदान के लिये नूतन आविष्कार कर ही लेता है। आशा है कि इस सदी के मध्य तक पेट्रोलियम पदार्थों पर निर्भरता समाप्त कर पृथ्वी के लिये वरदान स्वरूप सौर ऊर्जा से प्राप्त होने वाले पुनर्नवीकरणीय पदार्थों से ही वैज्ञानिक जैव अपघटनीय पदार्थ विकसित कर लेंगे, जो संश्लेषित प्लास्टिकों के उपयोग को पूर्णतः प्रतिबंधित करने में सहायक होंगे।

लेख आमंत्रण सूचना

विज्ञान-गंगा के आगामी अंक-8 के लिए विज्ञान लेखकों, शिक्षकों, अनुसंधानकर्त्ताओं एवं विज्ञान प्रेमियों से सरल हिन्दी भाषा में रुचिकर, ज्ञानवर्द्धक व जनोपयोगी लेख आमंत्रित किये जाते हैं। लेख के साथ सुसंगत छायाचित्रों, सारिणियों एवं रेखाचित्रों को यथा स्थान स्थापित कर प्रेषित कर सकते हैं।

साइटोनेमीन : बहुउद्देश्यीय वाह्यकोशिकीय रंगद्रव्य

जैनेन्द्र पाठक[1], ऋचा[2], विनोद कुमार कन्नौजिया[1], रजनीश[1], अरुण श्याम सोनकर[1] एवं प्रो0 राजेश्वर प्रसाद सिन्हा[3]*

पृथ्वी की उत्पत्ति 3.5 खरब वर्ष पूर्व हुई थी। शुरुआती वातावरण ऑक्सीजनरहित था एवं वायुमंडल भी मौजूद नहीं था। अतः धरा लगातार पराबैंगनी विकिरण के संपर्क में थी। 2.2 खरब वर्ष पूर्व नील-हरित शैवालों का पदार्पण हुआ और उन्हीं के द्वारा सर्वप्रथम प्रकाशसंश्लेषण की शुरुआत हुई। पराबैंगनी विकिरण से बचाव हेतु एवं अपने उत्तरजीविता के लिए नील-हरित शैवालों ने अनेक प्रकार के बचाव पद्धतियों को विकसित किया। धीरे-धीरे वायुमंडल का निर्माण हुआ। प्रकृति के विभिन्न घटकों में एक सामंजस्य स्थापित हुआ, तत्पश्चात जीवन का संचार प्रारम्भ हुआ एवं विभिन्न जीवों का प्रादुर्भाव हुआ।

फिर मनुष्य की उत्पत्ति हुई और समय के साथ प्रकृति द्वारा निर्मित मनुष्य ने प्रकृति को ही चुनौती देना शुरू कर दिया एवं मनमाने तरीके से पृथ्वी के संसाधनों का दोहन करना शुरू किया। परिणामस्वरूप, पर्यावरण के विभिन्न घटकों का आपस में जो सुनियोजित सामंजस्य था, वह बिगड़ता चला गया। विभिन्न प्रकार के प्रदूषणों से वातावरण में बदलाव आते गए। मनुष्यों द्वारा उत्सर्जित ग्रीन हाउस गैसें, उदाहरणतः क्लोरोफ्लोरोकार्बन, क्लोरोकार्बन तथा ऑर्गेनोब्रोमाइड आदि का स्तर तय मानक के ऊपर पहुँच गया, जिसके कारण धरती की सुरक्षा कवच ''ओजोन परत'' क्षरित हो रही है। ओजोन परत हानिकारक पराबैंगनी विकिरणों को धरती पर आने से रोकती है। इसके क्षरण से पराबैंगनी विकिरण, विशेषतः पराबैंगनी-बी (280-315 नैनोमीटर) में वृद्धि दर्ज की गयी है।

बढ़ते प्रदूषण से अंटार्कटिक एवं आर्कटिक क्षेत्र में ओजोन छिद्र लगातार बढ़ रहा है जिसके कारण पराबैंगनी-बी किरणों की वृद्धि धरती पर 1.5-2.0 वाट प्रति वर्ग मीटर तक पहुँच गई है। पराबैंगनी-बी किरणों की उच्च ऊर्जा आसानी से प्रोटीन, डी.एन.ए. एवं अन्य जैविक प्रासंगिक अणुओं को नष्ट कर देती है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार, इन हानिकारक पराबैंगनी विकिरणों से प्रतिवर्ष लगभग 60,000 लोगों की मृत्यु होती है। उनमें से 48,000 लोग घातक मेलानोमा एवं 12,000 लोगों की अन्य प्रकार के त्वचा कैंसर से मृत्यु होती है।

परन्तु कुछ ऐसे प्रकाशसंश्लेषक जीव, उदाहरणतः नील-हरित शैवाल, भी प्रकृति में मौजूद हैं जो इन घातक पराबैंगनी विकिरणों के कुप्रभाव से बचने के लिए प्रतिक्रिया तंत्र विकसित कर लेते हैं। उदाहरणतः, डी.एन.ए. की मरम्मत प्रक्रिया, पराबैंगनी परिहार व्यवहार एवं विकिरण अवशोषित करने वाले वर्णकों (उदाहरणतः, माइकोस्पोरिन एवं माइकोस्पोरिन सदृश अमाइनों एसिड तथा साइटोनेमीन जैसे यौगिक) का संश्लेषण। यह शोध-पत्र मुख्यतः पराबैंगनी विकिरण की विषाक्तता कम करने वाले प्राकृतिक रंगद्रव्य ''साइटोनेमीन'' तथा उसकी उपयोगिता पर केन्द्रित है।

परिचय

साइटोनेमीन एक भूरे एवं पीले रंग का लिपिड में घुलनशील वर्णक है, जो सिर्फ कुछ गिने-चुने नील-हरित शैवालों के वाह्यकोशिकीय बहुशर्कराइड की परत में स्थित होता है (चित्र 1)। नील-हरित शैवालों के कुल कोशिकीय भार का 5 प्रतिशत हिस्सा साइटोनेमीन होता है।

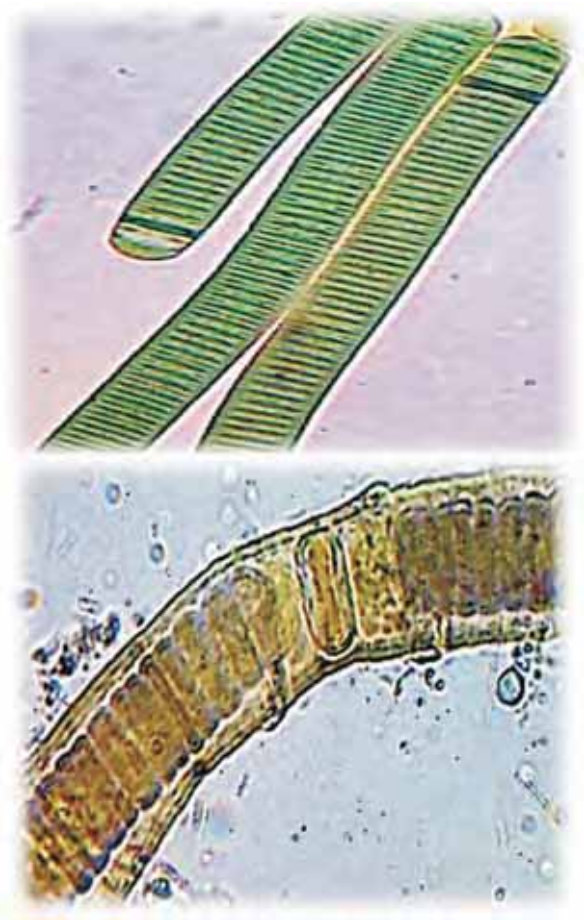

चित्र 1 : नील-हरित शैवाल *लिंगबिया* एवं उसमें पाये जाने वाला वाह्यकोशिकीय रंगद्रव्य साइटोनेमीन

* [1]शोध छात्र, [2]शोध छात्रा एवं [3]आचार्य, फोटोबायोलॉजी एवं आणविक सूक्ष्मजीव विज्ञान प्रयोगशाला, उच्चानुशीलन केंद्र, वनस्पति विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी – 221 005.

ISSN 2231-2455

साइटोनेमीन ऑक्सीकृत (हरा) एवं अपचयित (लाल) रूपों में पाया जाता है जिन्हें हम क्रमशः फुसकोक्लोरिन एवं फुसकोरोडिन कहते हैं। इन दो रूपों का अस्तित्व निकासी की प्रक्रिया के दौरान रेडॉक्स एवं अम्ल तथा क्षार की स्थितियों पर निर्भर करता है।

संरचना

साइटोनेमीन एक डाईमर है, जो कि इंडोलिक एवं फिनोलिक सबयूनिटों से मिलकर बना है (चित्र 2)। इसका आणविक भार 544 डाल्टन है। ये दो सबयूनिट एक ओलिफीनिक कार्बन से जुड़े होते हैं, जो कि प्राकृतिक उत्पादों में अद्वितीय है। प्रकृति में पाई जाने वाली इस संरचना को ''साइटोनेमैन स्कैलेटन'' की संज्ञा दी गयी है। हाल ही में नील-हरित

साइटोनेमीन की जीनोमिक संरचना एवं जैवसंश्लेषण

साइटोनेमीन जीन समूह में 18 ओपेन रीडिंग फ्रेम पाए गए हैं जिनमें 8 जीन ट्रिप्टोफान एवं टाईरोसीन अमाइनों अम्ल की संश्लेषण के अग्रदूत बनते हैं। साइटोनेमीन का संश्लेषण ऐरोमैटिक अमाइनो अम्ल, जैसे ट्रिप्टोफान एवं टाईरोसीन के मेटाबोलाइट्स द्वारा होता है। पराबैंगनी विकिरण-ए साइटोनेमीन के संश्लेषण के उत्प्रेरण में बहुत सहायक होती है।

प्रकाश संरक्षण में साइटोनेमीन

साइटोनेमीन पराबैंगनी विकिरण के सनस्क्रीन के रूप में कार्य करता है। इसका अधिकतम अवशोषण पराबैंगनी विकिरण-ए के वर्णक्रमीय

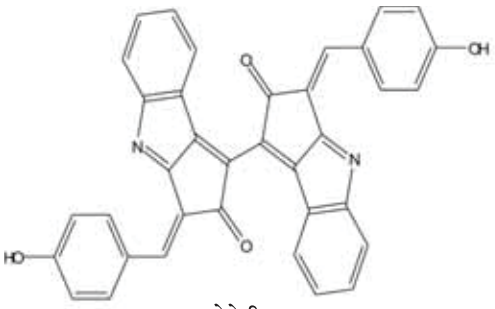

साइटोनेमीन

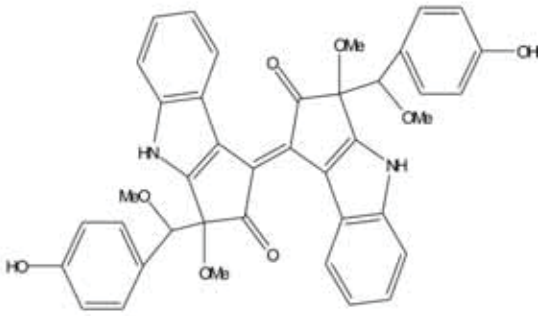

टेट्रामिथौक्सीसाइटोनेमीन

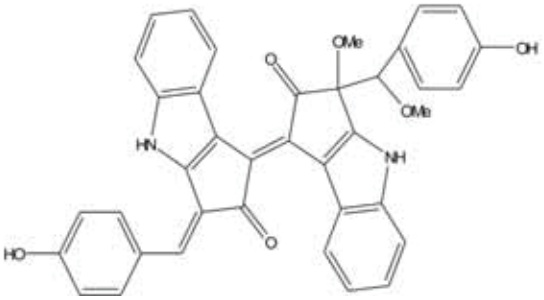

डाईमिथौक्सीसाइटोनेमीन

शैवाल *साइटोनीमा* के जैविक अर्क से ''साइटोनेमैन स्कैलेटन'' द्वारा ही संश्लेषित होने वाले तीन नए रंगद्रव्य पाए गए हैं। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं -

1. डाईमिथौक्सीसाइटोनेमीन
2. टेट्रामिथौक्सीसाइटोनेमीन
3. साइटोनिन

साइटोनेमीन की अन्य प्रमुख संरचनीय विशेषताएँ हैं :

- काईरल कार्बन की अनुपस्थिति
- अनेक विच्छेदन बिंद एवं

फिनोलिक समूह, जो आसानी से संशोधित हो जाते हैं।

सीमा में पाया जाता है। अतः इसे सनस्क्रीन के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। शुद्ध साइटोनेमीन का अधिकतम अवशोषण 386 नैनोमीटर पर होता है, लेकिन इसके अतिरिक्त यह 252, 278 और 300 नैनोमीटर पर भी अवशोषित होता है।

पर्यावरण तनाव से सुरक्षा में साइटोनेमीन

साइटोनेमीन अत्यधिक स्थायी होता है एवं बिना किसी चयापचय निवेश के अपनी सनस्क्रीन गतिविधि प्रदर्शित करता है। लंबे समय की कोशिकीय निष्क्रियता की स्थिति में, जब अन्य सुरक्षा तंत्र अप्रभावी होते हैं, ऐसी स्थिति में भी साइटोनेमीन कोशिकीय बचाव का कार्य करते हैं। यह शुष्कन, पोषण तत्व (उदाहरणतः लौह, मैग्नीशियम एवं नाईट्रोजन

चित्र 3 : साइटोनेमीन के औषधीय गुण एवं इसका नैदानिक अनुप्रयोग

स्रोत) की कमी की स्थिति, तापीय तनाव एवं ऑक्सीकृत तनाव की स्थिति में संश्लेषित होते हैं एवं कोशिका की सुरक्षा में सहायक होते हैं।

पारिस्थितिक महत्व

नील-हरित शैवालों द्वारा पत्थरों एवं इमारतों पर निर्मित जैवझिल्ली, इन इमारतों एवं पत्थरों की जैविक अपक्षय का कारण होती हैं। इन इमारतों एवं पत्थरों पर साइटोनेमीन संश्लेषण करने वाले नील-हरित शैवाल मुख्य रूप से पाए जाते हैं। साइटोनेमीन, भू-वैज्ञानिक नमूनों में, सूक्ष्मजीवीय प्रसार पर पराबैंगनी विकिरण के प्रभाव के विषय में, एक मार्कर के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। जब शुष्कता बढ़ती है तो उन क्षेत्रों में भी मरुस्थल का विस्तार होने लगता है जहाँ पूर्व में वनस्पतियाँ होती थीं, ऐसी स्थिति में साइटोनेमीन का संश्लेषण बढ़ जाता है। इसका प्रयोग मरुस्थल के विस्तार के संकेत के रूप में भी किया जा सकता है। बायोम परिवर्तन का पता लगाना पैलिओक्लाईमैटोलाजी विषय का महत्वपूर्ण कार्य है। साइटोनेमीन उत्पादन के संरक्षित रिकॉर्ड जलवायु पुनर्निर्माण का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हो सकता है। साइटोनेमीन संश्लेषण करने वाले नील-हरित शैवालों को रेगिस्तानी इलाकों में असंघटित रेत मिट्टी में जैव संचार हेतु प्रयोग में लाया जा सकता है। साइटोनेमीन के दूसरे रूप, डाईमिथौक्सीसाइटोनेमीन एवं टेट्रामिथौक्सीसाइटोनेमीन और उनके लौह (III) कांप्लेक्स लौह बहुल क्षेत्रों में पाए गए हैं। इन काम्प्लेक्सों का प्रयोग अन्तरिक्ष एवं अन्य ग्रहों, उदाहरणतः मंगल आदि ग्रहों पर जीवन की उपस्थिति को खोजने में प्रयोग किया जा सकता है।

साइटोनेमीन की संरचना नौसटोडाईओन-ए से मिलती है। अन्य एंटीप्रोलिफिरेटिव एवं एंटीइन्फ्लामेट्री यौगिकों से इसकी समानता, इसको एक महत्वपूर्ण औषधीय यौगिक बनाती है। साइटोनेमीन में प्राकृतिक सनस्क्रीन एवं अन्य चिकित्सकीय अवयवों की संभावित भूमिका की अपार संभावनाएँ हैं। इसका प्रयोग पराबैंगनी विकिरण से सुरक्षा के अलावा एंटीइन्फ्लामेट्री एवं एंटीऑक्सीडेंट के रूप में सौन्दर्य प्रसाधन तथा दवा उद्योगों में किये जाने की संभावना है। साइटोनेमीन को जस्ता, चाँदी एवं लौह के साथ संयुग्मित करके नैनोंकण बनाये जा सकते हैं एवं इन नैनोंकणों की सनस्क्रीन क्षमता एवं औषधीय उपयोगों पर शोध किया जा सकता है।

साइटोनेमीन दोहरी काईनेस की निषेधात्मक गतिविधि दर्शाता है एवं इसका प्रयोग अत्यधिक सूजन और इसके प्रसार संबंधी विकार के उपचार में किया जा सकता है। मानव में टी-सेल ल्यूकेमिया की कोशिकाओं में प्रसार को साइटोनेमीन धीमा कर अपोप्टोसिस को प्रेरित करता है और यह कोशिका-चक्र को भी नियमित करने में सहायक है। अतः यह कर्क रोग को रोकने में सहायक हो सकता है।

साइटोनेमीन की डाईमेरिक संरचना को हाईपरइन्फ्लामेट्री विकारों के उपचार के लिए प्रयोग किया जाता है और यह अधिक शक्तिशाली एवं चुनिंदा काईनेस निरोधों के विकास के लिए एक मूल्यवान टेम्पलेट हो सकता है।

उपरोक्त सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि विभिन्न प्राकृतिक उत्पादों के बीच अद्वितीय, साइटोनेमीन एक बहुउद्देश्यीय यौगिक है। इस अनोखे रंगद्रव्य का विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में जैसे - प्रकाश संरक्षण, पर्यावरण तनाव से सुरक्षा, पारिस्थितिक विज्ञान, भूविज्ञान, अन्तरिक्ष विज्ञान, सौंदर्य प्रसाधन एवं औषधि उत्पादन आदि के क्षेत्रों में सफलता से हो सकता है (चित्र 3)। अतः साइटोनेमीन के उपयोग पर व्यापक शोध की आवश्यकता है।

डिजिटल पुस्तकालयः पारम्परिक पुस्तकालय का नया स्वरूप

रोहित सिंह*

डिजिटल पुस्तकालय

बिना पुस्तकों के पुस्तकालय की अवधारणा, कम्प्यूटर पठनीय सूचना की अवधारणा या डिजिटल पुस्तकालयों की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए समय-समय पर विभिन्न कार्य किये गये हैं। विभिन्न समयों में प्रचलित शब्दावलियों में कागजरहित पुस्तकालय, इलेक्ट्रॉनिक पुस्तकालय, आभासी पुस्तकालय, सीमारहित पुस्तकालय और अतिआधुनिक डिजिटल पुस्तकालय आदि शामिल हैं। डिजिटल पुस्तकालय शब्द का उपयोग, एक ऐसी पद्धति या कार्यविधि की ओर संकेत करता है जिसका मुख्य कार्य किसी परम्परागत पुस्तकालय में उपलब्ध सामग्री को इलेक्ट्रॉनिक प्रणाली द्वारा दूरस्थ उपयोक्ता को अभिगम उपलब्ध कराना है। वहीं दूसरी ओर यह व्यावसायिक तथा शैक्षणिक दोनों पद्धतियों का वर्णन भी प्रस्तुत करता है जो अधिकृत उपयोक्ताओं को इलेक्ट्रॉनिक प्रलेखों के विशाल संग्रह तक इलेक्ट्रॉनिक अभिगम प्रदान करने के लिए अभिकल्पित की गई हैं।

डिजिटल पुस्तकालय को कुछ विद्वानों ने अपने शब्दों में परिभाषित किया है :

टेरेंस आर स्मिथ ने डिजिटल पुस्तकालय की परिभाषा देते हुए कहा है, 'लक्ष्यों को धारण करने वाली सूचना का नियंत्रित संग्रह, जो डिजिटल स्वरूप में होता है और जिसको व्यवस्थित किया जा सकता है, जिस तक अभिगम स्थापित किया जा सकता है, जिसका मूल्यांकन किया जा सकता है तथा जिसका डिजिटल तकनीक समर्थित विविध विशेषताओं वाले विस्तारणीय समुच्चय की विभाजित सेवाओं के साधनों से उपयोग किया जा सकता है'। **क्लिफोर्ड लिंच** ने डिजिटल पुस्तकालय की परिभाषा देते हुए कहा है, 'यह उपयोक्ताओं के समाज को डिजिटल सूचना एवं ज्ञान के विशाल तथा व्यवस्थित संग्रहालय तक सुस्पष्ट अभिगम प्रदान करने वाली पद्धति है। डिजिटल पुस्तकालय एक एकल इकाई मात्र नहीं होती, बल्कि विभिन्न साधनों का सीमाहीन एकीकरण है'। हम सामान्य शब्दों में परिभाषित करें तो डिजिटल पुस्तकालय सूचना का वह संग्रह है जो कि संचय और इलेक्ट्रॉनिकी आधारित अभिगम उपलब्ध कराये।

डिजिटल पुस्तकालय और पुस्तकालय

एक परम्परागत पुस्तकालय की सेवाएँ तथा संग्रह का निर्माण इसमें मौलिक रूप से उपलब्ध सामग्री जिसमें पुस्तकें, पत्रिकाएँ, माइक्रोफिल्म आदि टेक्निकल रिपोर्ट, थीसिस एवं डिसरटेशन, मानक तथा पेटेन्ट आदि से होते हैं। परम्परागत पुस्तकालय के मौलिक संग्रह से युक्त वातावरण में, उपयोक्ता के लिए यह आवश्यक है कि या तो वह

डिजिटल पुस्तकालय Vs परम्परागत पुस्तकालय

पुस्तकालय में आये या उस प्रलेख का उपयोग करने के लिए वह उसे प्राप्त करे। इसके अलावा किसी भौतिक प्रलेख का एक ही समय में केवल एक ही उपयोक्ता उपयोग कर सकता है। पूरी तरह स्वचालित पुस्तकालय में भी

परम्परागत पुस्तकालय

*सी.एस.आई.आर.–केन्द्रीय इलेक्ट्रॉनिकी अभियांत्रिकी अनुसंधान संस्थान (CEERI), सी.एस.आई.आर. प्रयोगशाला, पिलानी, राजस्थान – 333 031.

पुस्तकालय के उपयोक्ता

पुस्तकालय ओपेक का प्राथमिक कार्य किसी प्रलेख की भौतिक अवस्थिति का संकेत देना होता है। डिजिटल पुस्तकालय उन भौतिक अवरोधों को समाप्त कर देता है, जो परम्परागत पुस्तकालय में होते हैं। साथ ही बहुअभिगम बहुविधि की सूचियों तथा अपने संग्रह का इलेक्ट्रॉनिक सम्प्रेषण भी करता है।

डिजिटल पुस्तकालय की भूमिका

सूचना पुनः प्राप्ति पद्धति को डिजिटल पुस्तकालय के अग्रदूत के रूप में माना जा सकता है। सूचना पुनः प्राप्ति पद्धति लक्ष्य के रूप में खोज तथा पुनः प्राप्ति के लिए उन पुस्तक सूचियों से निर्मित होती है जिनके मूल पाठ की सूचना उनमें भण्डारित होती है। सूचना पुनः प्राप्ति पद्धति में डेटा एन्ट्री करते समय या प्रश्न की तलाश करते समय की गई गलती का परिणाम गलत निकलेगा। डिजिटल पुस्तकालय, इसके विपरीत, प्रतिरूप खोज तथा अशुद्ध समानता पर आधारित है। सूचना पुनः प्राप्ति पद्धति जहाँ केवल मेटाडेटा अभिगम ही प्रदान करती है, डिजिटल पुस्कालय, वहीं मेटाडेटा तथा पूर्ण डेटा का अभिगम प्रदान करती है।

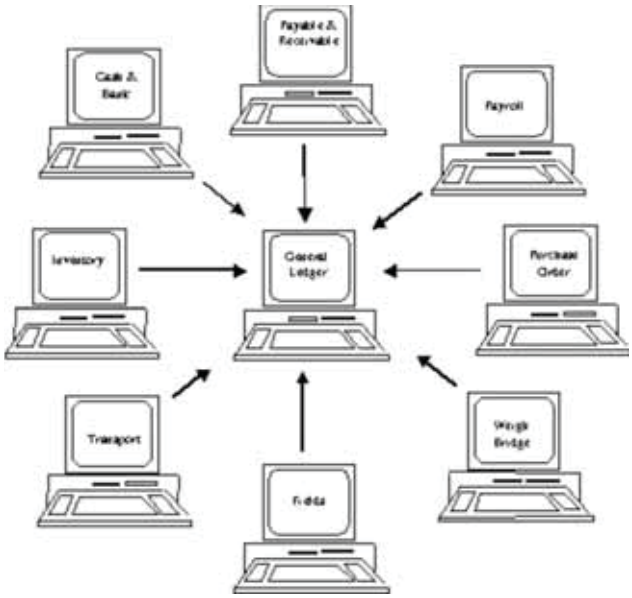

डिजिटल पुस्तकालय का नेटवर्क

डिजिटल पुस्तकालय का मुख्य उद्देश्य उन सूचना प्रणालियों को प्रोत्साहित एवं विकसित करना होता है जो उनसे सम्बद्ध सूचना सामग्री का अभिगम उपलब्ध कराती है। आने वाले समय में डिजिटल पुस्तकालयों का ही युग आयेगा। सूचना सेवा के क्षेत्र में इनकी उपयोगिता निम्न हैं :

1. डिजिटल पुस्तकालय संग्रहित सूचना एवं ज्ञान का उससे सम्बद्ध उपयोक्ताओं को अभिगम उपलब्ध कराते हैं।
2. डिजिटल पुस्तकालय मल्टीमीडिया प्रणालियों का नेटवर्क होता है जो उच्च गति के नेटवर्कों से संबन्धित होता है जिससे सूचना का अभिगम कहीं भी प्राप्त किया जा सकता है।
3. डिजिटल पुस्तकालय पूरे विश्व में व्याप्त वर्चुअल पुस्तकालय होता है जो लाखों नेटवर्कों के इलेक्ट्रानिक पुस्तकालयों से होता है।
4. शीघ्रता से सभी संबन्धित संसाधनों को पहचानने में उपयोगी होता है।
5. डिजिटल पुस्तकालय यूजर इंटरफेस को क्लांइट सर्वर संरचना लागू करने हेतु अलग-अलग करते हैं।

डिजिटल पुस्तकालय डाटा का बहुभाषीय भण्डारण है जो ज्ञान, आवाज एवं छायाचित्रों के लिए कार्य करता है डिजिटल पुस्तकालय में ज्ञान को कई स्वरूपों में संग्रहीत एवं अभिलेखबद्ध किया जा सकता है जिसके लिए विभिन्न भाषाओं व चिन्हों की पद्धति को अपनाया जाता है।

डिजिटल पुस्तकालय के लाभ

डिजिटल पुस्तकालय के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं :

1. डिजिटल पुस्ताकलय में विशाल डेटा को संग्रह करने की क्षमता है तथा ये सार्वभौमिक अभिगम को बढ़ावा देता है।
2. भौतिक स्वरूप की तुलना में इनमें बहुत अधिक मात्रा में सूचना का अभिगम संभव है।
3. ई-पुस्तकें एवं ई-पत्रिकाएँ विभिन्न प्रकार के कीवर्ड, विषय एवं अन्य खोजों को प्रदान करता है।
4. डाउनलोडिंग एवं मुद्रित करने की सुविधा प्रदान करता है।
5. दुर्लभ पुस्तकों को कमजोर संचयन से रक्षा करता है।
6. डिजिटल पुस्तकालय में आसानी से प्रलेख अर्जन और परिचालन प्रणाली को एकीकृत करता है।
7. डिजिटल संग्रह वीडियो टेपों तथा मल्टीमीडिया सामग्री का अभिगम भी सुलभ कराते हैं।
8. चोरी होने का डर नहीं होता है।
9. समय, स्थान एवं श्रम की बचत होती है।
10. उपयोक्ता अपने घर पर या किसी भी अन्य स्थान जैसे कार्यालय यात्रा आदि पर किसी भी समय डिजिटल पुस्तकालय का उपयोग कर सकता है।
11. डिजिटल पुस्तकालय नवीन सूचना के प्रकाशन एवं समन्वय को समर्थन देते हैं।

डिजिटल पुस्तकालय के निम्नलिखित मुख्य लाभों के साथ इसमें कुछ दोष भी हैं – जैसे डिजिटल पुस्तकालय एक खर्चीला प्रोजेक्ट है, एवं डिजिटल पुस्तकालय की जो सबसे प्रमुख समस्या है वायरस की, जिससे बहुत नुकसान हो सकता है।

डिजिटल पुस्तकालय के मुख्य घटक

डिजिटल पुस्तकालय के मुख्य घटक इस प्रकार हैं :

1. स्थानीय पुस्तकालय प्रणाली पर्याप्त कम्प्यूटर द्वारा लैन से जुड़े होते हैं। ये पढ़ने योग्य सीडी, ई-मेल तथा डेटाबेस का दूरवर्ती अभिगम उपलब्ध कराते हैं।
2. नेटवर्क में नेटवर्कों का नेटवर्क होता है।
3. डेटा को पुनः प्राप्त करने के लिए और रख-रखाव के लिए, समन्वय के लिए विभिन्न प्रकार की प्रणालियाँ काम करती हैं।
4. अच्छी तरह प्रशिक्षित जनशक्ति/कर्मचारी।

डिजिटल पुस्तकालय हो या परम्परागत पुस्तकालय, किसी भी पुस्तकालय का मुख्य उद्देश्य होता है सही उपयोक्ता को सही सूचना कम समय में प्रदान करना, और डिजिटल पुस्तकालय द्वारा हम इसके अलावा पाठक को उसके अनुरूप स्थान पर सूचना प्रदान कर सकते हैं। डिजिटल

पुस्तकालय द्वारा सूचना आलेखों के भौतिक रूप के संग्रहण की अपेक्षा कमी आ जाती है जिससे उनमें होने वाली टूट से बचा जा सकता है। डिजिटल पुस्तकालय का सबसे मुख्य लाभ है एक साथ एक ही समय पर अनेक उपयोक्ता एक ही प्रलेख का अवलोकन कर सकते हैं। इन सभी आधारों पर हम कह सकते हैं कि पारंपरिक पुस्तकालय का यह नया स्वरूप बहुत उपयोगी है एवं यह पुस्तकालय एवं पुस्तकालय विज्ञान को एक नया आयाम प्रदान करता है तथा पुस्तकालय के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक होता है।

कागजरहित पुस्तकालय का अधिकतम उपयोग करें।
आवश्यक हो तभी प्रिंट करें, कागज बचायें।
एक टन कागज बनाने के लिए अनेक पेड़ काटना पड़ता है।

वैज्ञानिकों ने विकसित की बैंगनी टमाटर

लाल रंग के टमाटर के बाद जीन संवर्द्धित फसलों के विकास में लगे वैज्ञानिकों ने अब बैंगनी रंग का टमाटर बनाने में सफलता प्राप्त की है। यह श्रेय ब्रिटेन के नॉर्विच स्थित 'जॉन इंस सेंटर' के वैज्ञानिकों को जाता है। केंद्र की प्रोफेसर कैथी मार्टिन को उम्मीद है कि बैंगनी टमाटर से तैयार किए गए जूस पर शोध के बाद शोधकर्ता इसकी पौष्टिकता को जाँच कर पाएंगे। उन्होंने बताया कि इन बैंगनी टमाटरों में भी वहीं तत्व मौजूद हैं जो ब्लूबेरी और करौंदे में पाए जाते हैं और ये मानव स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हैं।

अर्द्धचालक पदार्थों की करामात

डॉ0 संजय गोस्वामी*

आवर्त सारणी के चौथे व छठे वर्ग के कुछ तत्व अर्द्धचालक कहलाते हैं।
जो संयोजी बैंड एवं चालन बैंड के बीच एक इलेक्ट्रॉन वोल्ट का वर्जित बैंड बनाते हैं।
तारिवल अर्द्धचालक में सिलिका, जर्मेनियम एवं सेलिनियम तत्वों का है बड़ा नाम।
रेडियो हिन्दी, सोलर सेल आदि इलेक्ट्रानिक यंत्रों में इनका है बड़ा काम।
कुछ मेटल आक्साइड एवं सल्फाइड भी यौगिक अर्द्धचालक कहलाते हैं।
जो ग्रुप (आर्वत सारणी) II एवं ग्रुप VI के कुछ तत्वों के साथ सह-संयोजी बंध बनाते हैं।
यौगिक अर्द्धचालक में क्यूपरस ऑक्साइड एवं मेटल सल्फाइड, थूलियम सल्फेट होते हैं।
जो तात्विक अर्द्धचालक से काफी सस्ता एवं उच्च ताप पर भी चालन बैंड में इलेक्ट्रॉन को ढ़ोते हैं।
ऐसे मेटल ऑक्साइड में अर्द्धचालकों पर चल रहा है पुरजोर अनुसंधान।
ताकि प्लास्टिक से भी बने अर्द्धचालक और ये युग में सस्ते से सस्ता हो इलेक्ट्रॉनिक उपकरण, बढ़े विज्ञान।।
ये तकनिकी है ठोस अवस्था भौतिकी का वरदान, सफल हो विज्ञान।
जन-जन तक पहुँचे अर्द्धचालक से लैस हितकारी उपकरणों का सामान।
अर्द्धचालकों में संयोजी बैंड में जाना इलेक्ट्रॉन का नहीं है कठिन काम।।
बस एक बार प्लास्टिक से मेटल ऑक्साइड तकनिकी चला लो,
मिल जाएँगे उपकरण के पूरे दाम और होगा वैज्ञानिकों का नाम।।
ताप बढ़े प्रतिरोध घटे ये अर्द्धचालकों की पहचान है।
इलेक्ट्रॉन, फोटॉन एवं फोनॉन कण इनकी जान है।।
ऐसे परम ताप (0K) पर सारे के सारे अर्द्धचालक बन जाते हैं कुचालक।
जैसे ही ताप बढ़ता है, चालन बैंड में इलेक्ट्रॉन होते संवाहक।
सिर्फ थोड़ा साथ देने $(10^7 : 1)$ से अर्द्धचालकों में विद्युत प्रवाह होती विचित्र।।
एक मित्रदल वोरॉन एवं इंडियन विबर बनाता है।
तो इसका मित्रदल आर्सेनिक एटीमनी एक इलेक्ट्रॉन देता है।
एक ने अर्द्धचालक को किया दो-प्रारूप तो दूसरे दल ने किया सन प्रारूप।
दोनों के संधि (मिलाप) से बना डायोड, जो लॉजिक गेट को दिया मूर्तरूप।।
लॉजिक गेट के निर्माण से उद्यमी को विज्ञान-जगत में मिला सुअवसर।
वैज्ञानिकों के अथक प्रयास से सूक्ष्म हुआ कम्प्यूटर, ट्रांजिस्टर और थैरिस्टर।।
गैर-परम्परागत ऊर्जा क्षेत्र में अर्द्धचालकों का है अच्छा योगदान।
ताप-विद्युत-प्रभाव के गुण स्वास्थ्य, सौर-ऊर्जा यंत्रों का वरदान।।
सौर-ऊर्जा यंत्र में जैसे फोटो बोल्टिक सेल और सोलर सेल अच्छे कारनामें दिखलाते हैं।
जो अर्द्धचालकों के प्रकाश विद्युत परिमाण को दर्शाते हैं काफी दक्षयंत्र हम सेलेनियम द्वारा पाते हैं।।
अर्द्धचालकों में धारा प्रवाह हेतु ओम के नियम से बनती नहीं बात।
वैज्ञानिक फर्मी द्वारा ताप बढ़े, धारा बहे चर घात के अनुपात।
इसकी (अर्द्धचालक) प्रतिरोधकता 10^{-3} से 10^{-6} ओम सेमी. तक पायी जाती है।
इस गुण के कारण अर्द्धचालकों में प्रतिरोध का ताप गुणांक ऋणात्मक पायी जाती है।।

*यमुना जी/13, अणुशक्ति नगर, मुम्बई-400 094.

ISSN 2231-2455

प्रटिओमिक्स : प्रोटीन अध्ययन के परिपेक्ष्य में एक महत्वपूर्ण तकनीक

अंजना कुमारी* एवं डॉ0 शशि पाण्डेय**

मानव समाज में सदैव से प्रकृति के रहस्यों को जानने एवं समझने की इच्छा रही है और मानव की इसी रुचि ने विज्ञान के नये-नये आयाम खोले हैं। मानव, विज्ञान के माध्यम से सदैव सूक्ष्म से लेकर दीर्घाकाय तथा जटिल जीवों के आन्तरिक तथा बाहरी संरचनात्मक गुणों को जानने की कोशिश करता आ रहा है। मानव के इन जिज्ञासु गुणों के कारण विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का जन्म हुआ। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में एक शाखा प्रोटिओमिक्स है जो विज्ञान की उभरती हुई वह शाखा है जिसके अन्तर्गत किसी जीव विशेष या पादप विशेष के प्रोटीन्स की संरचना, अभिव्यक्ति एवं पारस्परिकता का विश्लेषण किया जाता है। किसी भी कोशिका, उत्तक अथवा जीव के सम्पूर्ण प्रोटीन संगठन को ''प्रोटिओम'' कहते हैं। मार्क विलिकन्स ने सर्वप्रथम सन् 1994 ई0 में ''प्रोटिओम'' शब्द का प्रयोग किया तथा इसके अध्ययन की शाखा को प्रोटिओमिक्स कहा गया। प्रोटिओमिक्स शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सन् 1997 ई0 में प्रयुक्त हुआ। मानव जीनोम परियोजना के पश्चात् यह ज्ञात हुआ है कि मानव में लगभग 20,500 जीन्स उपस्थित हैं, जबकि किसी भी जीव में उत्पन्न होने वाली प्रोटीन्स की संख्या लगभग 20 लाख तक हो सकती है। चूँकि प्रोटीन्स की संख्या जीनोम में उपस्थित जीन्स से कई गुना अधिक होती है अतः प्रोटिओमिक्स की सहायता से विभिन्न प्रकार की जीन्स का पता लगाया जा सकता है जो अभी भी अज्ञात हैं।

प्रोटीन एमिनो एसिड इकाई से बना होता है जिस पर किसी भी जीव का प्रोटिओम निर्भर करता है। प्रोटीन की संरचना को चार भागों में विभाजित किया गया है- प्रथामिक, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ संरचना। प्रत्येक प्रोटीन संरचना का अपना महत्व होता है। प्राथमिक संरचना एमिनो एसिड इकाई की रेखीय क्रमांक होती है जिसका निर्धारण उसके सापेक्ष जीन्स द्वारा होता है जो कोशिका केन्द्रक में उपस्थित न्यूक्लिओटाइड से निर्धारित होता है जिसे जेनेटिक कोड कहते हैं। प्रोटीन की द्वितीय तथा तृतीय संरचना का निर्धारण भी प्राथमिक संरचना पर निर्भर करता है। प्राथमिक संरचना में हाइड्रोजन बॉन्डिग द्वारा द्वितीय संरचना बनती है। तृतीय संरचना प्रोटीन की त्रिगुणीय संरचना होती है तथा चतुर्थ संरचना दो या दो से अधिक प्रोटीन से निर्मित होती है। उपर्युक्त दिये गये चित्र में प्रोटीन की प्राथमिक, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ संरचना दिखाई गयी है। तृतीय संरचना में सक्रिय क्षेत्र होते हैं जो विभिन्न क्रियाओं में भाग लेते हैं।

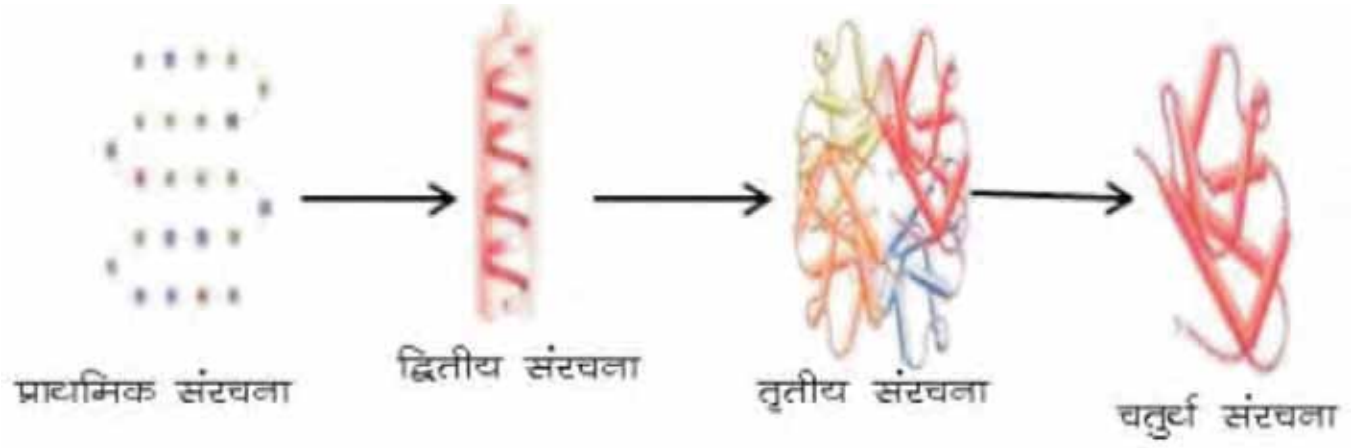

चित्र : 1-प्रोटीन की विभिन्न संरचनाएँ

प्रोटोओमिक्स अध्ययन की आवश्यकता क्यों ?

ऐसा माना जाता है कि किसी कोशिका के कार्य तथा संरचना की सूचना सिर्फ जीन के अध्ययन से नहीं प्राप्त की जा सकती क्योंकि कोशिका का बाह्य आकार एवं आन्तरिक क्रियाएँ उसके द्वारा संश्लेषित प्रोटीन्स पर निर्भर करती है। प्रोटिओमिक्स एक ऐसी विधा है जिससे प्रोटीन की संरचना तथा उसके विभिन्न कार्यों का अध्ययन कर सकते हैं।

*शोध छात्रा; **सहायक आचार्या, पादप ऊत्तक संवर्द्धन एवं संरचना विकास प्रयोगशाला, वनस्पति विज्ञान विभाग, का.हि.वि.वि., वाराणसी-221 005.

निम्नलिखित शीर्षकों द्वारा प्रोटिओमिक्स की उपयोगिता को समझा जा सकता है।

जीनोम की व्याख्या- ऐसा हमें ज्ञात है कि संश्लेषित प्रोटीन किसी भी जीन की अभिव्यक्ति होती है क्योंकि प्रोटीन की इकाई एमिनो एसिड का संश्लेषण न्यूक्लिओटाइड से होता है। अतः प्रोटीन्स के अध्ययन द्वारा किसी दिये गये, जीनोम में उपस्थित जीन्स का पता लगाया जा सकता है क्योंकि जीनोम में उपस्थित एक्सॉन तथा इन्ट्रान के कारण जीन के जीनोमिक डाटा द्वारा यथार्थ का पता लगा पाना अभी-भी जटिल है। अतः इस जटिलता को दूर करने के लिए जीनोमिक्स डाटा से प्राप्त सूचना को प्रोटिओमिक्स अध्ययन से प्राप्त सूचना के साथ सम्मिलित कर किसी भी जीन्स के कार्य को पूर्णरूप से व्यक्त कर सकते हैं।

प्रोटीन स्थानीकरण तथा कम्पार्टमेंटेशन– प्रोटीन स्थानीकरण एक महत्वपूर्ण प्रोटीन नियामक कार्यविधि है। अनियामक प्रोटीन स्थानीकरण को कोशिका कार्य पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है जैसा सिस्टिक फाइब्रोसिस में देखा गया है। अतः प्रोटिओमिक्स के द्वारा कोशिका के अन्दर प्रोटीन का स्थान निर्धारण भी किया जा सकता है। इस प्रकार यह अध्ययन कोशिका प्रोटीन का 3-डी आकृति का मानचित्र बनाने में भी उपयोगी है।

प्रोटीन्स-प्रोटीन्स पारस्परिकता- कोशिका वृद्धि, प्रोग्राम मृत्यु तथा कोशिका चक्र का निर्धारण सिग्नल ट्रान्सडक्शन प्रक्रिया में उपस्थित प्रोटीन्स के द्वारा होता है। प्रोटीन-प्रोटीन पारस्परिकता के अध्ययन द्वारा कोशिका प्रोटीन्स का थ्री डी मानचित्र तैयार कर पूरी कोशिका के कार्य को

प्रोटिओमिक्स के प्रकार एवं उपयोग

प्रोटीन अभिव्यक्ति का अध्ययन- वर्तमान समय में विभिन्न तकनीकों द्वारा आर.एन.ए. का विश्लेषण किया जाता है। यद्यपि एम.आर.एन.ए प्रोटीन संश्लेषण का प्रथम चरण होता है जो किसी कोशिका के केन्द्रक में उपस्थित जीन से संश्लेषित होता है और वह कोशिकाद्रव्य तक उस सूचना को प्रोटीन संश्लेषण के लिये पहुँचाता है। परन्तु, एम.आर.एन.ए इस्प्लाइसिंग, पॉलीएडेनाइलेसन तथा एडिटिंग के पश्चात् प्राप्त एम.आर.एन.ए के द्वारा संश्लेषित प्रोटीन गुण एवं संख्या में भिन्न होती है तथा प्रोटीन संश्लेषण से प्राप्त प्रोटीन्स में पोस्ट ट्रान्सलेशनल परिवर्तन होते हैं। अतः इस प्रकार प्रोटिओमिक्स प्रोटीन संश्लेषण से पूर्व तथा पश्चात् होने वाले परिवर्तन को भी ज्ञात करने में सक्षम हैं।

प्रोटीन परिवर्तन- प्रोटिओमिक्स अध्ययन का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य प्रोटीन में हुए किसी भी परिवर्तन को ज्ञात करना है। कोशिका में आन्तरिक तथा बाह्य सिग्नलिंग द्वारा हुए प्रोटीन परिवर्तन को समझने में प्रोटिओमिक्स का विशेष महत्व है। उदाहरणस्वरूप फास्फोराइलेशन एक महत्वपूर्ण सिग्नलिंग तंत्र है तथा इसके अनियमितता से साधारण कोशिका कैन्सरस् कोशिका में परिवर्तन हो जाती है। अतः इस परिवर्तन को ज्ञात करने में प्रोटिओमिक्स तकनीक अतिउपयोगी है।

समझना भी प्रोटिओमिक्स का लक्ष्य है।

इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम *हेलीकोबैक्टर पाइलोरी* जैसे सूक्ष्मजीव के लिए पूर्ण किया गया है। ईस्ट टू हाइब्रिड तकनीक से प्राप्त प्रोटिन्स-प्रोटिन्स पारस्परिकता के द्वारा लगभग 12,000 प्रोटीन को पहचाना गया है जो 46.6 प्रतिशत जीनोम की कार्य प्रणाली को प्रस्तुत करती है।

प्रोटीन का संश्लेषण

प्रोटीन संश्लेषण की पूरी प्रक्रिया किसी भी कोशिका के 'डी.एन.ए.' तथा 'आर.एन.ए.' पर निर्भर करती है। 'डी.एन.ए.' द्वारा सर्वप्रथम संवाहक आर.एन.ए. बनता है जो कोशिकाद्रव्य में राइबोसोम के साथ मिलकर प्रोटीन संश्लेषण करते हैं। इस प्रकार मूलरूप से डी.एन.ए. तथा प्रोटीन में बहुत ही गहरा सम्बन्ध है जो प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से एक दूसरे के सम्पूरक हैं। डीएनए में उपस्थित न्यूक्लिओटाइड की व्यवस्था एमिनो एसिड को संश्लेषित करती है जिसमें दो प्रमुख क्रियाएँ ट्रान्सक्रिप्शन यानी संवाहक आर.एन.ए. संश्लेषण एवं ट्रान्सलेशन शामिल है जैसा कि रेखीय चित्र द्वारा आगे दर्शाया गया है।

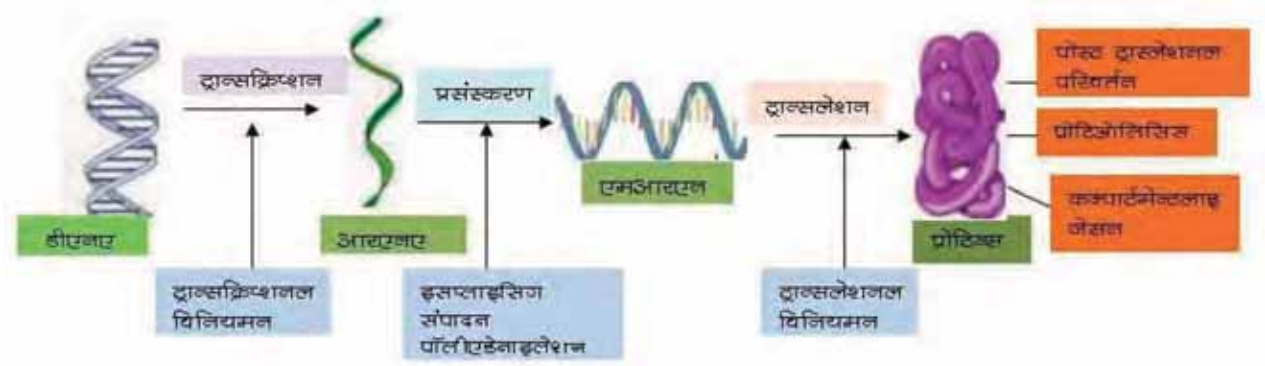

कोशिका का केन्द्रीय सिद्धान्त

सैगर फैड्रिक ने सन् 1949 ई0 में सर्वप्रथम इन्सुलिन प्रोटीन के बीटा चेन का एमिनो एसिड अनुक्रमांक निर्धारित किया था जो कि विज्ञान तथा प्रोटिओमिक्स के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण शुभारम्भ था। यद्यपि प्रोटिओमिक्स अपने प्रारम्भिक विकास के मार्ग पर है फिर भी इसकी विभिन्न शाखाओं द्वारा प्रोटीन संरचना तथा कार्यों के बारे में ज्ञान अर्जित करने की दिशा में अध्ययन हो रहे हैं। अध्ययन के अनुसार प्रोटिओमिक्स को तीन शाखाओं में विभाजित किया जा सकता है :

1. **संरचनात्मक प्राटिओमिक्स -** इसके अन्तर्गत प्रोटीन की संरचना का विस्तृत अध्ययन किया जाता है तथा प्रोटीन का तुलनात्मक अध्ययन कर उसकी सहायता से ज्ञात जीन के कार्यों को भी निर्धारित किया जाता है। एक्स-रे-क्रिस्टैलोग्राफी तथा एन.एम.आर. स्पेक्ट्रोस्कोपी आदि तकनीक के माध्यम से किसी प्रोटीन का 3-डी मॉडल तैयार कर उसकी क्रियात्मकता का भी पता लगाया जा सकता है। संरचनात्मक प्रोटिओमिक्स का वर्तमान उदाहरण केन्द्रक पोर कॉम्पलेक्स का अध्ययन है।
2. **अभिव्यक्ति प्रोटिओमिक्स –** अभिव्यक्ति प्रोटिओमिक्स प्रोटीन का परिमाणात्मक अध्ययन है जो सम्पूर्ण प्रोटिओम तथा उपप्रोटिओम अभिव्यक्ति को प्रस्तुत करता है। प्रोटिओमिक्स की इस शाखा द्वारा सिग्नल ट्रान्सडक्सन तथा रोग विशेष में उपस्थित नवीन प्रोटीन को ज्ञात करते हैं। जिसे नई औषधि को तैयार करने, नई औषधि के कार्य करने की प्रक्रिया को पहचानने तथा बनाने में प्रयुक्त कर सकते हैं। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की तकनीक जैसे एसडीएस पेज, 2-डी इलेक्ट्रोफोरेसिस तथा मास स्पेक्ट्रोस्कोपी तकनीक समान्यतः प्रयुक्त की जाती हैं।
3. **सहभागिता प्रोटिओमिक्स –** इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के प्रोटीन के कार्य एवं पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है जिसमें ईस्ट-टू हाइब्रीड तथा मास स्पेक्ट्रोस्कोपी तकनीक का प्रयोग करते हैं। प्रोटीन्स किसी भी कोशिका, तन्त्रिका तंत्र तथा जीव का मूलभूत जैव अणु है जो उसके कार्यिकी के लिये जिम्मेदार होता है। प्रोटिओमिक्स की संरचनात्मक तथा क्रियात्मक शाखाओं के उपयोग से उसका मानचित्र भी बनाया जा सकता है। इस प्रकार प्राप्त आकड़ों को विभिन्न प्रकार के डेटाबेस में एकत्रित किया जाता है जो सम्पूर्ण विश्व में हो रहे शोध कार्यों को आगे बढ़ाने में सहायक है। कुछ महत्वपूर्ण आंकड़े बैंक निम्नलिखित हैं:

- कार्डिएक आर्गेनेल्लर प्रोटीन एटलस नॉलेजबेस
- मानव प्रोटीन सन्दर्भ डाटाबेस
- मॉडल जीव अभिव्यक्ति डाटाबेस
- जैव प्रौद्योगिकी सूचना राष्ट्रीय केन्द्र (एनसीबीआई)
- प्रोटीन डाटा बैंक (पीडीबी)
- प्रोटीन सूचना संसाधन (पीर)
- प्रोटिओमिक्स पहचान डाटाबेस (पीआरआईडीइ)
- स्विस प्रोट

अब विभिन्न अध्ययनों से यह साबित हो गया है कि जिनोमिक्स तथा ट्रान्सक्रिप्टोमिक्स के बाद प्रोटिओमिक्स जैव प्रणालियों के अध्ययन में एक नवीन कदम के रूप में हमारे सामने है। यूरोपियन जैव सूचना विज्ञान संस्थान, नीदरलैंड प्रोटिओमिक्स केन्द्र (एन.पी.सी.) तथा एकीकृत जीव विज्ञान के लिए प्रोटिओमिक्स अनुसंधान संसाधन (एन.आई.एच.) कुछ ऐसे केन्द्र हैं जहाँ प्रोटिओमिक्स के क्षेत्र में विस्तृत अध्ययन किया जा रहा है। प्रोटिओमिक्स का विशेष योगदान चिकित्सा (कैन्सर शोध, न्यूरोलॉजी, कॉर्डियोवैस्कुलर बीमारियों, पादप कार्यिका, मधुमेह, पोषण शोध, टॉक्सिकोलाजी, ऑटोइम्यून रोग के शोध) तथा कृषि के क्षेत्र में देखा जा सकता है। विभिन्न प्रकार के रोगों जैसे कैन्सर, एड्स आदि की पहचान तथा उनके उचित इलाज की सम्भावनायें हैं, साथ ही बेहतर औषधियों की पहचान और उनके उपयोगी लक्ष्य को पाया जा सकता है। इसी कारण से वर्तमान समय में वैज्ञानिकों की विशेष रुचि जिनोमिक्स की अपेक्षा प्रोटिओमिक्स में देखी गई है क्योंकि प्रोटिओमिक्स द्वारा किसी कोशिका विशेष में उत्पन्न प्रोटीन की स्पष्ट जानकारी प्राप्त होती है। प्रोटिओमिक्स के माध्यम से न केवल किसी प्रोटीन विशेष का ज्ञान होता है अपितु उसमें हुए किसी प्रकार के परिवर्तन जैसे-पोस्ट ट्रान्सलेशनल (फास्फोराइलेशन, ग्लाइकोसाइलेशन) आदि को भी ज्ञात कर सकते हैं। प्रोटिओमिक्स का विशेष योगदान नई औषधियों की पहचान तथा उनके उपयोग में होने के कारण इसका महत्व बढ़ा है। यदि कोई नवीन प्रोटीन किसी विशेष रोग में उत्पन्न होती है तो उसके 3-डी संरचना द्वारा उनके सक्रिय केन्द्र को ज्ञात कर नई औषधियों की पहचान की जा सकती है। उदाहरण स्वरूप एचआईवी-1 वायरस इस एन्जाइम की उपस्थिति में निष्क्रिय हो जाता है। यह एन्जाइम जो एक प्रकार की प्रोटीन है एचआईवी रोग के उपचार में नई औषधि को बनाने में एक लक्ष्य की तरह प्रयुक्त हो सकता है।

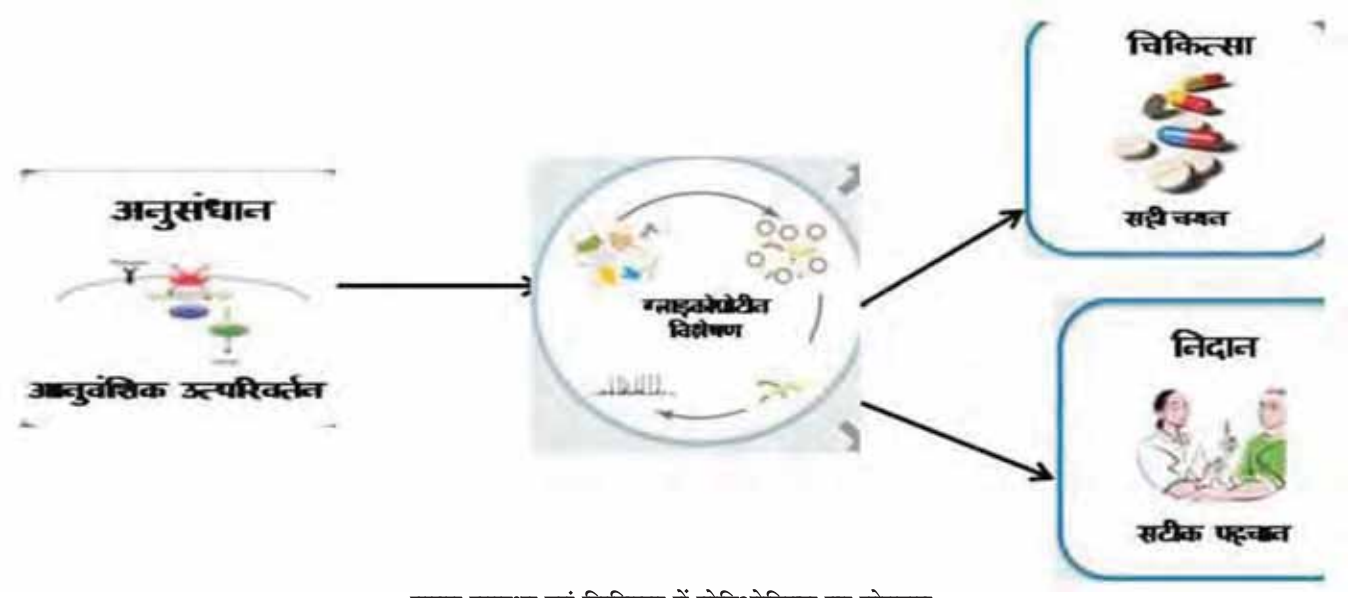

मानव स्वास्थ्य एवं चिकित्सा में प्रोटिओमिक्स का योगदान

निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या तथा खाद्य आपूर्ति वर्तमान समय में एक बढ़ी समस्या बन गई है। चूँकि जीन तथा प्रोटीन किसी भी जैव की आन्तरिक तथा बाह्य कार्य को निर्धारित करते हैं अतः विभिन्न प्रकार के औषधीय पौधे जिनका उपयोग प्रतिदिन किया जा रहा है, की उपयोगिता बढ़ायी जा सकती है। चावल एक महत्वपूर्ण कृषि उत्पाद है तथा जैव विज्ञान के लिए एक मॉडल पौधा भी है। इसका सम्पूर्ण जीनोम ज्ञात हो चुका है। अतः प्रोटिओमिक्स तकनीक द्वारा महत्वपूर्ण जीन तथा प्रोटीन के कार्य की पहचान कर उनका उपयोग उत्पादकता तथा पोषक तत्व बढ़ाने में किया जा सकता है। मानव जीनोम जो पूरी तरह ज्ञात किया जा चुका है उसकी अभिव्यक्ति प्रोटिओमिक्स द्वारा निर्धारित कर जीन थिरेपी तथा औषधि विकास में भी इसका उपयोग किया जा सकता है। इस प्रकार प्राटिओमिक्स विज्ञान के क्षेत्र में उभरती हुई एक ऐसी तकनीक है जो कृषि, स्वास्थ्य तथा पर्यावरण के परिपेक्ष्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

कुत्ते में पाया गया 11 हजार साल पुरान कैंसर

दुनिया का सबसे पुराना ज्ञात जीवित कैंसर 11 हजार साल पुराना है। विशेष प्रकार का यह संक्रामक कैंसर कुत्तों में पाया गया है। यह कैंसर सबसे पहले एक कुत्ते में विकसित हुआ और प्रजनन के माध्यम से वर्तमान प्रजातियों तक जीवित है। बीबीसी के मुताबिक कैंब्रिज के निकट स्थित वेलकम ट्रस्ट सैंगर इंस्टीट्यूट के वैज्ञानियों की एक टीम ने इस कैंसर के डीएनए को डीकोड किया है। इस शोध में उस कुत्ते के 'जेनेटिक आइडेंटिटी' का पता चला है जिसमें सबसे पहले यह विकसित हुआ था। शोधकर्ताओं के मुताबिक इस कुत्ते का आकार मध्यम था और उसके बाल छोटे और गाढ़े भूरे या काले रंग के थे। इस शोध में प्रमुख शोधकर्ता डॉ. एलिजाबेथ मर्चिसन ने कहा कि हमें नहीं पता कि इस खास कुत्ते में संक्रामक कैंसर का विकास क्यों हुआ। लेकिन इस कुत्ते की पहचान खोजना काफी मजेदार था, जिसका जीनोम अभी कैंसर की उस कोशिका में जीवित है जिसे उसने जन्म दिया है।

भारतीय मूल के अमेरिकी उद्यमी ने बनायी टी वी सिग्नल एंटिना

भारतीय मूल के अमेरिकी उद्यमी चेत कनौजिया जो भोपाल में पले-बढ़े हैं, ने एक ऐसा छोटा एंटिना बनाया है, जो टेलीविजन सिग्नल पकड़ उसे इंटरनेट के जरिये उपभोक्ताओं को भेजने में सक्षम है। इस आविष्कार ने अमेरिकी टीवी उद्योग में खलबली पैदा कर दी है। कनौजिया की कंपनी एयरो, एबीसी, एनबीसी और सीबीएस जैसी प्रसारण कंपनियों के लिए खतरा बन गई है और वह अमेरिकी उच्चतम न्यायालय में इन कंपनियों से कानूनी लड़ाई लड़ रही है। छोटा एंटिना उपभोक्ताओं को किसी भी उपकरण पर इंटरनेट के जरिये प्रसारण देखने या रिकॉर्ड करने की सहूलियत देता है। इसके लिए किसी तार या केबल बॉक्स की जरूरत नहीं है। कंपनी यह काम प्रत्येक उपभोक्ता को एक रिमोट एंटिना एवं एक डीआर देकर करती है।

भारतीय कृषि में सोयाबीन

शोभित कुमार सिंह एवं प्रो0 अखौरी वैशम्पायन*

सोयाबीन की खेती

सोयाबीन एक दलहली फसल है। इसे जादुई फसल भी कहते हैं। यह बहुत ही पुरानी फसलों में से एक है। इसके खेती का प्रमाण कई सौ साल पहले चीन में हुआ था। ऐसा लोगों का विश्वास है कि समुद्र और भूमि विस्तार के साथ सोयाबीन का आगमन, चीन के पड़ोसी देशों एवं भारत में हुआ था। आज के वर्तमान समय में सोयाबीन चीन, मन्चुरिया, जापान, कोरिया और मलेशिया का महत्वपूर्ण फसल हो गया है।

भारत में सोयाबीन का परिचय हिमालय के क्षेत्रों से प्रारम्भ हुआ और 1960 के दशक से यह वृहद रूप से उगाया जाने लगा। विश्व पटल पर क्षेत्रफल की दृष्टि से सोयाबीन की खेती में भारत का चौथा स्थान है। पहले स्थान पर अमेरिका, द्वितीय स्थान पर ब्राजील और तीसरे स्थान पर अर्जेन्टिना आते हैं। प्रति हेक्टेयर उत्पादन के आधार पर अमेरिका प्रथम स्थान पर है और भारत आठवें स्थान पर है। भारत में सोयाबीन एक खरीफ की फसल के रूप में जाना जाता है। इसकी बोआई जून-जुलाई के महीनों के मध्य की जाती है और कटाई सितम्बर-अक्टूबर के महीनों में कर ली जाती है। भारत में सोयाबीन की खेती विशेष रूप से महाराष्ट्र, राजस्थान, कनार्टका, उत्तर प्रदेश और आंध्र प्रदेश में होता है।

सोयाबीन की कुछ विशेष प्रजातियाँ हैं, जैसे जे.एस. 335, डी.एस. 1712, पी.के. 1012, पी.के. 1042। इनमें से जे.एस. 335 सन् 1994 में, जे.एन.के.वी., जबलपुर द्वारा विकसित किया गया है। यह प्रजातिय 90-100 दिन में पककर तैयार हो जाती है और इसका उत्पादन करीब 25-30 कुन्तल है। जबकि डी.एस. 9712 आई.ए.आर.आई., नई दिल्ली द्वारा विकसित किया है। जबकि पी.के. 1042 सन् 1997 में जी.बी.पी.यू.ए.टी., पन्तनगर द्वारा विकसित किया गया है। ये तीनों विशेषकर भारत सोयाबीन की खेती के लिए मुख्य रूप से उपयोग में लायी जाने वाली उन्नत किस्में हैं।

सोयाबीन में 38-45 प्रतिशत प्रोटीन तथा इसके साथ-साथ 20 प्रतिशत तैल भी प्राप्त होता है। इतने अधिक प्रतिशत प्रोटीन और तैल एक ही फसल में मिलने के कारण सोयाबीन दलहनी एवं तिलहनी, दोनों श्रेणी में रखा जाता है।

भारत में दालों के लिए मुख्यतः अरहर, चना, मूँग, उरद, मसूर आदि फसलें उगाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त दलहनी फसल में विशेष रूप से सोयाबीन का क्षेत्रफल और उत्पादन काफी तीव्र गति से बढ़ने लगा है। अतः सोयाबीन की उत्पादकता को आगे बढ़ाने वाली विशिष्ट प्रविधियों का उल्लेख किया गया है।

खेती का चुनाव

सोयाबीन के बीज उत्पादन के लिए ऐसे खेत चुने जाते हैं जिनमें पिछले मौसम में सोयाबीन की खेती न की गई हो। यदि आवश्यकता पड़े तो वही खेत चुने जाए जिनमें पिछले वर्ष उपयोग में लायी गई बीज की किस्म हो या प्रमाणित बीज से खेती की गई हो।

सोयाबीन की खेती सभी प्रकार की भूमि में की जा सकती है परन्तु अच्छी फसल प्राप्त करने के लिए दोमट मिट्टी अधिक उपयुक्त मानी जाती है। जिस भूमि में मक्के की खेती की गयी हो वह भूमि सोयाबीन की खेती के लिए उपयुक्त है। खेत से पानी को निकालने का उचित प्रबंध होना चाहिए। सोयाबीन के खेत में पानी के लम्बे समय तक रुके रहने पर फसल को हानि होती है। मृदा न अधिक अम्लीय और न अधिक क्षारीय होना चाहिए। मृदा का पी एच मान 7 होना चाहिए। यदि पी एच मान 7 न हो तो अम्लीय मृदा में चूने का प्रयोग करना चाहिए।

पृथक्करण

बीज खेत में सोयाबीन को निकटवर्ती खेतों से होने वाले संदूषण को रोकने के लिए 3 मीटर पृथक्करण दूरी पर्याप्त होती है।

प्रमुख कृषि विधियाँ

भूमि की तैयारी– सोयाबीन उगाने के लिए भूमि को अच्छी तरह भुरभुरी कर लें। पिछली फसल कटने के बाद मिट्टी पलटने वाले हल से एक गहरी जुताई और फिर दो या तीन बार डिस्क हैरो करने से भूमि बोआई के लिए उत्तम हो जाती है। बेहतर होगा कि खेत में हल्का-सा ढाल दें जिससे पानी का समुचित निकास होता रहे।

खाद

सोयाबीन एक दलहनी फसल है जो अपनी नाइट्रोजन की आवश्यकता को मुख्यतः स्वयं ही अपनी जड़ों पर पैदा हुई ग्रंथिकाओं में रहने वाले जीवाणुओं द्वारा वायुमंडल की नाइट्रोजन के प्रयोग से पूर्ण कर

*आनुवंशिकी एवं पादप प्रौद्योगिकी विभाग, कृषि विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी- 221 005.

सोयाबीन के पौधे

लेती है। लेकिन यह तभी संभव है, जबकि बीज को उचित किस्म के जीवाणुओं के कल्चर के साथ उचित रूप से मिलाकर बोयें। फॉस्फोरस व पोटाश की मात्रा कितना हो, यह मृदा परीक्षण द्वारा ज्ञात हो सकता है। खादों को बीज बोने से पहले बीज की पंक्ति से 5 सेंटीमीटर की गहराई पर डालना चाहिए। जहाँ इस प्रकार से खाद डालने की सुविधा प्राप्त न हो वहाँ खादों को भूमि पर समान रूप से छिड़ककर भूमि की ऊपरी 15-20 सेन्टीमीटर सतह में अच्छी तरह से मिला देना चाहिए।

जीवाणु संवर्ध से बीजोपचार

एक लीटर पानी को 15 मिनट तक उबालें, फिर कमरे के तापमान पर ठंडा कर लें। एक चम्मच कोयले के बारीक पिसे चूर्ण को बीज तथा राइजोबियम कल्चर के साथ मिलाकर अच्छी तरह से मिला लें। इस बात का ध्यान रखें कि पानी की मात्रा ज्यादा न हो। जब बीज पर हल्की सी परत *राइजोबियम* कल्चर की चढ़ जायें तो उसे खुली हवा में रखकर सुखा लें। ध्यान रखें कि उपचारित बीज सूर्य की रोशनी में न रहे क्योंकि सूर्य की किरणों से *राइजोबियम* जीवाणु नष्ट हो जाने की संभावना होती है। बीज को थैले में रख लें। इस प्रकार एक किलोग्राम वाला 'पीटकल्चर' एक हेक्टेयर के लिए पर्याप्त होगा।

बोने की विधि

उत्तरी भारत के मैदानी भागों के लिए जून के अंतिम सप्ताह से जुलाई के अंत तक का समय बोआई के लिए सर्वोत्तम है। बोने के तुरंत बाद यदि जोर की वर्षा हो जाए तो पौधों के अंकुरण में कमी आने की संभावना रहती है। इसलिए जहाँ सिंचाई का समुचित साधन हो, वहाँ मानसून शुरू होने के पहले सिंचाई करके बोआई की जाए, जिससे वर्षा प्रारम्भ होने से पहले ही पौधे निकल आएँ। बोआई सीडड्रिल की सहायता से या देशी हल से की जा सकती है। बोते समय एक पंक्ति से दूसरी पंक्ति की दूरी 60 सेंटीमीटर और एक बीज से दूसरे बीज की दूरी 5 सेंटीमीटर रखना चाहिए। इस प्रकार की बोने की विधि से एक हेक्टेयर में लगभग 60-70 किलोग्राम बीज लगेगा। बोते समय इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि बीज की गहराई 4 सेन्टीमीटर से अधिक न हो। जहाँ जमीन में अधिक नमी हो वहाँ 2 से 3 सेन्टीमीटर की गहराई उपयुक्त होगी।

सिंचाई

सोयाबीन की खेती वर्षा ऋतु में होती है इसलिए सिंचाई की आवश्यकता नहीं है। यदि बहुत दिन तक वर्षा न हो तो आवश्यकतानुसार एक या दो सिंचाई करनी चाहिए।

खरपतवार नियंत्रण

खरपतवार पर नियंत्रण प्रारम्भ से ही रखना चाहिए। कम से कम दो बार निराई, पृथक बोआई के लगभग 15 दिन तथा दूसरी लगभग 35 दिन बाद की जानी चाहिए। लास्सों नामक खर-पतवारनाशी रसायन को 5 लीटर प्रति हेक्टेयर की दर से बोने के तुरंत बाद छिड़कने से खरपतवारों पर प्रभावी रूप से नियंत्रण पाया जा सकता है।

रोग नियंत्रण

मोजेक की रोकथाम हेतु बोआई के बाद 20वें, 30वें, 40वें और 50वें दिन मैलाथियान (0.1 प्रतिशत) और मैटासिस्टॉक्स (0.1 प्रतिशत) के मिश्रण का सावधानीपूर्वक छिड़काव करना चाहिए। इससे किसान भाई अपने फसल को नष्ट होने से बचा सकते हैं।

कीट नियंत्रण

सोयाबीन की फसल में कई प्रकार के कीट लगते हैं उनमें से कुछ जमीन के नीचे रहते हैं। इनकी रोकथाम के लिए यह आवश्यक है कि बोते समय कूँड़ में थिमेट नामक रसायन को 10 कि.ग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से डालें, पत्तियों को रखने वाले कीटों को नष्ट करने के लिए 0.1 प्रतिशत मेटासिस्टाक्स 25 ई.सी. को 0.1 प्रतिशत थायोडान 35 ई.सी. के साथ मिलकर छिड़काव करें। विषाणुजनित रोग का रोकथाम भी कीट नियंत्रण के साथ-साथ हो जाता है।

अवांछनीय पौधों को निकालने का प्रयास

आनुवांशिक रूप से पूर्ण शुद्ध बीज का उत्पादन करने के लिए बीज की फसल में से अवांछित प्रकार के पौधों को निकालना आवश्यक है। यह कार्य निम्नलिखित अवस्थाओं में किया जाना चाहिए –

(क) फसल की प्रारंम्भिक अवस्थाओं में

लगभग दूसरे-तीसरे सप्ताह, पीला मोजेकग्रस्त पौधों व सोयाबीन मोजेक से ग्रस्त पौधों को निकालते रहना चाहिए।

(ख) पीला मोजेक

पौधे की पत्तियाँ पीली पड़ जाती हैं। सफेद और काले उत्तकक्षय के धब्बे भी पत्ती पर पड़ जाते हैं तथा पौधे की वृद्धि अवरुद्ध हो सकती हैं।

(ग) सोयाबीन मोजेक

इससे ग्रस्त पौधें की वृद्धि अवरुद्ध हो जाती है तथा पत्तियाँ अधिक गहरे, हरे-रंग की, असमान और झुर्रीदार हो जाती हैं। पत्तियाँ शिराओं के

सोयाबीन की फलियाँ

सोयाबीन की खेती (प्रायोगिक क्षेत्र)

साथ-साथ सिकुड़ जाती हैं तथा किनारे उलट जाते हैं। विषाणु रोग से ग्रस्त पौधों को लगातार सावधानी पूर्वक निकालते रहना चाहिए।

(घ) फूल आने से पहले

इस अवस्था में पौधों के बाहरी लक्षणों, रेमिलता और रंग के आधार पर अवांछित पौधों को पहचाना जा सकता है। जो पौधे सोयाबीन के बीज के लिए उगाई गई किस्म से अलग प्रकार के दिखें, उन्हें हाथों से उखाड़कर खेत से बाहर बनें किसी भी गड्ढे में डाल देना चाहिए और साथ ही साथ रोगग्रस्त पौधों को भी पहचानकर उन्हें भी उखाड़कर नष्ट कर देना चाहिए। फूल आने के समय, भिन्न रंगों वाली किस्म को भी उखाड़ फेकना चाहिए।

फसल पकने की अवस्था आने पर सोयाबीन की पत्तियाँ गिरने लगती हैं और पौधों पर सिर्फ फलियाँ ही रह जाती हैं। अतः इस अवस्था में किस्म विशेष के अलावा उगे हुए अलग किस्म के पौधों को आसानी से पहचाना जा सकता है। ऐसे अवांछित पौधों को उखाड़कर फेंक देना चाहिए।

(च) बीज फसल की कटाई

जब सोयाबीन की फसल पकने लगती है तो समान्यतः सभी पत्तियाँ पौधों से नीचे गिरने लगती हैं। जब पेड़ की सभी पत्तियाँ खेत में गिर जाती हैं तो यह समझ लेना चाहिए कि फसल कटाई के लिए तैयार है। इस अवस्था में पौधों में लगी कलियों का रंग भूरा पड़ जाता है।

फसल कटाई धारदार हँसिया की सहायता से पौधे को नीचे से काटकर की जा सकती है। यदि फसल पूरी तरह पकी होती है तो पौधे आसानी से हाथ से टूट जाते हैं। पौधों को कभी भी जड़ सहित नहीं उखाड़ना चाहिए। काटकर रखे हुए पौधों को एक साथ इकट्ठा करके ढेर लगाना चाहिए।

फसल को कुछ दिन धूप में रखने के बाद फलिया भंगुर पड़ जाती हैं और थोड़ा दबाव देने से ही फलिया फट जाती हैं। इस अवस्था में गहाई कार्य किया जा सकता है। गहाई कार्य में इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि पौधों को अधिक जोर से न पीटें। जोर से पीटने के कारण बीज के क्षतिग्रस्त होने की संभावना होती है। यदि थ्रेशर मशीन का उपयोग किया जाए तो इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि बीजों को कोई नुकसान न पहुँचे। ऐसे बीज ढेर, जिनमें क्षतिग्रस्त और दरके हुए बीजों का प्रतिशत अधिक होता है, उनको बीज प्रमाणीकरण के लिए अस्वीकृत कर दिया जाता है। गहाई का सर्वोत्तम तरीका लकड़ी के तख्ते से पौधों को सावधानी से पीटना चाहिए। इस तरह अधिकांश दाने निकले आते हैं, जो फलियाँ बच जाती हैं उन्हें हाथों से दबाव देकर तोड़ लेना चाहिए। गहाई के दौरान जमीन पर तिरपाल बिछाकर कार्य करना उपयुक्त होता है। क्योंकि जमीन से सीधे सम्पर्क में आने से बीजों में फफूँद और आर्द्रता अवशोषित होने की संभावना तथा कवक रोग लग जाने की संभावना बढ़ जाती है। बीजों को तिरपाल पर अच्छी तरह से फैलाकर सुखा लेना चाहिए।

भारत में सोयाबीन का उत्पादन काफी अच्छा हो रहा है लेकिन अभी यह कुछ विशेष राज्यों तक ही सीमित है। यदि किसान भाई कृषि के नये तरीकों को अपनाएंगे तो निश्चित ही आगामी कुछ वर्षों में सोयाबीन भारत के कई राज्यों में उगाई जा सकेगी और बेहतर उत्पादन भी मिलेगा।

सतर्क : सोशल मीडिया ने मिलवाया भी और खंडित किये रिश्ते भी

सोशल मीडिया के सन्दर्भ में हुए एक सर्वे में 79 प्रतिशत लोगों ने बताया कि वे और उनके साथी सोशल मीडिया पर बेहद सक्रिय हैं। 36 प्रतिशत ने कहा कि वे अपने पूर्व साथी से सोशल मीडिया डेटिंग वेबसाइट के जरिए ही मिले थे। भारत के 66 करोड़ लोग सोशल मीडिया पर सक्रिय हैं। एक औसत व्यक्ति सोशल मीडिया पर प्रतिदिन 30 मिनट का समय देता है। 24 प्रतिशत भारतीय मानते हैं कि उन्होंने वास्तविक जीवन में कई चीजों को खो दिया क्योंकि वे सोशल मीडिया पर ज्यादा सक्रिय थे। सोशल मीडिया पर सक्रिय 54 प्रतिशत लोगों ने माना कि रिश्ते खत्म करने में इसका कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में हाथ रहा। 34 प्रतिशत ने माना कि सोशल मीडिया पर साथी द्वारा अफेयर शुरू करने पर रिश्ता तोड़ा। 23 प्रतिशत का मानना है कि साथी का सोशल मीडिया प्रोफाइल वास्तविक जीवन से काफी अलग था। वहीं 17 प्रतिशत ने माना कि उनका साथी सोशल मीडिया पर इतना व्यस्त रहता था कि उससे बातें ही नहीं हो पाती थी।

पीएसएलवी-सी 25 की सफल उड़ान और अब भारत का भी मंगलयान

शुकदेव प्रसाद*

5 नवम्बर, 2013 को भारत की मंगल यात्रा आरंभ हो गई जब हमारे ध्रुवीय रॉकेट ने सतीश धवन अंतरिक्ष केंद्र, श्रीहरिकोटा से अपनी सफल उड़ान भरी और हमारा मंगलयान पृथ्वी की कक्षा में स्थापित हो गया।

इसके कक्षोन्नयन की प्रक्रियाएँ 6 चरणों में पूरी होगी जिसमें इसरो ने 5 चरण सफलतापूर्वक संपन्न कर लिए हैं। 1 दिसम्बर, 2013 को इसरो ने पृथ्वी की कक्षा से निकालकर इसे सूर्य केंद्रिक कक्षा में डाल दिया है। यह एक महत्वपूर्ण चरण था जिसमें मात्र फ्रांस, रूस और अमेरिका को ही ऐसी सफलताएँ मिली हैं। इस क्रम में अब भारत भी एक गौरवशाली राष्ट्र बन गया है।

कक्षोन्नयन की अंतिम प्रक्रिया 14 सितम्बर, 2014 को संपन्न होगी और हमारा मंगलयान 24 सितम्बर, 2014 को मंगल की कक्षा में प्रविष्ट हो जायेगा। निःसन्देह इससे 'इसरो' और भारत का गौरववर्द्धन होगा।

भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) के इतिहास का एक गौरवमयी क्षण। 5 नवम्बर, 2013 को ध्रुवीय रॉकेट (मिशन पीएसएलवी-सी 25) को लिफ्ट ऑफ के साथ भारत का मंगल अभियान (मार्स आर्बिटर मिशन) आरंभ हो गया। सतीश धवन अंतरिक्ष केंद्र, श्रीहरिकोटा से दोपहर 02:38 बजे ध्रुवीय रॉकेट ने उड़ान भरी, 44 मिनटों की यात्रा के बाद इसने मंगलयान को पृथ्वी की कक्षा में सफलतापूर्वक स्थापित कर दिया। यह संशय की घड़ी थी लेकिन सुखद इस अर्थ में यह सकुशल संपन्न हो गई। रॉकेट ने मंगल यान को 247 किलोमीटर × 23,566 किलोमीटर की दीर्घवृत्ताकार कक्षा में स्थापित कर दिया। यान को मंगल की कक्षा में स्थापित करने की प्रक्रिया 6 चरणों में संपूर्ण होगी, जिसमें पहली बाधा दूर हो गई।

प्रायः 25 दिनों तक धरती की परिक्रमा करने के बाद इसे धरती की कक्षा से बाहर निकाल कर सूर्य की कक्षा में डाल दिया गया और 68 करोड़ किलोमीटर की यात्रा के बाद यान मध्य सितम्बर, 2014 तक मंगल की कक्षा में प्रविष्ट हो जाएगा, मगर इसे 300 दिनों तक सूर्य की परिक्रमा करनी होगी और तब कहीं जाकर इसे मंगल के प्रत्यक्ष दर्शन होंगे।

कक्षोन्नयन की प्रक्रियाएँ

7 नवम्बर, 2013 को यान की कक्षा के उन्नयन की प्रक्रिया आरंभ हुई। 'इस्ट्रैक' (ISRO- Tetemetry, Tracking and Command Network-ISTRAC) बेंगलरु के वैज्ञानिकों ने 7 नवम्बर की भोर में 01:17 बजे यान के 440 न्यूटन इंजन के प्रज्वलन की कमान भेजी। इंजन 7 मिनट तक प्रज्वलित रहा और इसने यान की कक्षा वर्धित कर दी। अब इसकी धरती से उच्चतम दूरी (Apogee) 23,566 किलोमीटर से बढ़कर 28,825 किलोमीटर हो गई और निम्नतम दूरी (Perigee) 247 किलोमीटर से बढ़कर 252 किलोमीटर हो गई।

मार्स आर्बिटर की कक्षा के उन्नयन का अगला चरण 8 नवम्बर, 2013 को सकुशल संपन्न हो गया। 'इस्ट्रैक' के वैज्ञानिकों ने तड़के 02:18 बजे 440 न्यूटन इंजन के प्रज्वलन की कमान भेजी। 570 सेंकड तक प्रज्वलित रह कर इसने यान की कक्षा का उन्नयन संपन्न कर दिया। इससे यान की धरती से अधिकतम दूरी 28,814 किलोमीटर से बढ़कर 40,186 किलोमीटर हो गई।

आर्बिटर के कक्षोन्नयन का तीसरा चरण 9 नवम्बर, 2013 को संपन्न हुआ। इस्ट्रैक के इंजीनियरों ने भोर में 02:10 अजे 440 न्यूटन इंजन के प्रज्वलन का आदेश दिया और 12 मिनट के बाद यान का दूरस्थ बिंदु 40,186 किलोमीटर से बढ़कर 71,636 किलोमीटर हो गया।

मगर इसके चौथे चरण में एक बाधा उत्पन्न हुई और यान 1,00,000 किलोमीटर के दूरस्थ बिन्दु के लक्ष्य को न पा सका। इस चरण में यान के दूरस्थ बिन्दु को 71,623 किलोमीटर से बढ़ा कर एक लाख किलोमीटर तक करना था। लेकिन 35 मीटर प्रति

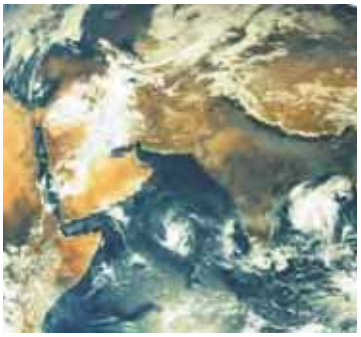

मंगलयान द्वारा प्रथम प्रेषित छायाचित्र

*135/27-सी, छोटा बघाड़ा (एनी बेसेंट स्कूल के पीछे), इलाहाबाद – 211 002.

ISSN 2231-2455

सेंकड के वेग से यह मात्र 78,276 किलोमीटर तक की ऊँचाई तक ही जा सका क्योंकि यान को हम 130 मीटर प्रति सेंकड का वेग न दे सकें।

वस्ततः 440 न्यूटन इंजन में एक प्राथमिक और एक अतिरिक्त विद्युत क्वाइल इस्तेमाल किया जाता है और दोनों दो वाल्वों से ईंधन और ऑक्सीकारी को प्रज्वलन कक्ष में भेजते हैं। मगर इस बार इसरो ने दोनों क्वाइलों का एक साथ इस्तेमाल करने का प्रयास किया और ऐसा करने से ईंधन का प्रवाह रुक गया और आर्बिटर को वांछित वेग न प्राप्त हो सका। इस बीच इंजन के प्रज्वलन की अवधि समाप्त हो गई थी और यान आगे बढ़ चुका था। पिछले तीन प्रयासों में इसरो ने प्राथमिक क्वाइल का ही इस्तेमाल किया था।

इस सन्दर्भ में 'इसरो' का कहना है कि इसकी दोनों क्वाइलें स्वतंत्र रूप से ठीक-ठाक काम कर रही हैं (लेकिन एक साथ नहीं)। बहरहाल अगले दिन 12 नवमबर, 2013 को 'इसरो' ने प्राथमिक क्वाइल का इस्तेमाल किया जैसा कि 7, 8 और 9 नवम्बर, 2013 को किया गया था और लीजिए ऐसा करने से कक्षोन्नयन की यह प्रक्रिया भी सकुशल संपन्न हो गई।

मार्स आर्बिटर के कक्षोन्नयन का पाँचवाँ चरण भी 16 नवम्बर, 2013 को सकुशल संपन्न हो गया जब इस्ट्रैक, बेंगलुरु के वैज्ञानिकों ने यान की नोदन प्रणाली को इंजन के प्रज्वलन की कमांड दी। यह कमान तड़के 01:27 बजे दी गई। इंजन का प्रज्वलन 244 सेंकड जारी रहा और फलस्वरूप यान और ऊँची कक्षा में प्रवेश कर गया। इसकी धरती से अधिकतम दूरी को 1,18,642 किलोमीटर से बढ़ा कर 1,92,874 किलोमीटर कर दिया गया।

यान की कक्षा के उन्नयन की आखिरी प्रक्रिया 30 नवम्बर/01 दिसम्बर की रात को आरंभ हुई। 01 दिसम्बर, 2013 को भोर में 12:49 बजे 'इसरो' ने मंगलयान को कमान भेजी जिसे 'परा मंगल प्रवेश' (TMI-Trans Mars Injection) कहते हैं। 23 मिनटों तक 440 न्यूटन इंजन दागा गया फलस्वरूप नोदन प्रणाली ने मंगल यान को इतना आवश्यक वेग प्रदान कर दिया कि वह पृथ्वी की कक्षा से बाहर निकलकर सूर्य केंद्रिक कक्षा में प्रविष्ट हो गया। प्रायः 10 महीनों की यात्रा के बाद 68 करोड़ किलोमीटर की दूरी तय करके यह मंगल ग्रह का प्रत्यक्ष दर्शन करेगा और 24 सितम्बर, 2014 को हमारा मंगलयान मंगल की कक्षा में प्रविष्ट हो जायेगा। लेकिन वह क्षण विशेष 'इसरो' के लिए चुनौतीपूर्ण होगा। यान के 300 दिनों तक सूर्य के चतुर्दिक घूमने के बाद इस्ट्रैक के विशेषज्ञ ज्ञान की नोदन प्रणाली को प्रज्वलन का आदेश देंगे ताकि इसकी गति धीमी (अन्यथा इसकी मंगल से भिड़त हो जाएगी) हो सके और यह मंगल की कक्षा में प्रविष्ट हो सके और तब इसकी मंगल से निकटतम दूरी (Peri-apsis) 365 किलोमीटर और उच्चतम दूरी (Apo-apsis) 80,000 किलोमीटर होगी। यदि यह सारा उपक्रम सकुशल संपन्न हो गया तो हमारा मंगल मिशन पूर्णतः सफल हो जाएगा।

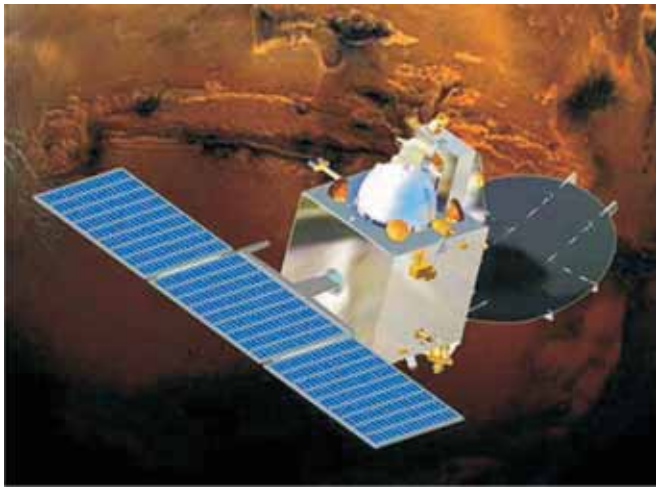

मंगलयान मार्स-आई.एस.आर.ओ.

'इसरो' के अध्यक्ष डॉ0 के. राधाकृष्णन का कहना है कि हमारा प्राथमिक उद्देश्य मंगलयान को मंगल की कक्षा में प्रवेश कराना है और यदि यह यान मंगल के चतुर्दिक उसकी कक्षा में स्थापित हो गया तो समझ लीजिए कि हमारा 85 प्रतिशत कार्य संपन्न हो गया। इसके बाद फिर वैज्ञानिक प्रयोग आरंभ होंगे।

यदि यह चुनौतीपूर्ण चरण संपन्न हो गया तो 'इसरो' छू लेगा बुलंदियों का एक और आसमान क्योंकि अधिकांश राष्ट्रों को अपने पहले-पहले प्रयासों में विफलताएँ ही हाथ लगी हैं। यदि मिशन कामयाब हो जाता है तो भारत उन चुनिंदा देशों में शुमार हो जाएगा जिन्होंने सफलतापूर्वक मंगल अभियानों को अंजाम दिए हैं। फिलहाल इस दिशा में अमेरिका, रूस और फ्रांस को ही कामयाबियाँ हासिल हुई हैं।

पृथ्वी की कक्षा से बाहर निकल जाने के बाद से मंगलयान की लगातार निगरानी करनी होगी जब तक यह अपने लक्ष्य को न प्राप्त कर लें इसके प्रक्षेप पथ में यदि विचलन हो गया तो हमारा यान कहीं भटक जाएगा। इसके लिए जो सुधार प्रक्रिया की जाती है, उसे प्रक्षेप पथ सुधार युक्ति (TCM- Trajectory Correction Manoeuvre) कहते हैं।

इसका पहला चरण (टीसएम-1) 11 दिसम्बर, 2013 को प्रातः 06:30 बजे संपन्न हो गया। अपेक्षाकृत छोटे, 22 न्यूटन इंजन को 40.5 सेंकड तक दागा गया जिससे यान को थोड़ा सा अतिरिक्त वेग मिल गया। उस समय हमारा यान धरती से प्रायः 29 लाख किलोमीटर दूर था।

इसके बाद ऐसी सुधार प्रक्रियाएँ क्रमशः अप्रैल, 2014 में की जायेंगी और अंतिम बार सितम्बर, 2014 में यह प्रक्रिया संपन्न होगी ताकि बिना किसी बाधा के यान मंगल की कक्षा में प्रविष्ट हो जाय। ध्रुवीय रॉकेट की ताजी उड़ान की विशिष्टता इस अर्थ में है कि यह अपने साथ भारत के 1350 किलोग्राम वजनी जिस आर्बिटर को ले गया है, वैसे मिशन की तो मात्र परिकल्पना की जा सकती है। सरकार से स्वीकृति मिलने के मात्र एक वर्ष के भीतर 'इसरो' ने यान निर्मित कर दिया और इस पर कुल लागत मात्र 450 करोड़ रुपये आई है।

मार्स आर्बिटर के उद्देश्य

हमारे इस अभियान का प्राथमिक उद्देश्य तो हमारे ध्रुवीय रॉकेट-पीएसएलवी की प्रौद्योगिकी के चरमोत्कर्ष और तकनीकी कौशल का प्रदर्शन करना ाि जो उसने अपनी पूर्व उड़ानों मे ही संपन्न कर दिया हैं लेकिन यह अभियान थोड़ा जटिल है क्योंकि कई राष्ट्रों को अपने आरंभिक प्रयासों में सफलताएँ नहीं मिली हैं। 'इसरो' का दूसरा उद्देश्य है मंगल की सतह की पड़ताल करना, मंगल के वायुमंडल का अध्ययन करना, खनिजों की खोज करना और वहाँ पर मेथेन की उपस्थिति की संभावनाओं की पुष्टि करना।

ऐसा माना जाता है (ए.आई. ओपरिन, कांसेप्शन ऑफ ओरिजिन ऑफ लाइफ, 1938) कि यदि किसी भी आकाशीय पिंड में मेथेन है तो

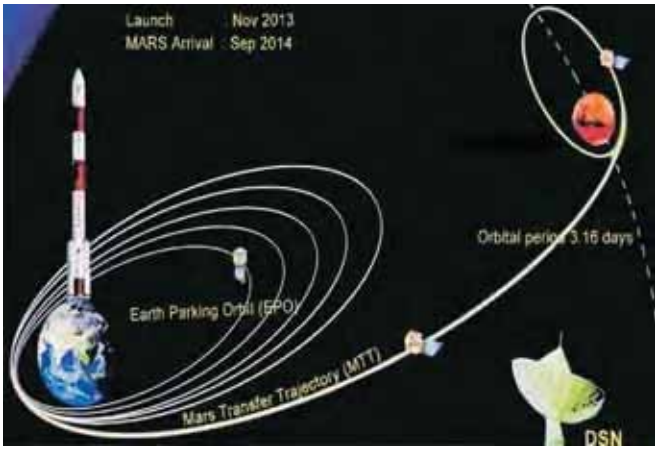

मंगलयान

दूसरी पीढ़ी से हमारे आनुवंशिक गुणों को पहुँचाती है। प्रोटीनों की नन्हीं-नन्हीं बूँदों (कोएसरवेट) के रूप में जीवन पनपा और इस प्रक्रिया में सबसे पहले बैक्टीरिया बने।

एक पूर्ण सूक्ष्म बूँद (कोएसरवेट) जिसमें अन्य पदार्थों के अतिरिक्त न्यूक्लियोप्रोटीनों (डीएनए) का भी समावेश था, को आदि कोशिका माना जा सकता है। अनुमानतः ऐसी कोशिका का निर्माण आज से 2 से 3 अरब वर्ष पूर्व हुआ होगा।

दक्षिण अफ्रीका के अवसादी चट्टानों में *इओबैक्टीरियम आइसोलेटम* नामक बैक्टिीरिया के जो जीवाश्म पाए गए हैं, वे आज से 3 अरब वर्ष पूर्व के हैं। दूसरी बात यह कि यदि किसी ग्रह लोक में हाइड्रोजन है तो इस बात की संभावना प्रबल है कि वहाँ पर जीवन की शुरुआत हो सकती है क्योंकि जीवनोद्भव की प्रक्रिया में हाइड्रोजन और कार्बन की अहम भूमिका है और यदि ये दोनों तत्व हैं तो मेथेन का संश्लेषण हो सकता है। हमारे मार्स आर्बिटर का उद्देश्य वहाँ पर हाइड्रोजन/ड्यूटेरियम के बारे में गहन संधान करना है ताकि यह पहेली हल हो सकें।

यह अनुमान मात्र है कि वहाँ पर पानी है। यदि मंगल पर पानी है तो जीवन का उद्भव भी होना चाहिए और उसके अवशेष भी मिलने चाहिए। कदाचित हमारा मंगल मिशन इस पर नई रोशनी डाल सके।

हमारा आर्बिटर अपने साथ पाँच नीतिभार (पेलोड्स) ले गया है जो मंगल का अन्वेषण करेंगे।

लेमैन अल्का फोटोमीटर (एलएपी)

मीथेन सेन्सर

मार्टिन एक्सोस्फीयरिक न्यूट्रान कम्पोजिशन एनेलाइजर(एमइएनसीए)

वहाँ पर सूक्ष्मजीव (Microbes) पनप सकते हैं जैसा कि आज से अरबों वर्ष पूर्व धरती पर जीवन आया। आदि समुद्रों में एक कोशिकीय रूप में जीवन पनपा। धरती के आदि वातावरण में हाइड्रोजन सर्वाधिक मात्रा में थी और सर्वाधिक सक्रिय थी, फलस्वरूप पानी बना, अमोनिया और मेथेन का संश्लेषण हुआ। इस रासायनिक विकास (कार्बनिक) की फलश्रुति के रूप में कालांतर में सागरों की गोद में जटिल शर्कराएँ, फैटी एसिड, ग्लिसरॉल, एमीनो एसिड, प्यूरीन और पिरीमिडीन का निर्माण हुआ। प्रोटीनों का निर्माण हो गया तो जीवन पनप गया। डीएनए (प्यूरीन और पिरीमिडीन मुख्य संघटक) भी एक जटिल प्रोटीन है जो एक पीढ़ी से

इसका 'लैप' (Lyman Alpha Photometer) नामक फोटोमीटर वहाँ पर ड्यूटेरियम और हाइड्रोजन की सापेक्षित प्रचुरता की माप करेगा। ड्यूटेरियम/हाइड्रोजन अनुपात के मापन से मंगल के ऊपरी वायुमंडल में पानी की क्षति की मात्रा का आंकलन किया जा सकेगा। वास्तव में लैप लाइमन-एल्फा उत्सर्जनों से हाइड्रोजन/ड्यूटेरियम के पलायन का अध्ययन करेगा जिससे ज्ञात होगा कि इन तत्वों ने क्यूँ कर पलायन किया और पानी (?) वहाँ से क्यों गायब हो गया?

दूसरा नीतिभार मेथेन सेंसर (Methane Sensor for Mars-MSM) मंगल के वातावरण में मेथेन का मापन करेगा (यदि वहाँ पर

ISSN 2231-2455

मेथेन है?) और इसके स्रोतों की भी जानकारी प्राप्त करेगा।

इसका तीसरा नीतिभार 'मेन्का' (Mars Exospheric Neutral Composition Analyser- MENCA) द्रव्य विश्लेषक है जो मंगल के बहिर्मंडल में उपस्थित कणों के निष्क्रिय संगठन का विश्लेषण करेगा।

चौथा नीतिभार तापीय अवरक्त स्पेक्ट्रोमीटर (Thermal Infrared Imaging Spectromerer-TIS) है जो मंगल की सतह के ताप को मापेगा जिससे हमें मंगल की सतह के संगठन के मापन और वहाँ पर खनिजों की खोज में मदद मिलेगी।

पाँचवाँ नीतिभार मार्स कलर कैमरा है जो हमें मंगल की सतह के चित्र भेजेगा।

उम्मीद की जानी चाहिए कि हमारा मंगल मिशन सफलता के एक और उत्तुंग शिखर को पा लेगा।

थर्मल इन्फ्रारेड इमेजिंग स्पेक्ट्रोमीटर

मार्स कलर कैमरा

ध्रुवीय रॉकेट : अब तक की उड़ानें

1. पीएसएलवी-डी 1:20 सितम्बर, 1993 विफल। इसी के उपग्रह IRS-1E भी विनष्ट।
2. पीएसएलवी-डी 2:15 अक्टूबर, 1993, सफल। भारतीय उपग्रह IRS-P2 की स्थापना।
3. पीएसएलवी-डी 3:21 मार्च, 1996, सफल। भारतीय उपग्रह IRS-P3 की स्थापना।
4. पीएसएलवी-सी 1:29 सितम्बर, 1997, सफल। भारतीय सुदूर संवेदन उपग्रह IRS-ID की स्थापना।
5. पीएसएलवी-सी 2:26 मई, 1999, सफल। भारतीय उपग्रह IRS-P4 (ओशन सैट) के साथ कोरियाई उपग्रह 'किटसैट-3' और जर्मन उपग्रह 'टब सैट' की स्थापना।
6. पीएसएलवी-सी 3:22 अक्टूबर 2001, सफल। पुनः एक साथ तीन उपग्रहों-भारतीय उपग्रह 'TES' (Technology Experiment Satellite), जर्मन उपग्रह 'BIRD' और बेल्जियन उपग्रह 'PROBA' की स्थापना।
7. पीएसएलवी-सी 4:12 सितम्बर 2002, सफल। भारत के मौसमी उपग्रह 'मेटसैट' (कल्पना-1) की भू-स्थिर कक्षा में स्थापना, 'इसरो' के तकनीकी कौशल का चमत्कार।
8. पीएसएलवी-सी 5:17 अक्टूबर, 2003, सफल। भारतीय सुदूर संवेदन उपग्रह 'रिसोर्स सैट-1' की स्थापना। उपग्रह IRS-1C और IRSD-ID का स्थानापन्न है।
9. पीएसएलवी-सी 6:5 मई, 2005, सफल। भारतीय सुदूरसंवेदन उपग्रह 'कार्टो सैट-1' और इसके हमसफर भारतीय उपग्रह 'हैमसैट' की स्थापना जो शौकिया रेडियो आपरेटरों के लिए 'इसरो' की ओर से एक तोहफा था।
10. पीएसएलवी-सी 7:10 जनवरी, 2007, सफल। एक साथ चार उपग्रहों का सफल प्रक्षेपण-दो भारतीय उपग्रह और दो विदेशी। इस मिशन का उद्देश्य भारतीय उपग्रह 'SRE-1' (SpaceRecovery Experiment) को अंतरिक्ष में भेजना और उसे पुनः धरती पर प्राप्त करना था। 'इसरो' ने इस कारनामे को कुशलता से अंजाम दिया।
11. पीएसएलवी-सी 8:23 अप्रैल, 2007, सफल। दो उपग्रहों का सफल प्रक्षेपण-भारतीय उपग्रह 'AAM' (Advanced Avionics Module) और इटली का 'एजाइल'।
12. पीएसएलवी-सी 10:21 जनवरी, 2008 सफल। इस्त्राइल के 'पोलरिस' (अब इसका नाम TECSAR है) उपग्रह की स्थापना।

13. पीएसएलवी-सी 9:28 अप्रैल, 2008, सफल। दो भारतीय उपग्रहों 'कार्टोसैट-2ए' और 'आई.एम.एस.' समेत एक साथ 10 उपग्रहों (8 विदेशी) का सफल प्रक्षेपण। अंतरिक्ष विज्ञान के इतिहास में एक अभिनव रिकार्ड।
14. पीएसएलवी-सी 11:22 अक्टूबर, 2008, सफल। भारतीय चंद्रमिशन 'चंद्रयान-1' नामक उपग्रह की चंद्रमा की कक्षा में स्थापना। 'इसरो' का एक और चरमोत्कर्ष।
15. पीएसएलवी-सी 12:20 अप्रैल, 2009, सफल। इस्राइल द्वारा निर्मित भारतीय उपग्रह 'रिसैट-2' की स्थापना। साथ ही अन्नमलाई विश्वविद्यालय, चेन्नई के छात्रों/अध्यापकों द्वारा निर्मित 'ANUSAT' उपग्रह की सफल स्थापना।
16. पीएसएलवी-सी 14:23 सितम्बर, 2009, सफल। भारतीय उपग्रह 'ओशन सैट-2' समेत कुल 7 उपग्रहों (6 विदेशी) की स्थापना।
17. पीएसएलवी-सी 15:12 जुलाई, 2010, सफल। एक साथ पाँच उपग्रहों की सफल स्थापना। दो भारतीय उपग्रहों- 'कार्टोसैट-2बी' और 'स्टुडसैट' के साथ 3 विदेशी उपग्रहों का सफल प्रक्षेपण।
18. पीएसएलवी-सी 16:20 अप्रैल, 2011, सफल। भारतीय सुदूर संवेदन उपग्रह 'रिसोर्ससैट-2' समेत भारतीय-रूसी उपग्रह 'यूथसैट' और सिंगापुर के 'एक्स-सैट' की सफल स्थापना।
19. पीएसएलवी-सी 17:15 जुलाई, 2011, सफल। भारतीय संचार उपग्रह 'जीसैट-12' की भू-स्थिर कक्षा में सफल स्थापना।
20. पीएसएलवी-सी 18:12 अक्टूबर, 2011, एफ। भारत-फ्रांस के संयुक्त उपग्रह 'मेघ ट्रापिक्स', तीन नैनो उपग्रहों- 'एस.आर.एम. सैट, 'जुगनू' और 'वेसेलसैट-1' का सफल प्रक्षेपण।
21. पीएसएलवी-सी 19:26 अप्रैल, 2012, सफल। भारत के पहले राडार इमेजिंग सैटेलाइट 'रीसैट-1' की सफल स्थापना। इसरो का एक और कीर्तिमान।
22. पीएसएलवी-सी 21:9 सितम्बर, 2013, सफल। फ्रेंस उपग्रह 'स्पॉट-6' और जापानी उपग्रह 'प्रोईटेरस' की सफल स्थापना।
23. पीएसएलवी-सी 20:25 फरवरी, 2013, सफल। भारत-फ्रांस के संयुक्त उपग्रह 'सरल' समेत 7 उपग्रहों का सफल प्रक्षेपण।
24. पीएसएलवी-सी 22:1 जुलाई, 2013, सफल। भारत के प्रथम नैविगेशन उपग्रह-आईआरएनएस-1A (Indian Regional Navigation Satellite System-IRNSS-1A) का सफल प्रक्षेपण।
25. पीएसएलवी-सी 25:5 नवम्बर, 2013 सफल। भारत के मंगलयान (मार्स आर्बिटर मिशन) का सफल प्रक्षेपण।

यहाँ रेखांकित करना है कि ध्रुवीय राकेट की पहली और एक मात्र उड़ान (20 सितम्बर, 1993) विफल हुई थी, आगे की सारी उड़ानें सफल रही हैं, सद्यः 25वीं और लगातार 24वीं सफल उड़ान है।

-शुकदेव प्रसाद

कम सोती हैं महिलाएँ

घर और कार्यालय के दोहरे दबाव के चलते कामकाजी महिलाओं को जल्दी नींद नहीं आती है। पुरुषों के मुकाबले वे ज्यादा समय बिस्तर पर बिताती तो हैं, लेकिन रात में बार-बार उनकी नींद टूटती रहती है। कैंब्रिज विश्वविद्यालय के एक अध्ययन में यह बात सामने आई है। यह अध्ययन 8500 महिला और पुरुष पर किया गया। शोधकर्ताओं के मुताबिक औसतन पुरुष 8 घंटे 41 मिनट बिस्तर पर बिताते हैं, लेकिन सोते सिर्फ 6 घंटे 53 मिनट हैं। जहाँ तक महिलाओं की बात है तो वे रोजाना 8 घंटे 47 मिनट बिस्तर पर लेटी होती हैं, लेकिन काम के तनाव के चलते बार-बार नींद टूटने से उन्हें सिर्फ 6 घंटे 48 मिनट की मीठी नींद ही नसीब हो पाती है। शोधकर्ता यो लेंग के अनुसार महिलाएँ कोशिश करती हैं कि पुरुषों को ज्यादा आराम मिले, इसलिए वे घर के ज्यादातर काम खुद ही करती हैं। इसके अलावा महिलाओं को हार्मोनल गड़बड़ियों और मासिक चक्र संबंधी दिक्कतों के कारण भी नींद में कमी आती है।

कृत्रिम न्यूरल तंत्र

डॉ0 अभिषेक सिंह*

कृत्रिम न्यूरल तंत्रों का विकास लगभग 70 वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। इनका प्रयोग प्रथम बार 1943 में मुक्क्ल्लोच और पिट्स ने किया था किन्तु संगणक सुविधाओं के न होने कि वजह से उनका प्रयोग 20वीं सदी के अंतिम वर्ष तक न के बराबर था। इसकी अभिप्रेरणा वैज्ञानिकों की उस सोच का परिणाम थी जिसमें कृत्रिम बुद्धि के विकास का विचार था। उन्हें यह जानने की उत्सुकता थी कि एक मानव मस्तिष्क भले ही एक संगणक से गति में परास्त हो जाये किन्तु उसकी विचार प्रक्रिया और संज्ञानात्मक कार्यों की क्षमता किसी भी बोधगम्य संगणक से अधिक कैसे है? जो कार्य एक संगणक नैनो सेकेंड में करता है उसी कार्य को करने के लिए मस्तिष्क मिलीसेकेंड लेता है फिर भी मस्तिष्क की सुपरिचित चीजों को पहचानने की क्षमता अद्वितीय है। एक बालक का मस्तिष्क भी अपनी माँ का चेहरा और आवाज सहजता से पहचान सकता है जबकि यही कार्य करने के लिए अच्छे से अच्छे संगणक फेल हो जाते हैं। मस्तिष्क की यह अद्भुत क्षमता सूचना प्रसंस्करण के संगठन व्यवस्था का परिणाम है। मानव मन में हमेशा से यह प्रश्न थे कि –

- कौन से ऐसे काम हैं जिन्हें मशीनें मनुष्यों से बेहतर कर सकती हैं ?
- कौन से ऐसे काम हैं जिन्हें मनुष्य मशीनों से बेहतर कर सकता है ?
- कौन से ऐसे काम हैं जिनमें दोनों निपुण हैं ?
- कुछ सीखने का क्या मतलब होता है ?
- कुछ सीखने की प्रक्रिया बुद्धिमता से किस प्रकार सम्बन्धित है ?
- क्या कभी कोई ऐसी मशीन का आविष्कार होगा जो बुद्धिमान हो ?

इन्हीं प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिये मनुष्य ने ऐसी मशीनों का आविष्कार करने का प्रयास किया जो–

- उदाहरण से सीख सके
- वर्गीकरण कर सके
- अनुकूलन कर सके
- साहचर्य स्मृति का प्रयोग कर सके

जैविक न्यूरॉन

एक सामान्य मस्तिष्क में लगभग 100 करोड़ नर्व कोशिकायें होती हैं जिन्हें न्यूरान कहा जाता है। एक न्यूरान दूसरे न्यूरानो से लगभग 10,000 अन्तर्ग्रथन (Synapses) से जुड़े रहते हैं। यह विशेषता

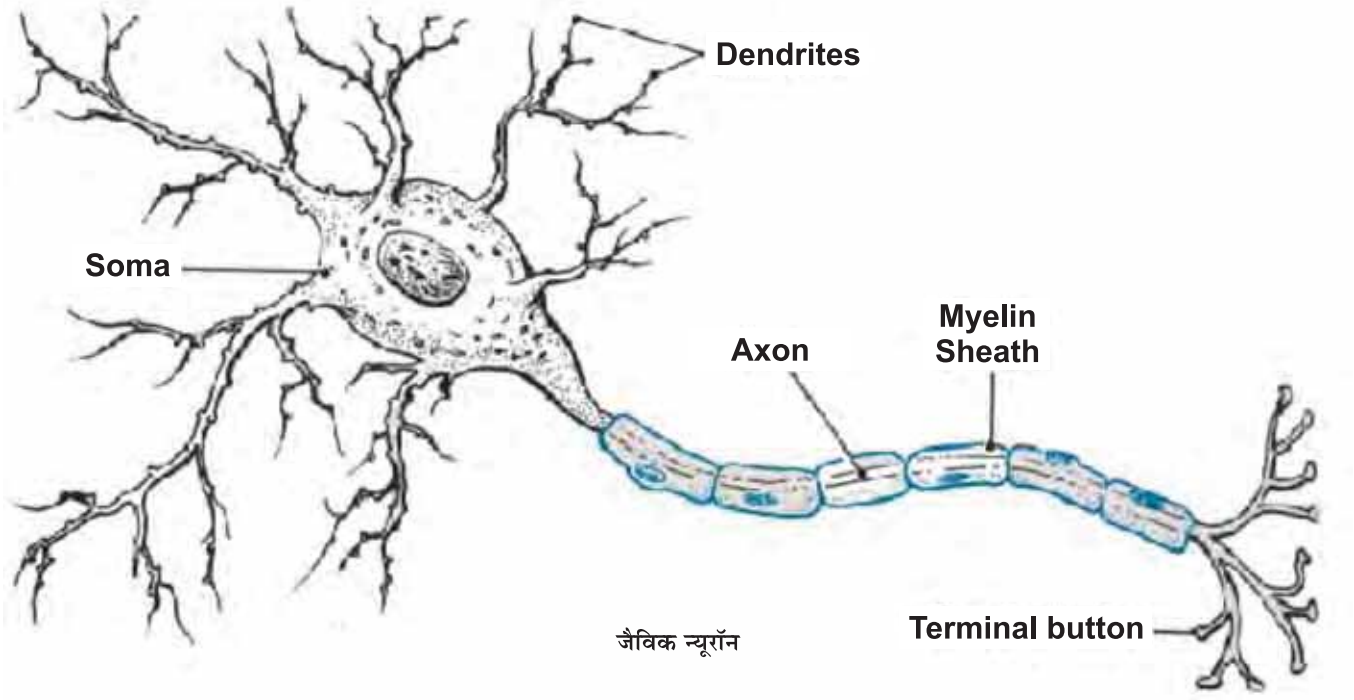

जैविक न्यूरॉन

*सह-प्रध्यापक (कृषि सांख्यिकी), फार्म अभियांत्रिकी विभाग, कृषि विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी – 221 005.

मस्तिष्क को एक विशाल समानांतर प्रक्रमण तंत्र (Processing System) बनाती है। यही नहीं इतना विशाल होने पर भी मानव मस्तिष्क अधिकतम 100 hz की दर पर काम करता है जबकि एक समान्य संगणक (Computer) कई सौ ऑप्रेशन 1 सेकण्ड में करता है।

मस्तिष्क की कम्प्यूटेशनल एक नर्व कोशिका अथवा एक न्यूरान होती है। एक न्यूरान होती है। एक न्यूरान के निम्नलिखित भाग होते हैं –

- डेन्ड्राइट (जहाँ से न्यूरान इनपुट पाता है)
- कोशिका का शरीर
- तंत्रिकाक्ष (Axon) (जहाँ से न्यूरान आउटपुट देता है)।

एक न्यूरान डेन्ड्राइट पर हजारों इनपुट ग्रहन करता है और यह सारे इनपुट जुड़े होते हैं। यदि जोड़ एक दहलीज (Threshold) से ज्यादा होता है तो न्यूरान एक प्रवाह में क्षणिक परिवर्तन (Spike), एक विद्युत स्पन्द (Pulse) पैदा करता है जो न्यूरान कोशिका के शरीर एवं तंत्रिकाक्ष (Axon) से होते हुए दूसरे न्यूरान के डेन्ड्राइट तक पहुँचता है और इसी प्रकार से सूचना मस्तिष्क में अग्रसारित होती है। मस्तिष्क कि इसी संरचना जिसमें –

- समांतर सूचना प्रक्रम
- बुनियादी इकाई में उच्च डिग्री की संयोजकता (Connectivity)
- क्षरण सहने की क्षमता (यदि कोई भाग क्षतिग्रस्त हो तो भी बाकी भाग काम करते रहेंगे)
- स्वतः सीखने की क्षमता का अनुसरण करते हुए कृत्रिम न्यूरल तंत्र का आविष्कार किया गया।

कृत्रिम न्यूरल तंत्र

कृत्रिम न्यूरल तंत्र सूचना को संसाधित करने वाला ऐसा तंत्र है जो मानव मस्तिष्क की सीखने की पद्धति का अनुसरण करते हैं। जैविक मस्तिष्क में सूचना की प्रसंस्करण बहुत ही सामान्य ईकाइयों जिन्हें न्यूरान कहते हैं, में होता है। यह न्यूरान आपस में जुड़े होते हैं और इनके बीच सूचना का आदान प्रदान संकेतों के आधार पर होता है। एक सामान्य कृत्रिम न्यूरान को एक इकाई भी कहा जाता है। यह बाहरी स्रोत से इनपुट

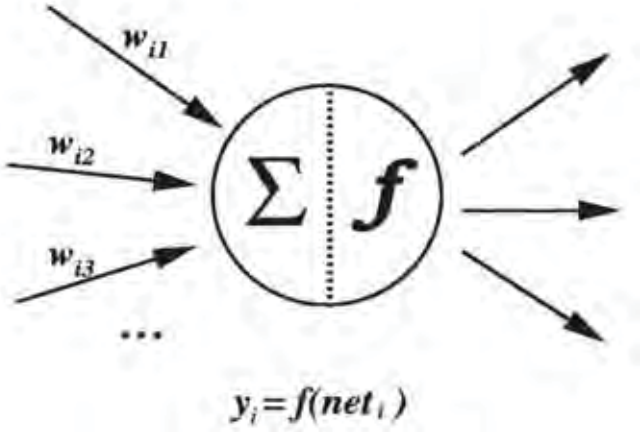

कृत्रिम न्यूरॉन

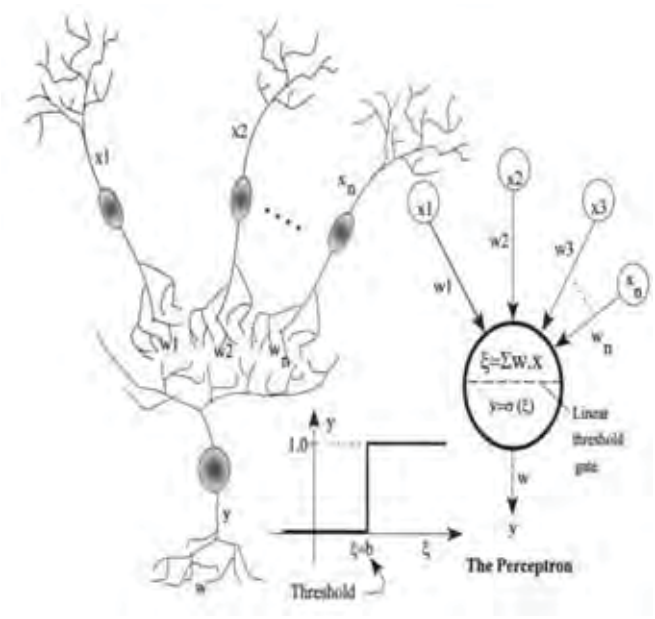

जैविक न्यूरॉन और कृत्रिम न्यूरॉन

पाता है और हर एक इनपुट के साथ एक विशिष्ट भार सन्धिबद्ध करता है। इन इनपुट का इनके विशिष्ट भारों के साथ जोड़ एक फलन से होते हुए आउटपुट में परिवर्तित हो जाता है जो अन्य इकाई का इनपुट बन जाता है।

भारित जोड़ को शुद्ध इनपुट कहते हैं और फलन को सक्रियण फलन (Activation Function) कहते हैं। इसी प्रकार की कई इकैयान मिलकर कृत्रिम न्यूरल तंत्र का निर्माण करती हैं।

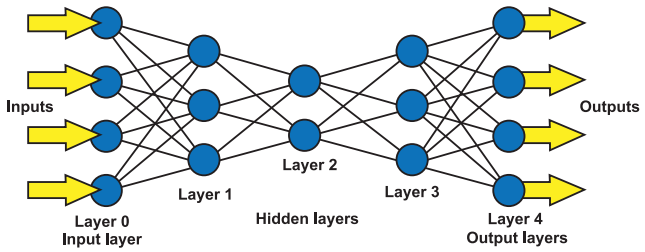

कृत्रिम न्यूरल तंत्र

इस प्रकार का तंत्र एक ब्लैक बाक्स के तरह काम करता है। केवल हर न्यूरान के भारों को बदल कर किसी प्रकार के इनपुट से इचिक आउटपुट पाया जा सकता है। कृत्रित न्यूरल तंत्र सभी प्रकार के आरेखिय सम्बन्धों को मॉडल कर सकता है और यही इसकी सफलता का राज है।

कृत्रिम न्यूरल तंत्र का आर्किटेक्चर

एक कृत्रिम न्यूरल तंत्र में सामान्यता एक इनपुट परत होती है जो बाहर से इनपुट ग्रहण करती है और एक आउटपुट परत होती है जो आउटपुट प्रदान करती है। इन परतों के बीच एक या उससे अधिक गुप्त परतें भी होती हैं। हर परत में कई कृत्रिम न्यूरान होते हैं। यह सभी परतें आपस में गुथी होती हैं। इन गुथी हुई परतों की संरचना के आधार पर कृत्रिम न्यूरल तंत्र दो प्रकार के होते हैं –

1. **फीड फोरवर्ड तंत्र (Feed Forward Network)–** इस प्रकार के तंत्र में सूचना का प्रवाह केवल एक ही दिशा में होता है जो कि इनपुट परत से आउटपुट परत की दिशा में होता है।

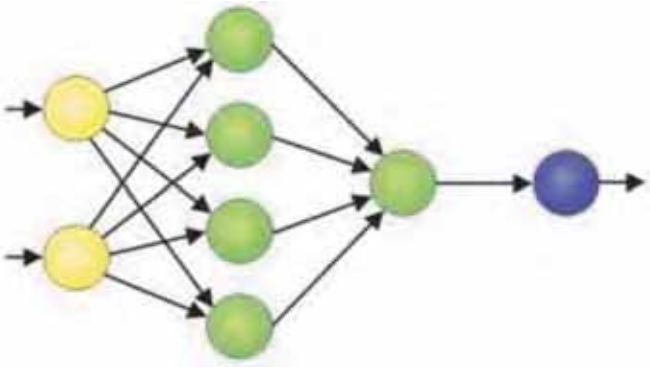

फीड फोरवर्ड कृत्रिम न्यूरल तंत्र

2. **रिकरेन्ट तंत्र (Recurrent Network)–** इस प्रकार के न्यूरल तंत्र में सूचना कई दिशा में प्रवाहित हो सकती है अर्थात एक ही परत के न्यूरोन में सम्बन्ध हो सकता है।

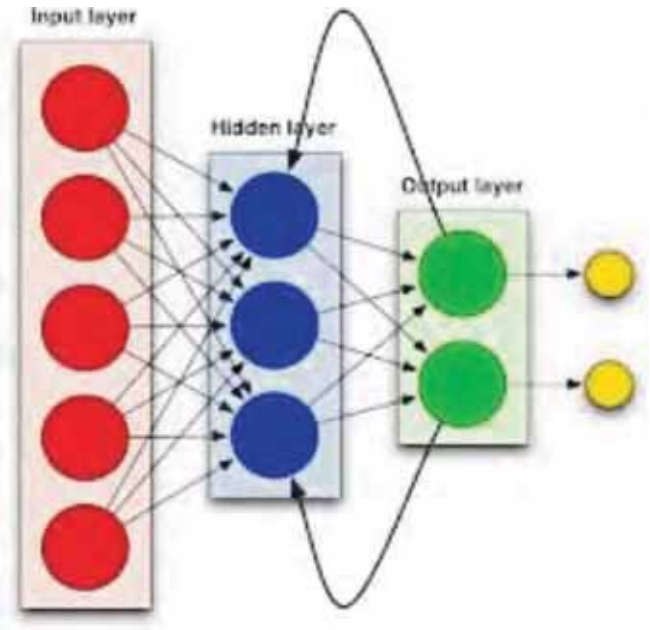

रिकरेन्ट कृत्रिम न्यूरल तंत्र

कृत्रिम न्यूरल तंत्र का प्रशिक्षण

कृत्रिम न्यूरल तंत्रों का एक प्रमुख पहलू भारों को अद्यतन (Update) करने की प्रक्रिया है जिसे कृत्रिम न्यूरल तंत्र का प्रशिक्षण कहा जाता है। यह दो प्रकार से किया जा सकता है-

1. **अधीक्षण प्रशिक्षण (Supervised Learning)–** इस पद्धति में एक न्यूरल तंत्र को इनपुट और आउटपुट दोनों नमूने दिये जाते हैं जिन्हें पाकर कृत्रिम न्यूरल तंत्र भारोन का निर्धारण करता है।

2. **बिना अधीक्षण प्रशिक्षण (Unsupervised Learning)–** इस पद्धति में एक न्यूरल तंत्र स्वयं ही इनपुट नमूने के आधार पर भारोन का निर्धारण करता है।

कृत्रिम न्यूरल तंत्र के प्रशिक्षण में बहुत सी बातों का ध्यान रखना पड़ता है। जैसे कि भारोन को किस दर से बदला जाये। यदि यह दर अधिक होगी तो तंत्र घाटा फलन (Loss function) के वैश्विक न्यूनतम से आगे निकल सकता है और यदि यह कम होती है तो वैश्विक न्यूनतम तक पहुँचने में बहुत समय लग सकता है। भारों को किस दर से बदला जाये यह एक महत्वपूर्ण निर्णय होता है।

कृत्रिम न्यूरल तंत्र के उपयोग

कृत्रिम न्यूरल तंत्र अब लगभग बहुत प्रकार के शोध में प्रयोग किये जा रहे हैं। बिजली इंजीनियर इनका प्रयोग संकेत प्रक्रमन (Signal Processing) और नियंत्रण सिद्धांत (Control Theory) में कर रहे हैं। कंप्यूटर इंजीनियर इन तंत्रों को विकसित करने के लिए आवश्यक हार्डवेयर और इन तंत्रों के उपयोग से रोबोट बनाने को लेकर उत्साहित हैं। वो इनका प्रयोग कृत्रिम बुद्धिमत्ता और प्रतिरूप अभिज्ञान (Pattern Recognition) कि क्षमता के अनुसार कठिनाइयों का हल ढूँढ़ने में कर रहे हैं। प्रायौगिक गणितज्ञ इनका प्रयोग प्रतिरूपण मोडलिंग के क्षेत्र में कर रहे हैं, खासकर उन स्थितियों में जब चरों के बीच में सटीक संबन्धों का ज्ञान नहीं होता है। इसी प्रकार इनका प्रयोग वित्त, दवा, इंजीनियरिंग, भूविज्ञान और भौतिकी में भी बढ़ता जा रहा है। इन तंत्रों का प्रयोग आरेखिय फलन की मॉडलिंग में अत्यंत उत्तम है। यह कृपणता (Parsimony) की समस्या का निदान कर सकते हैं।

कृत्रिम न्यूरल तंत्रों का प्रयोग रोगों का पूर्वानुमान लगाने के लिये भी हो रहा है। इनका प्रयोग शेयर बाजार के पूर्वानुमान के लिये भी किया जाता है। यह शेयरों की पूर्व मूल्यों एवं आर्थिक संकेतों के आधार पर शेयर का मूल्य निर्धारित कर सकते हैं। बैंक कृत्रिम न्यूरल तंत्र के आधार पर कर्ज माँगने वालों का वर्गीकरण कर सकते हैं। कृत्रिम न्यूरल तंत्रों की मदद से ग्राहकों की आयु शिक्षा, नौकरी और उनकी देनदारियों के आधार पर उसकी कर्ज चुकाने की क्षमता का आंकलन किया जा सकता है। किसी इंजन की हालत की निगरानी करने का काम भी कृत्रिम न्यूरल नेटवर्क कर रहे हैं। इनका प्रयोग शब्दों के उच्चारण करने, लोगों की आवज पहचानने आदि में भी किया जा रहा है।

सांख्यिकी के क्षेत्र में भी कृत्रिम न्यूरल तंत्रों न्यूरल तंत्रों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। सांख्यिकी की बहुत सारी पारम्परिक तकनीकें बहुत से मान्यताओं जैसे प्रसमन्यता (Normality), रैखिकता (Linearity), और इनपुट चर की स्वतंत्रता पर आधारित होती हैं। कृत्रिम न्यूरल तंत्र इन मान्यताओं के अपूर्ण होने पर भी सफलता पूर्वक कार्य कर सकते हैं। कृषि के क्षेत्र में तो यह मान्यताओं समान्यतः कभी भी पूर्ण नहीं होती। अतः कृत्रिम न्यूरल तंत्रों का प्रयोग कृषि के क्षेत्र में भी शुरू हो चुका है, जैसे–

- जीआईएस द्वारा प्राप्त जानकारी के आधार पर वनों की मैपिंग एवं वर्गीकरण
- पौधों के रोगों का सटीक पूर्वानुमान
- जलवायु परिवर्तन
- फसलों के बाजार मूल्य का पूर्वानुमान करना

प्रखर कृषि विज्ञानी डॉ0 राधेलाल हरलाल रिछारिया

प्रो0 नरसिंह दयाल*

डॉ0 राधेलाल हरलाल रिछारिया

डॉ0 राधेलाल रिछारिया की गणना विश्व के अग्रणी कृषि विज्ञानियों में की जाती है। भारतीय कृषि विज्ञान में उनका योगदान अमूल्य और अतुलनीय है। अपने छः दशकों के कार्यकाल में उन्होंने चावल की 19,000 किस्मों का संग्रह, अध्ययन और प्रलेखन किया। अधिक उत्पादन के लिए उन्होंने कृतंक प्रसार विधि (क्लोनल प्रोपैगेसन टेक्नोलॉजी) की खोज की, कई अधिक उपजाऊँ, कीट प्रतिरोधी और पर्यावरण हितैषी किस्मों का विकास किया और आजीवन भारतीय कृषि और कृषक हित के प्रति समर्पित और संघर्षरत रहे। लेकिन इतनी महत्वपूर्ण उपलब्धि और योगदान के बावजूद उन्हें भारतीय कृषि विज्ञान के इतिहास में वह स्थान नहीं मिल सका जिसके वे अधिकारी हैं। भारतीय कृषि विज्ञान के इतिहास में वे सर्वाधिक अभिशप्त मूर्ति हैं, उन्हें अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्वार्थी शक्तियों के चक्रव्यूह में फाँस लिया गया। लेकिन भारतीय कृषि विज्ञान का यह महायोद्धा जीवनपर्यन्त इन शक्तियों का डटकर मुकाबला करता रहा। बेहद अकेलेपन में सभी संसाधनों और सुविधाओं से वंचित कर दिए जाने के बाद भी स्वभाव से कोमल पर दृढ़संकल्पी इस विज्ञानी ने जिस तरह शोधकार्य जारी रखा, वह हमेशा के लिए एक शानदार मिसाल है। साथ ही उनकी दुर्दशा अंतर्राष्ट्रीय शक्तियों, उनके राष्ट्रीय सेवकों और बहुराष्ट्रीय कृषि व्यापार कंपनियों द्वारा नियंत्रित विज्ञान और टेक्नोलॉजी के विरुद्ध एक मनहूस सबक और चेतावनी भी है।

आज आजादी के 65 वर्षों के बाद एक बार फिर जब हमारी खाद्य सुरक्षा पर संकट के काले बादल गहराने लगे हैं, तब उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का पुनर्मूल्यांकन बहुत आवश्यक और प्रासंगिक हो गया है। हमने तो लगभग उन्हें भुला ही दिया है। यह कारण है कि उनके जन्मशती वर्ष 2011 में भी इस महान कृषि विज्ञानी की याद किसी को नहीं आई। मुझे विस्मय हुआ जब 2011 में उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से संबंधित मेरा आलेख एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक पत्रिका में प्रकाशन योग्य नहीं समझा गया। हालांकि, मई 2012 में एक साहित्यिक पत्रिका 'कथा देश' के कृषि विशेषांक में प्रकाशित मेरे आलेख 'भारतीय कृषि की दशा और दिशा' में डॉ0 रिछारिया के योगदान की संक्षिप्त चर्चा की गई है।

राधेलाल का जन्म मध्यप्रदेश के जिला होशंगाबाद के अंतर्गत सियोनी-माल्वा तहसील के नंदन बाड़ा गाँव में एक निम्न-मध्यवर्गीय परिवार में 19 मार्च, 1911 को हुआ था। उनके पिता हरलाल रिछारिया गाँव की प्राथमिक पाठशाला में हेडमास्टर थे। थोड़ी बहुत खेतीबारी भी थी। पाठशाला में पढ़ाने के साथ-साथ वे गाँव के डाकघर में पोस्टमास्टर का काम भी संभालते थे। वे बहुत जिज्ञाषु व्यक्ति थे और हमेशा कुछ नया करने की सोचते रहते थे। उन्हें बागवानी का विशेष शौक था। अपने छोटे से बगीचे में वे तरह-तरह की सब्जियाँ और फल उगाते और उनके साथ तरह-तरह के दिलचस्प प्रयोग भी करते रहते थे। उनका अपने इलाके के आदिवासियों और किसानों से बहुत अच्छा संपर्क था। उन्हें आश्चर्य होता था कि भोले-भाले और अनपढ़आदिवासी खेती-बारी के बारे में इतना कुछ कैसे जानते हैं। बालक राधेलाल अपने पिता और आदिवासियों की बातचीत बड़ी उत्सुकता से सुनता और पिता से तरह-तरह के बाल सुलभ प्रश्न करता। इस तरह बचपन के दौरान ही राधेलाल के दिलोदिमाग पर इन बातों का गहरा प्रभाव पड़ गया था।

राधेलाल बचपन से ही बड़े मेधावी और विलक्षण बुद्धि के थे। उनकी प्रारंभिक शिक्षा पिता की देखरेख में गाँव की पाठशाला में ही हुई। इसके बाद बालाघाट उच्च विद्यालय में उनका नाम लिखाया गया। अपनी विलक्षण बुद्धि के कारण वे कुछ ही समय में अपने शिक्षकों के प्रियपात्र बन गए। मैट्रिक की परीक्षा में वे बहुत अच्छे अंकों के साथ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। इसके बाद उच्चतर शिक्षा के लिए उन्होंने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में नाम लिखाया। यहाँ से उन्होंने बी.एससी. की उपाधि प्राप्त की। वनस्पति विज्ञान उनका प्रिय विषय था। इसके बाद उन्होंने नागपुर विश्वविद्यालय से एम.एससी. (वनस्पति विज्ञान) की परीक्षा प्रथम श्रेणी से पास की। वे उच्च शिक्षा के प्रति एक निष्ठावान और प्रतिभाशाली युवक थे। वे जीवन में कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धि प्राप्त करना चाहते थे।

नागपुर विश्वविद्यालय में अध्ययन के दौरान उन्हें कैंब्रिज विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध वनस्पति वैज्ञानिक प्रोफेसर पी.एस. हडसन से मिलने का मौका मिला। प्रोफेसर हडसन वहाँ किसी आवश्यक शैक्षणिक और प्रशासनिक कार्य के लिए आये हुए थे। उन्होंने प्रयोगशाला मे कार्यरत छात्रों से मिलने की इच्छा जताई थी। वे राधेलाल के शोधकार्य से बहुत प्रभावित हुए। बातों-बातों में प्रोफेसर ने राधेलाल को कहा कि कैब्रिज विश्वविद्यालय के उनकी प्रयोगशाला में डॉक्टरेट की डिग्री के लिए उनकी ओर से हमेशा उसका स्वागत रहेगा। अगर उसे कभी वहाँ जाने का मौका मिला तो वह जरूर उनसे मिले। लेकिन प्रोफेसर के साथ यह बात आई गई हो गई। न कभी कोई पत्राचार, न ही कोई इस संबंध में कार्यवाही।

इसी बीच राधेलाल ने एक महत्वपूर्ण छात्रवृत्ति के लिए परीक्षा दी।

*पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, वनस्पति विज्ञान विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची (झारखंड) 834 008; आवास–नवकुंज, एच–70, हरयू हाउसिंग कालोनी, राँची–834 002.

इस परीक्षा में उत्तीर्ण छात्रों को आई.सी.एस. की तैयारी के लिए इंग्लैंड भेजा जाता था। वे इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो गए थे और उन्हें इंग्लैंड जाने का मौका मिल गया था। प्रोफेसर हडसन प्रयोगशाला में शोधकार्य के लिए तैयार हो ही रहे थे कि एक उत्साहित युवक के अचानक प्रवेश से वे चौंक गए। वे सोचने लगे कि इसे उन्होंने कहीं देखा तो जरूर है। युवक ने प्रोफेसर को याद दिलाते हुए कहा – ''सर, मैं उम्मीद करता हूँ, आपको याद होगा कि कुछ समय पहले जब आप नागपुर विश्वविद्यालय आये थे तो आपने मुझे डॉक्टरेट के लिए कैंब्रिज आने का निमंत्रण दिया था।'' ''हाँ, हाँ, मुझे सब याद आ गया'' – प्रोफेसर ने कहा। ''लेकिन सर'' – राधेलाल ने आगे कहा – ''मैं बिना जरूरी कागजात और औपचारिकता के यहाँ आ सका हूँ। मेरे पास यहाँ आने के लिए आवश्यक पैसे भी नहीं थे और न ही अब यहाँ रहने के लिए हैं। मैं यहाँ तक केवल इसलिए आ सका हूँ क्योंकि मैंने उस छात्रवृति के लिए परीक्षा पास कर ली है जिससे भारतीय छात्रों को आई.सी.एस. के लिए यहाँ भेजा जाता है।''

इस तरह 22 वर्ष की उम्र में राधेलाल रिछारिया नामक एक विलक्षण प्रतिभा का धनी युवक बिना किसी कागजात और आर्थिक सहायता के कैंब्रिज जा पहुँचा। उसके डॉक्टरेट की राह में रोड़े ही रोड़े थे। लेकिन प्रोफेसर हडसन ऐसी विलक्षण प्रतिभा को आई.सी.एस. के लिए खोना नहीं चाहते थे। इसलिए उन्होंने उससे कहा कि जब तक इस संबंध में कोई निर्णय नहीं हो जाता वह उनकी प्रयोगशाला में शोधकार्य आरंभ कर सकता है। उसे प्रोफेसर से इसी प्रकार के प्रोत्साहन की आवश्यकता थी। उन्होंने आई.सी.एस. की परीक्षा के लिए आए साथियों को अलविदा कहा और प्रयोगशाला में शोधकार्य में जुट गये। केवल कर्मठता, लगन और योग्यता ही थी जिसने उन्हें प्रोफेसर से न केवल डॉक्टररेट करने की अनुमति दिलवा दी बल्कि मात्र दो वर्षों में उसने पीएच.डी. की उपाधि भी प्राप्त कर ली।

कैंब्रिज विश्वविद्यालय से पीएच.डी. की डिग्री प्राप्त करने के बाद उन्हें शीघ्र ही स्वदेश लौट जाना था। लेकिन पास वापसी टिकट तक के पैसे भी नहीं थे। खैर, भारतीय उच्चायोग ने आर्थिक मदद कर उनके लौटने का इंतजाम कर दिया और तब वे स्वदेश लौट सके।

जब वे लौट रहे थे तो प्रोफेसर इंग्लडोन ने उन्हें आर्शीवाद देते हुए कहा था – ''उच्च शिक्षा प्राप्त कर तो कई भारतीय छात्र यहाँ से लौटते हैं, पर मुझे नहीं पता कि उनमें से कितने ऐसे हैं जो भारतीय किसानों की सेवा के प्रति समर्पित हैं। मैं चाहता हूँ कि तुम अपने देश में हमेशा साधारण किसानों के हितों को ध्यान में रखो, उनकी सेवा और मदद करो। यही तुम्हारी असली परीक्षा होगी।''

डॉ. आर.एच. रिछारिया ने अपने प्रोफेसर के इन सुनहरे शब्दों को हमेशा दिल में बैठा लिया और इसके अनुकूल ही कृषि विज्ञान और शोध में स्वयं को ढ़ालने का प्रयास किया। कैंब्रिज में अपने शिक्षकों के ऐसे प्रेरणादायक शब्दों ने इस युवा विज्ञानी के मस्तिष्क पर अमिट छाप छोड़ दी थी। अपने जीवन संघर्ष और उपलब्धियों के बीच वे कभी भी उपरोक्त शब्दों को नहीं भूल पाये।

स्वदेश लौटने पर डॉ. रिछारिया के लिए संभावनाओं के कई द्वार खुले थे। लेकिन उन्होंने अपना वैज्ञानिक जीवन अपने गृह प्रान्त सेंट्रल प्रोविंस के नागपुर से एक तेलहन विशेषज्ञ (आयल सीड एक्सपर्ट) के रूप में सन् 1935 में आरंभ किया। वे इस पद पर यहाँ 1942 तक कार्यरत रहे। यहाँ उन्होंने सरसों और तेलहनी फसलों पर बहुत ही उत्कृष्ट और मौलिक शोधकार्य किया। उनका शोधकार्य सरसों की विभिन्न प्रजातियों और इनसे संबंधित अन्य प्रजातियों के बीच संकरण, संकरों की आनुवंशिकी और गुणसूत्रों का अध्ययन और तेल की मात्रा की वृद्धि पर केंद्रित था।

सरसों के पौधे

सन् 1942 में उन्होंने सबौर कृषि कॉलेज, भागलपुर (बिहार) में एक वरिष्ठ कृषि विज्ञानी के पद पर योगदान दिया और यहाँ वे सन् 1959 तक कार्यरत रहे। यहाँ उन्होंने कई महत्वपूर्ण और उपयोगी शोधकार्य किये। वे सहकर्मियों को हमेशा 'फील्ड वर्क' और 'लैब वर्क' के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित करते रहते। उनमें नेतृत्व की अदभुत क्षमता थी। यहाँ उन्होंने कृषि विज्ञानियों की कई पीढ़ियों का निर्माण किया तथा कार्यकुशल और प्रतिभाशाली विज्ञानियों की एक टीम तैयार की।

अलसी के पौधे

सबौर में डॉ0 रिछारिया ने अलसी (लिन सीड) के पौधों पर एक महत्वपूर्ण और मौलिक शोधकार्य किया। यह भारत का एक महत्वपूर्ण औषधीय गुणों वाली तेलहनी फसल है। उन्होंने इसके बेकार पुआल, जिसे बेकार समझकर जला या फेंक दिया जाता था, रेशे से गुणवत्तायुक्त धागों के विकास की तकनीक ढूँढ निकाली, जिसका उपयोग वस्त्र निर्माण, कृत्रिम रेशम निर्माण में हो सकता था। इस शोधकार्य के दौरान कई शोधपत्र प्रकाशित और विभिन्न स्थानों पर उत्पाद प्रदर्शित किए गए। इंपीरियल काउंसिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च (अब आई.सी.ए.आर.)

की सलाहकार समिति ने इसके व्यावहारिक लाभ को देखते हुए कई राज्य सरकारों से इसके उत्पादों की अनुशंसा की। सन् 1947 में इसे महात्मा गाँधी के सामने प्रदर्शित भी किया गया था। उन्होंने तुरंत बिहार चर्खा संघ को इसे अपनाने को कहा था। नागपुर में एक घरेलू औद्योगिक इकाई की स्थापना की कोशिश की गई जिसे बाद में वृहतर एक्सपेरिमेंटल और डेमोंस्ट्रेशन पायलट प्लांट में सी.पी.की सरकार की राय से बदल दिया गया। कई वर्षों तक सबौर और नागपुर के आसपास के गाँवों में उत्पादन का काम काफी आगे बढ़ चुका था। कई छोटी-मंझोली टेक्सटाइल कंपनियों ने इसमें दिलचस्पी भी दिखाई। लेकिन उनका यह महत्वपूर्ण कार्य बड़े वस्त्र उद्योग के निहित स्वार्थ की भेंट चढ़ गया। इसी बीच उनकी नियुक्ति केंद्रीय चावल अनुसंधान संस्थान (सी.आर.आर.आई.), कटक में हो जाने के कारण भी यह कार्य मूर्त रूप नहीं ले सका।

लेकिन एक कृषि विज्ञानी के रूप में उनकी पहली प्राथमिकता चावल ही थी। वे समझ चुके थे कि चावल एशिया का प्राण है और भारत इसकी उत्पत्ति और विविधता का केंद्र। अपने वैज्ञानिक जीवन के आरंभ से ही वे चावल पर शोधकार्य के प्रति समर्पित थे। आदिवासी और ग्रामीण किसानों से संपर्क और कृषि संबंधी उनके परंपरागत ज्ञान के बारे में शिक्षा तो उन्हें विरासत में ही मिल गई थी। चावल के नमूनों का संग्रह, अध्ययन और अनुरक्षण एक जुनून की हद तक उनका शौक बन गया था। वे चावल के नमूनों के लिए आदिवासियों, किसानों, सहकर्मियों और शोध-छात्रों से अनुरोध करते। इस तरह सन् 1959 तक अपने सबौर प्रवास के दौरान ही उन्होंने चावल की कई हजार किस्मों का संग्रह और विविधता का अध्ययन कर दस्तावेज तैयार कर लिया था। धीरे-धीरे एक चावल विशेषज्ञ के रूप में उन्हें सर्वाधिक ख्याति मिली, वे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक प्रख्यात चावल विशेषज्ञ माने जाने लगे। चावल पर अनुसंधान ही उनका प्रमुख कार्यक्षेत्र बन गया। अपने जीवनकाल में उन्होंने 19,000 चावल की किस्मों का संग्रह, अध्ययन और दस्तावेजीकरण किया। उनका यह अमूल्य आनुवंशिक धरोहर आज भी इंदिरा गाँधी कृषि विश्वविद्यालय, रायपुर (छत्तीसगढ़) में संरक्षित और सुरक्षित है। लेकिन इस आनुवंशिक धरोहर पर कई विदेशी कृषि बायोटेक कंपनियों की बुरी नजर लगी हुई है।

सबौर में जर्मप्लाज्म संग्रह और अध्ययन के अतिरिक्त डॉ. रिछारिया ने चावल उत्पादन में वृद्धि के उद्देश्य से एक और मौलिक शोधकार्य किया। यह था चावल में कृंतक प्रसार तकनीक (क्लोनल प्रोपैगेसन टेक्नोलॉजी) या कलमी धान का विकास। यह जर्मप्लाज्म उन्नयन और संकर ओज (हाइब्रिडविगर) के व्यावहारिक उपयोग के लिए सन् 1960 में जाकर स्थापित हुआ। उन्होंने इस विधि को लोकप्रिय बनाने का सघन प्रयास सन् 1963 में कटक के कुछ गाँवों में किया। इसमें उन्हें काफी सफलता भी मिली। सन् 1987 में उन्होंने इस विषय पर एक पुस्तक ''चावल के कृंतकों द्वारा भविष्य के लिए पर्याप्त चावल, एक दाने से क्रांति की संभावनाः एक आनुवंशिक भविष्यवाणी (राइस इन अबंडेस फॉर ऑल टाइम्स थ्रु राइस क्लोंस, ए पॉसिबल वन ग्रेन रिवोल्युसन : ए जेनेटिक फोरकास्ट) लिखी। प्रयोगों द्वारा उन्होंने दर्शाया था कि इस तकनीक द्वारा चावल की अलग-अलग किस्मों में उत्पादन 17 से 61 प्रतिशत तक बढ़ाया जा सकता है।

धान व चावल के नमूने

केन्द्रीय चावल अनुसंधान संस्थान, कटक में निदेशक के पद पर डॉ. आर.एच. रिछारिया को सन् 1959 में नियुक्त किया गया। यह संस्थान सन् 1950 में चावल पर शोध के लिए स्थापित किया गया था। उन्होंने बहुत कम समय में ही इस संस्थान को विश्व की अग्रणी शोध संस्थानों की श्रेणी में ला खड़ा किया। उनके नेतृत्व में संस्थान ने अभूतपूर्व प्रगति की और चावल की उत्पादकता को बढ़ाने के लिए कृंतक प्रसार तकनीक, म्युटेशन ब्रिडिंग, अधिक उपजाऊ किस्मों का चयन जैसी कई संभावनाएं नजर आने लगी थी। यहाँ उन्होंने प्रतिभाशाली विज्ञानियों की एक कुशल टीम तैयार कर ली थी। पर इसी बीच अंतर्राष्ट्रीय चावल अनुसंधान संस्थान (आई.आर.आर.आई.), मनीला, फिलीपींस द्वारा विकसित चावल की तथाकथित अधिक उपजाऊ किस्में लाई जाने लगीं। यहाँ बताते चलें कि इस संस्थान की स्थापना सन् 1960 में रॉकफेलर प्रतिष्ठान के एक अधिकारी के पत्र के आधार पर की गई थी और प्रतिष्ठान ने इसकी स्थापना में जी खोलकर पैसा लगाया था। डा0 रिछारिया ने पूरी ताकत से इन अधिक उपजाऊ और चमत्कारी विदेशी किस्मों का प्रयास जाँच के बिना देश के अंदर लाने और फैलाने का विरोध किया। उन्हें आशंका थी कि संकीर्ण आनुवंशिक आधार वाली ये विदेशी किस्में रोगों और कीड़ों के प्रति बहुत संवेदनशील हैं। अतः इनके प्रवेश से हमारे देश में चावल की विविधता और उत्पादकता पर प्रतिकूल असर पड़ेगा और चावल का हमारा आनुवंशिक धरोहर ही संकटग्रस्त हो जाएगा।

स्मरण रहे, सन् 1964-65 के दौरान गेहूँ के संदर्भ में भारत में हरित क्रांति का आगाज हो चुका था और गेहूँ का उत्पादन, कुछ समय के लिए ही सही, काफी बढ़ गया था। लेकिन आज 4 दशकों के बाद हमारी समझ में आया है कि इसका कितना गहरा, दूरगामी और नाकारात्मक प्रभाव सदियों से स्थापित हमारी कृषि प्रणाली पर पड़ा है। लेकिन उस समय हरित क्रांति के जोश में कृषि नीतिकारों ने अमरीकी दबाव में आकर चावल की विदेशी किस्मों के बीजों को आयात करने का निर्णय लिया जबकि इनसे अधिक उत्पादक किस्में, जिन्हें डॉ0 रिछारिया के नेतृत्व में चयनित और विकसित किया गया था, देश में ही उपलब्ध थीं लेकिन हमने उनकी चेतावनियों को नजरंदाज कर हरित क्रांति के जोश में होश खो दिया। इतना ही नहीं इस विरोध के कारण सन् 1967 में उन्हें अपमानित और प्रताड़ित किया गया, उन्हें सी.आर.आर.आई. के निदेशक के पद से

बिना कोई कारण बताए हटा दिया गया। इससे उन्हें उन उच्च पदों, जैसे आई.सी.ए.आर. का महानिदेशक का पद से भी वंचित होना पड़ा जो उनकी बरीयता के कारण प्राप्त होने की पूरी संभावना थी। तो यह थी उनकी देशभक्ति की कीमत !

इस अन्याय के खिलाफ उन्होंने उड़ीसा उच्च न्यायालय में याचिका दायर की। तीन वर्षों के संघर्ष के बाद वे मुकदमा तो जीत गए पर इस दौरान वे आर्थिक संकटों और मानसिक यातनाओं से घिर गए थे। इसी बीच मुकदमा वापस लेने की शर्त पर खाद्य एवं कृषि संगठन (एफ.ए.ओ.) में उन्हें एक उच्च पद का प्रलोभन भी दिया गया जिसे इस स्वाभिमानी विज्ञानी ने ठुकरा दिया।

सन् 1971 में डॉ0 रिछारिया को उड़ीसा उच्च न्यायालय के आदेश पर जबरन सेवानिवृति से वापस बुला लिया गया। वे दोबारा योगदान देने के लिए कटक भी गए, योगदान भी किया, लेकिन एक कनिष्ठ अधिकारी को कार्यभार सौंपकर वे लम्बी छुट्टी पर चले गए। सी.आर.आर.आई. में उनके साथ बड़ा बुरा व्यवहार किया गया था। खैर, इसी वर्ष वे नवस्थापित मध्य प्रदेश चावल अनुसंधान संस्थान, रायपुर में निदेशक के पद पर नियुक्त किए गए और साथ ही उन्हें मध्य प्रदेश सरकार का कृषि सलाहकार का कार्य भी सौंपा गया। सन् 1971-76 के बीच यहाँ भी इस विलक्षण विज्ञानी ने इस संस्थान को शिखर पर पहुँचा दिया। यहाँ उनके नेतृत्व में किया गया शोधकार्य चावल की आनुवंशिक धरोहर और संरक्षण पर केंद्रित था। अब तक कुल मिलाकर चावल की 19,000 किस्में एकत्र की जा चुकी थीं, इनमें से अनेक देशी, अधिक उत्पादक, कीट प्रतिरोधी और सुगंधित किस्मों की पहचान कर उन्हें सुधारा गया। किस्में बहुत कम लागत के साथ विदेशी आई.आर. किस्मों की तुलना में अधिक उत्पादक थीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई बौनी, जल्द पकने वाली, शुष्क, बाढ़ और रोग प्रतिरोधी, विशिष्ट स्वाद और लम्बे दानों वाली किस्मों की पहचान, अध्ययन और चयन किया। डॉ0 रिछारिया ने देशी जर्मप्लाज्म पर आधारित एक उत्साहवर्धक और महत्वपूर्ण संभावनाओं वाला एक कार्यक्रम भी विकसित किया।

डॉ0 रिछारिया को दृश्य से ओझल कर दिए जाने के बाद चावल के भारतीय जर्मप्लाज्म की भयंकर लूट, भीषण जीन डकैती, शुरू हो गई। कृषि अनुसंधान के क्षेत्र में शायद यह पहला प्राइवेट-पब्लिक-पार्टनरशिप (पी.पी.पी.) था। अब तो पीपीपी की चर्चा आम हो गई है और इसे विकास के लिए रामबाण बताया जा रहा है। हमारा बहुमूल्य जर्मप्लाज्म मनीला जा रहा था और वहाँ का तथाकथित चमत्कारी जर्मप्लाज्म यहाँ आ रहा था। विज्ञान में अपनी कमजोरियों के बावजूद आई.आर.आर.आई. अपने राजनैतिक प्रभाव और विज्ञापनों के बल-बूते भारत सहित पूरे एशिया में चावल अनुसंधान की दिशा का नेतृत्व करने लगा था।

लेकिन कृषि रसायनों के भारी उपयोग और सिंचाई के बावजूद चमत्कारी आई.आर. किस्में रोगग्रसित होने लगीं और किसी काम की नहीं रही। डॉ0 रिछारिया की भविष्यवाणी सच निकली। एक षडयंत्र के तहत उनके विरोध को कुचल तो दिया गया था, लेकिन उनकी जगह स्वयं प्रकृति ने ले ली थी। उसने आवश्यक उत्परिवर्तनों द्वारा जवाब देना शुरू कर दिया था।

जब चावल के संदर्भ में हरित क्रांति का चमकीला हरा रंग पीला पड़ने लगा तो सन् 1983 में प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी ने चावल उत्पादन में वृद्धि के लिए डॉ0 रिछारिया से एक कार्य योजना बनाने का आग्रह किया। उन्होंने एक विशद कार्य योजना बनाई भी, लेकिन सन् 1984 में श्रीमती गाँधी की हत्या के बाद बायोटेक्नोलॉजी और जीनियागरी के हो-हल्ले के कारण इसे ठंडे बस्ते में डाल दिया गया। इस कार्ययोजना में उन्होंने उन कारणों की पहचान की थी जिसकी वजह से पिछले 20 वर्षों में कृषि रसायनों, सिंचाई, अनुसंधान, प्रसार आदि पर बहुत खर्च करने के बाद भी चावल उत्पादन में वृद्धि नहीं हो रही थी। उनकी कार्ययोजना के मुख्य बिन्दु थे : (क) संरक्षण और अनुसंधान द्वारा समृद्ध देशी जर्मप्लाज्म आधारित विकास, (ख) अति विकेंद्रित कृषिनीति और (ग) कृतंक प्रसार विधि द्वारा उन्नत किस्मों का व्यापक प्रसार।

डॉ0 रिछारिया ने जीवन में कभी हार नहीं मानी। वे ध्वस्त हो गए पर अविजित रहे। सारी सरकारी सुविधाओं से वंचित कर दिए जाने के बाद भी सन् 1978-91 के दौरान उन्होंने अपना शोधकार्य भोपाल स्थित अपने आवास और पास के एक कृषि फार्म में जारी रखा। अपने शोधकार्यों के अतिरिक्त 80 वर्ष के उम्र में भी उन्होंने कृषि से संबंधित जन संगठनों से संपर्क बनाए रखा। अपने जीवन की संध्या समय में भी वे लिखते रहे और कई पुस्तकें प्रकाशित की। वे चावल के जर्मप्लाज्म पर एक विश्वकोश और भारत के उपयोगी पौधों पर वानस्पतिक शब्दकोश तैयार कर रहे थे। वे चावल उद्यान और ग्रामीण जीन बैंक जैसे दिलचस्प संकल्पना को मूर्तरूप देने में लगे हुए थे।

उन्होंने कई अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों और आयोगों में भारत का प्रतिनिधित्व किया। वे कई शोधपत्रिकाओं के संस्थापक और कई पुस्तकों और सैकड़ों शोध-निबंधों के लेखक हैं। पौध-प्रजनन और आनुवंशिकी के क्षेत्र में उन्हें मौलिक अनुसंधान के लिए जाना जाता है।

डॉ0 रिछारिया की मृत्यु 11 मई, 1996 में 85 वर्ष की उम्र में हुई। सन् 1984 में भोपाल गैस त्रासदी के शिकार हो जाने के कारण वे हृदयरोग से पीड़ित रहने लगे थे। आज वे हमारे बीच नहीं हैं, लेकिन अपने पीछे वे लोक विज्ञान और टेक्नोलॉजी की ऐसी परंपरा छोड़ गए हैं जो कृषि विज्ञानियों की भावी पीढ़ियों का मार्गदर्शन करती रहेगी। आज वैश्वीकरण के दौर में बहुराष्ट्रीय कृषि बायोटेक कंपनियों द्वारा बहुप्रचारित बायोटेक खेती (हरित क्रांति-2) के विरुद्ध संघर्ष और भारतीय कृषि के उन्नयन में नई और सदियों से स्थापित परंपरागत देशी ज्ञान और टेक्नोलॉजी के प्रति समर्पण की उनकी सीख की महत्ता और भी बढ़ गई है।

कहाँ मिलते हैं मोती?

डॉ0 विजय कुमार उपाध्याय*

मोती की अगूँठी

भारत में मोतियों का उपयोग प्रागैतिहासिक काल में ही शुरू हो गया था। वेद तथा पुराण जैसे प्राचीन ग्रंथों में मोती की चर्चा मिलती है। रामायण काल में मोती का प्रयोग काफी प्रचलित था। लंका से लौटने के बाद जब भगवान श्रीराम का राज्याभिषेक हुआ तो वायुदेव ने मोतियों की माला उन्हें उपहार स्वरूप दी। मोती की चर्चा बाइबिल में भी की गयी है। साढ़े तीन हजार वर्ष ईसा पूर्व अमेरिका के मूल निवासी रेड इंडियन मोती को बहुत महत्व देते थे। उनकी मान्यता थी कि मोती में जादुई शक्ति छिपी हुई है। ईसा बाद छठी शताब्दी में प्रसिद्ध भारतीय विद्वान वराहमिहिर ने अपने द्वारा लिखित 'बृहत्संहिता' के 'मुक्ता लक्षणाध्याय' में मोतियों का विस्तृत विवरण दिया है। ईसा बाद पहली शताब्दी में प्रसिद्ध रोमन विद्वान प्लीनी ज्येष्ठ ने बताया है कि उस काल में मूल्य के दृष्टिकोण से पहले स्थान पर था हीरा तथा दूसरे स्थान पर मोती। भारत में उत्तर प्रदेश के पिपरव्वा नामक स्थान पर शाक्य मुनि के अवशेष मिले हैं। ये अवशेष एक स्तूप में मिले हैं जिनमें मोती भी शामिल है। अनुमान है कि ये अवशेष लगभग 1500 वर्ष पुराने हैं।

मोती अनेक रूप रंगों में मिलते हैं। इनकी कीमत भी इनके रूप रंग तथा आकार पर आँकी जाती है। इनका मूल्य चन्द रुपये से हजारों रुपये तक हो सकता है। प्राचीन अभिलेखों के अध्ययन से पता चलता है कि फारस की खाड़ी से प्राप्त एक मोती 6 हजार पाउंड में बेचा गया था। फिर इसी मोती को थोड़ा पॉलिश करने के बाद 15000 पाउंड में बेचा गया। संसार में आज सबसे मूल्यवान मोती फारस की खाड़ी तथा मन्नार की खाड़ी में पाये जाते हैं। इन मोतियों को 'ओरियेन्ट' कहा जाता है।

मोतियों का उपयोग रत्न के रूप में किये जाने के अलावा दवाओं के निर्माण में भी होता आया है। भारत के प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रंथों में मोती भस्म का उपयोग कई औषधियों के निर्माण में किये जाने का उल्लेख मिलता है। आयुर्वेदिक ग्रंथों में मोती भस्म का उपयोग कब्ज नाशक के रूप में तथा वमन कराने हेतु किये जाने की चर्चा मिलती है। इससे स्वास्थ्यवर्द्धक तथा उद्दीपक दवाओं का निर्माण किया जाता है। जापान में मोतियों के चूर्ण से कैल्शियम कार्बोनेट की गोलियाँ बनायी जाती हैं। जापानियों की मान्यता है कि इन गोलियों के सेवन से दाँतों में छेद होने का डर नहीं रहता तथा पेट में गैस नहीं बनती।

विभिन्न प्रकार के मोती

मोती वस्तुतः मौलस्क जाति के एक प्राणी द्वारा निर्मित संग्रंथन (कौंक्रीशन) है। यह उसी पदार्थ से निर्मित होता है जिस पदार्थ से मौलस्क का आवरण बनता है। इस पदार्थ को मुक्तास्तर (नैकर) या सीप कहा जाता है। प्रत्येक मौलस्क जिसमें यह आवरण मौजूद रहता है, मोती उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। मुक्तास्तर स्राव करने वाली कोशिकायें इसके आवरण या उपकल्प (एपिथेलियम) में मौजूद रहती हैं।

मोती अनेक आकृतियों में पाये जाते हैं। सबसे सामान्य आकृति अनियमित या बेडौल होती है। सबसे सुन्दर एवं आकृति गोल होती है। आभूषणों में प्रायः ऐसे ही मोती का उपयोग किया जाता है। अन्य आकर्षक आकृतियों में शामिल हैं बटन की आकृति, नाशपाती की आकृति, अंडे की आकृति तथा बूंद की आकृति। मोती के एक गोल दाने में मौजूद मुक्तास्तर सामान्यतौर पर समकेन्द्रीय (कौंसेंट्रिक) परतों में सजे रहते हैं। ये परतें काफी पतली तथा अनगिनत संख्या में होती हैं। संरचना के दृष्टिकोण से मोती की परतें प्याज की परतों के समान होती हैं जिनमें परतों के अलावा कुछ होता ही नहीं। मोती का रूप, चमक तथा आकार इन्हीं परतों पर निर्भर करता है। अधिक परतों वाला मोती अधिक सुन्दर तथा मूल्यवान होता है।

मोती का रंग उसके जनक पदार्थ तथा पर्यावरण पर निर्भर करता है। मोती अनेक रंगों के होते हैं। परन्तु आकर्षक रंगों में शामिल हैं मखनियाँ, गुलाबी, उजला, काला तथा सुनहरा। भारत के पास बंगाल की खाड़ी में पाया जाने वाला मोती हल्का गुलाबी या हल्का लाल होता है।

*राजेन्द्र नगर हाउसिंग कॉलोनी, (के.के. सिंह कॉलोनी), पो0- जमगोड़िया, वाया- जोधाडीह (चास), जिला- बोकारो, (झारखंड),827 013.

ISSN 2231-2455

बड़े आकार का मोती : बैरोक मोती

मोती छोटे बड़े सभी आकार के मिलते हैं। अब तक जो सबसे छोटा मोती पाया गया है, उसका वजन ढाई ग्रेन (अर्थात् 162 मिलीग्राम) है। इसे बीज मोती कहा जाता है। बड़े आकार के मोती को बैरोक कहा जाता है। हेनरी टौक्स होप के पास एक बैरोक था जिसका वजन था 1860 ग्राम।

खनिज संघटन के दृष्टिकोण से मोती की परतें अरैगोनाइट नामक खनिज की बनी रहती हैं। इस खनिज के रवे विषम अक्षीय (औथेरोंम्बिक) समुदाय के होते हैं। रासायनिक संघटन के दृष्टिकोण से अरैगोनाइट कैल्शियम कार्बोनेट से निर्मित रहता है। मोती के रासायनिक विश्लेषण से पता चला है कि इसमें 90-92 प्रतिशत कैल्शियम कार्बोनेट, 4-6 प्रतिशत कार्बनिक पदार्थ तथा 2-4 प्रतिशत जल रहता है।

मोती अम्ल में घुलनशील है। तनु खनिज अम्लों के सम्पर्क में आने पर मोती फदफदाहट (एफरबेसेंस) के साथ प्रतिक्रिया कर कार्बन डाइऑक्साइड मुक्त करता है। यह एक मुलायम रत्न है। मो के पैमाने पर इसकी कठोरता 2.5 से 3 तक तथा आपेक्षिक घनत्व 2.40 से 2.78 के

सीप में मोती

बीच रहता है। मोती को चाकू या सूई से खरोचने पर खरोच का निशान उभर आता है।

मोती की जाँच या परख के लिये अनेक उपकरण उपयोग में लाये जाते हैं। मोती के क्रोड (कोर) का अध्ययन नैक्रोस्कोप या पर्ल इलुमिनेटर के तीव्र प्रकाश में किया जाता है। एक अन्य उपकरण है 'एंडोस्कोप' जिसका उपयोग मोती में किये गये छेद को विस्तृत कर देखने के लिये किया जाता है। जब पर्ल इलुमिनेटर तथा एंडोस्कोप का उपयोग एक साथ किया जाता है तो मोती में बने छेद से गुजरने वाले प्रकाश से पता चलता है कि मोती की भीतरी बनावट कैसी है। असली मोती समकेन्द्रीय परतों से बना रहता है। नकली मोती समानांतर परतों से बना रहता है। बिना छेद वाले मोती का अध्ययन एक्सरे से किया जाता है।

उत्पत्ति के दृष्टिकोण से मोतियों की तीन श्रेणियाँ होती हैं – प्राकृतिक मोती, कृत्रिम (कल्चर्ड) मोती तथा नकली (आर्टिफिसियल) मोती। प्राकृतिक मोती की उत्पत्ति प्राकृतिक पर्यावरण में प्राकृतिक ढंग से होती है। बृहत्संहिता में बताया गया है कि प्राकृतिक मोती की उत्पत्ति सीप, सर्प के मस्तक, मछली, सूअर, हाथी तथा बाँस से होती है। परन्तु अधिकांश प्राचीन भारतीय विद्वानों ने मोती की उत्पत्ति सीप से ही बतायी है। प्राचीन भारतीय मनीषियों का मत था कि जब स्वाती नक्षत्र के दौरान वर्षा की बूँदें सीप में पड़ती हैं तो उनसे मोती का निर्माण होता है। यह कथन आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा कुछ हद तक सही बताया गया है। आधुनिक वैज्ञानिकों का भी मानना है कि मोती निर्माण हेतु शरद ऋतु के दौरान जब पानी की बूँद या बालू का कण किसी सीप के अन्दर घुस जाता है तो सीप उस बाहरी पदार्थ के प्रतिकार हेतु मुक्तास्तर नामक पदार्थ का स्राव करता है। यह पदार्थ उस कण के ऊपर परत दर परत चढ़ता जाता है जो अन्ततः मोती का रूप धारण करता है।

कृत्रिम मोती को संवर्धित मोती (कल्चर्ड पर्ल) भी कहा जाता है। संवर्धित मोती के उत्पादन की क्रिया को 'मोती की खेती' का नाम दिया गया है। उपलब्ध साक्ष्यों से पता चलता है कि मोती की खेती सर्वप्रथम चीन में शुरू की गयी। ईसा बाद 13वीं शताब्दी में चीन के हूचाऊ नामक नगर के एक निवासी थे ये जिन यांग जिन्होंने गौर किया कि मीठे पानी में रहने वाले सीपी में यदि कोई बाहरी कण प्रविष्ट करा दिया जाय तो मोती निर्माण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। इस जानकारी ने उन्हें मोती की खेती शुरू करने हेतु प्रेरित किया। इस विधि में सर्वप्रथम एक सीपी लिया जाता है तथा उसमें कोई बाहरी कण (जैसे बालू, हड्डी, धातु का कण इत्यादि) उसके आवरण में प्रविष्ट करा दिया जाता है। फिर उस सीपी को वापस उसके स्थान पर रख दिया जाता है। उसके बाद उस सीपी में मोती निर्माण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। चीन में प्राचीन काल के दौरान इस विधि से निर्मित भगवान बुद्ध की मोती की मूर्तियाँ कई स्थानों पर पायी गयी हैं। बुद्ध भट्ट नामक एक प्राचीन विद्वान द्वारा लिखित 'रत्न परीक्षा' नामक पुस्तक में संवर्धित मोती तैयार करने की विधि विस्तार से बतायी गयी है।

कुछ समय बाद मोती की खेती द्वारा संवर्द्धित मोती तैयार करने की विधि की जानकारी चीन से जापान पहुँची। सन् 1890 में जापान के कोवीची मिकिमोतो ने मोती की खेती द्वारा संवर्धित मोती तैयार करना शुरू किया और इसे एक उद्योग के रूप में विकसित किया। उसने इस संबंध में

संवर्द्धित मोती

कुछ प्रयोग किये और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यदि सीप का एक बहुत छोटा मनका मौलस्क के ऊतक में प्रविष्ट करा दिया जाय तो मोती निर्माण की क्रिया काफी संतोषजनक ढंग से शुरू हो जाती है। इस प्रक्रिया द्वारा निर्मित मोती पूर्णतः मुक्ताभ पदार्थ का बना रहता है तथा पूरी तरह प्राकृतिक मोती के समान दिखायी पड़ता है।

भारत में मन्नार की खाड़ी में मोती की खेती का काम सन् 1916 में प्रारम्भ किया गया। इस दिशा में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के केन्द्रीय समुद्री मछली अनुसंधान संस्थान के कुछ वैज्ञानिकों का प्रयास काफी सराहनीय रहा। इन वैज्ञानिकों द्वारा विकसित तकनीक से मत्स्य

मोतियों की माला

पालन हेतु बनाये गये तालाबों में भी मोती पैदा किया जा सकता है। हमारे देश में अंडमान और निकोबार द्वीप एवं लक्षद्वीप के क्षेत्रों को मोती उत्पादन हेतु काफी अनुकूल पाया गया है।

मोती की खेती एक बहुत ही कठिन काम है तथा इसमें विशिष्ट हुनर की आवश्यकता है। सर्वप्रथम उत्तम कोटि के सीप चुन लिये जाते हैं। ऐसे सीपों में शामिल हैं समुद्री ऑयस्टर, *पिंकटाडा मैक्सीमा* तथा *पिंकटाडा मारगराटिफेरा* इत्यादि। समुद्री ऑयस्टर काफी बड़ी होते हैं तथा इनसे बड़े आकार के मोती तैयार किये जाते हैं। *पिंकटाडा मैक्सीमा* नामक सीपी से तैयार किये गये मोती दो सेंटीमीटर तक के व्यास वाले होते हैं। *पिंकटाडा मारगराटिफेरा* नामक सीपी से तैयार किये जाने वाले मोती काले रंग के होते हैं तथा सबसे महँगे बिकते हैं।

सीपी का चुनाव कर लेने के बाद प्रत्येक सीपी में छोटी सी शल्य क्रिया करनी पड़ी है। इस शल्य क्रिया के बाद सीप के भीतर एक छोटा सा नाभिक तथा प्रावाट ऊत्तक रखा जाता है। इसके बाद सीप को इस प्रकार बन्द कर दिया जाता है कि उसकी सभी जैविक क्रियायें पूर्ववत सामान्य ढंग से चलती रहें। प्रावाट ऊत्तक से निकलने वाला पदार्थ नाभिक के चारों ओर जमने लगता है तथा अन्त में मोती का रूप लेता है। कुछ दिनों के बाद सीप को चीर कर मोती को निकाल लिया जाता है।

मोती निकाल लेने के बाद सीप प्रायः बेकार हो जाता है तथा उसे फेंक देना पड़ता है। मोती-निर्माण के लिए सीप का चयन करते समय कई बातों पर ध्यान देना पड़ता है जैसे सीप किसी रोग से ग्रस्त नहीं हो तथा उसका वजन 20 ग्राम या उससे अधिक हो। मोती-निर्माण के लिये सबसे अनुकूल मौसम है शरद ऋतु या जाड़े की ऋतु। इस काल के दौरान निर्मित मोती रंगीन, चमकीला तथा उन्नत किस्म का होता है।

आजकल नकली मोती भी बनाये जाते हैं। नकली मोती सीप से नहीं बनाये जाते। ये मोती शीशे अथवा अलाबास्टर (जिप्सम का अर्द्धपारदर्शक तथा रेशेदार रूप) नामक खनिज के ऊपर मछली की पंखुड़ी की परत चढ़ाने से बनते हैं। इन पंखुड़ियों को मोम से साट दिया जाता है। कभी-कभी शीशे या अलाबास्टर के मनकों को मत्स्य शल्क (फिश स्केल) के सत (एसेंस) अथवा प्रलक्षा रस (लैकर) में बार-बार तब तक डुबाया तथा निकाला जाता है जब तक वे मोती के समान दिखाई नहीं पड़ने लगते।

प्राकृतिक मोती की प्राप्ति संसार के कई देशों में उनके समुद्री क्षेत्रों में होती है। बसरा नामक स्थान, जो इराक के निकट फारस की खाड़ी में स्थित है, उत्तम मोती का प्राप्ति स्थान है। श्रीलंका के समुद्री क्षेत्रों में पाया जाने वाला मोती काटिल कहलाता है। यह भी एक अच्छे दर्जे का मोती है। परन्तु यह मोती बसरा से प्राप्त मोती के समान उच्च दर्जे का नहीं है। भारत के निकट बंगाल की खाड़ी में हल्के गुलाबी रंग का मोती मिलता है। अमेरिका में मेक्सिको की खाड़ी से प्राप्त होने वाला मोती सफेद होता है। आस्ट्रेलिया के समुद्री क्षेत्र से प्राप्त होने वाला मोती सफेद तथा कठोर होता है। कैलिफोर्निया तथा कैरीबियन द्वीप समूह के समुद्री क्षेत्रों तथा लाल सागर में भी मोती मिलता है। आज मोतियों का प्रमुख बाजार पेरिस में स्थित है। संयुक्त राज्य अमेरिका प्रति वर्ष लगभग एक करोड़ डॉलर मूल्य के मोतियों का आयात करता है।

हिपेटाइटिस : कारण एवं निदान

डॉ0 हेमलता पन्त*

हिपेटाइटिस को 'पीलिया', 'यकृत शोथ' या 'पाण्डुरोड' भी कहते हैं। यह विषाणुजन्य रोग है। यह विषाणु सड़े-गले खाद्य पदार्थों और गंदे जल से फैलता है। हिपेटाइटिस रोग वर्ष में कभी भी हो सकता है लेकिन अगस्त, सितम्बर तथा अक्टूबर महीने में लोग इस रोग से अधिक ग्रसित होते हैं। सर्दियों के शुरू होने पर इस रोग के प्रसार में कमी आ जाती है।

पीलिया रोग लाल रक्त कणिकाओं के तेजी से टूटने, यकृत रोगों या पित्त नली मे रुकावट आने जैसे अलग-अलग कारणों से हो सकता है। लेकिन इसका सबसे सामान्य कारण यकृत में विभन्न प्रजाति के विषाणु संक्रमण मुख्य रूप से विषाणु 'ए', 'बी', 'सी', 'डी', 'ई', 'एफ' तथा 'जी' विषाणुओं द्वारा होता है । सभी विषाणुओं का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जा रहा है :

हिपेटाइटिस–ए : हिपेटाइटिस–ए पीलिया का सबसे आम कारण है। इन विषाणुओं का संक्रमण विषाणु संक्रमित भोजन, जल, पेय पदार्थों के सेवन से होता है। यह रोग अधिकतर बच्चों में होता है। यह पीड़ित व्यक्ति के मल से दूषित जल, दूध या भोजन द्वारा फैलता है। इस रोग में रोगी को ज्वर रहता है, भूख नहीं लगती है, सिर दर्द, आँख व नाखून का रंग पीला, मूत्र पीला होना, जी मिचलाना व अत्यधिक थकान का अनुभव होता है।

मनुष्य इस रोग का मुख्य संवाहक है। बीमार व्यक्ति की विष्ठा एवं रक्त में इसके विषाणु अत्यधिक मात्रा में पाये जाते हैं। नाक व गले से उत्सर्जित अपशिष्टों में ये विषाणु सामान्य रूप से कम तथा महामारी के

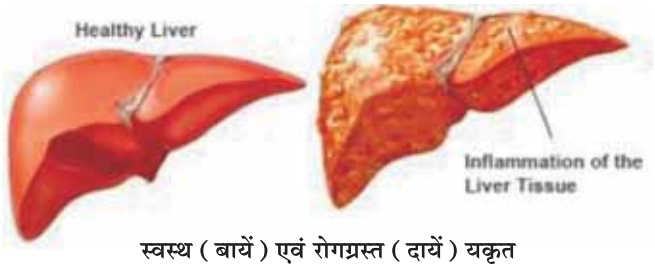

स्वस्थ (बायें) एवं रोगग्रस्त (दायें) यकृत

समय अधिक देखे गये हैं। इस बीमारी की परिपाकन अवस्था लम्बी एवं परिवर्तनीय होती है। यह प्रायः 10-40 दिन तक होती है लेकिन यह औसतन 25 दिन की होती है। यद्यपि इस रोग का संक्रामकता काल अज्ञात है, परन्तु 5-15 महीने तक इस बीमारी के विषाणु रक्त व विष्ठा में देखे गये हैं। वैज्ञानिक अनुभवों के आधार पर आक्रमण दिन से 7 दिन के अंदर ही विषाणुओं की संक्रमण अवधि अत्यधिक होती है। हिपेटाइटिस-ए विषाणु कुएँ के पानी में भी कई महीनों तक जिंदा रह सकते हैं। ये 60° से.ग्रे. तक गर्म करने या सामान्य मात्रा में पानी में क्लोरीन मिलाने से भी नष्ट नहीं होते। शीघ्र निदान और उचित उपचार द्वारा हिपेटाइटिस-ए के ज्यादातर रोगी कुछ सप्ताह में पूरी तरह से स्वस्थ हो जाते हैं। लेकिन निदान में देरी, लापरवाही तथा गलत उपचार से यकृत खराब होने का खतरा रहता है जिससे मौत भी हो सकती है।

हिपेटाइटिस–ई : इस रोग का पता सन् 1998 में लगा था। यह भी हिपेटाइटिस-ए विषाणु की तरह ही संदूषित भोजन, पानी, पेय पदार्थों तथा मानव मल व विष्ठा आदि से फैलता है। इस रोग के लक्षण भी

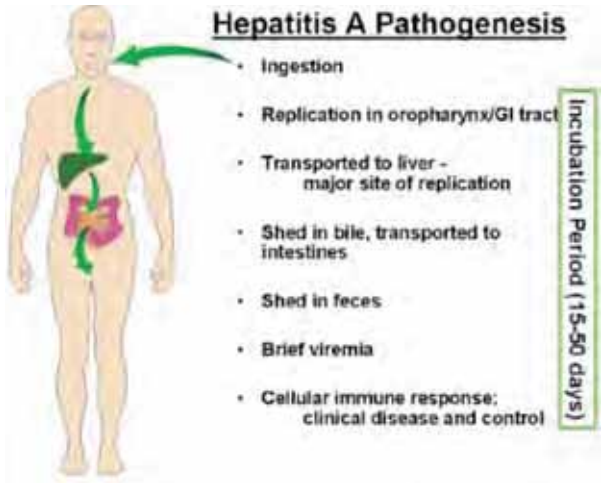

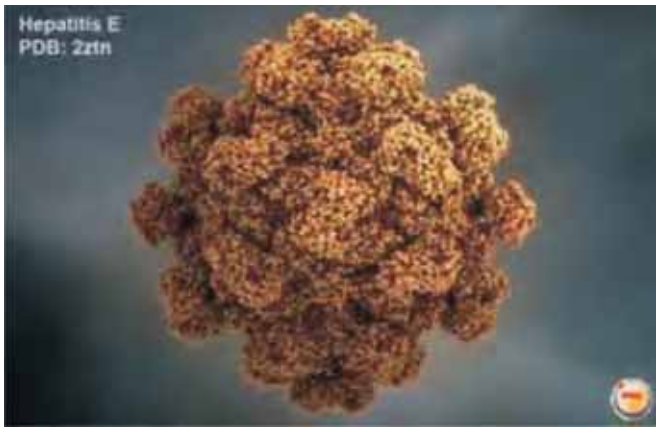

हिपेटाइटिस–ई विषाणु

*वैज्ञानिक, सोसाइटी ऑफ बॉयलॉजिकल साइंसेज एण्ड रूरल डेवलपमेंट, 10/96, गोला बाजार, नई झूँसी, इलाहाबाद–211 019.

हिपेटाइटिस-ए जैसे ही होते हैं। लेकिन हिपेटाइटिस-ई रोग की तीव्रता बहुत अधिक नहीं होती है। अधिकांश रोगी इस बीमारी से जल्दी ठीक हो जाते हैं। इसमें क्रानिक हिपेटाइटिस होने की संभावना भी नहीं होती है। लेकिन यदि गर्भवती महिलाओं में हिपेटाइटिस-ई का संक्रमण हो जाय तो यह गंभीर रूप ले लेता है। इस रोग से संक्रमित लगभग 4 प्रतिशत गर्भवती महिलाओं की मृत्यु हो सकती है।

हिपेटाइटिस–ए तथा -ई से बचाव : हिपेटाइटिस 'ए' तथा 'ई' से बचाव हेतु शुद्ध भोजन, पेय पदार्थों व शुद्ध जल का ही प्रयोग करें। स्वच्छता के नियमों का बेहतर ढंग से पालन करें। यदि आस-पास किसी को पीलिया हुआ हो या पानी की शुद्धता पर शक हो तो पानी को कम से कम 5 मिलट उबाल कर पीयें भोजन पकाने से परोसने तक पूर्ण स्वच्छता का ध्यान दें। भोजन को हमेशा ढँक कर रखे और भोजन करने से पहले तथा मल-मूत्र त्यागने के बाद हाथों को साबुन द्वारा अच्छी तरह से धोयें। बाजार में मिलने वाले खुले खाद्य पदार्थों व पेय पदार्थों का सेवन न करें। यदि घर में कोई पीलिया ग्रस्त मरीज है तो मरीज के कपड़े व बिस्तर को सोडियम हाइपोक्लोराइड के 0.5 प्रतिशत घोल से साफ करें तथा स्वयं के हाथों को भी अच्छी प्रकार से साबुन से धोयें। हिपेटाइटिस 'ए' विषाणु फार्मलीन, अल्ट्रावायलेट किरणों से नष्ट हो जाते हैं। इस विषाणु के टीके भी उपलब्ध है। अतः इन टीकों को अवश्य लगवायें।

हिपेटाइटिस–बी – इसका अर्थ है लीवर (यकृत) की जलन या सूजन। यह सबसे घातक रोग होता है। इस विषाणु की खोज सन् 1963 में व्यूम वर्म ने की थी। कुछ व्यक्तियों में हिपेटाइटिस–बी रोग छोटी अवधि (संक्रमण 6 महीने से कम समय तक) तक रहता है। लेकिन कुछ लोगों में यह एक लम्बी बीमारी (संक्रमण 6 महीने से अधिक समय तक) का रूप ले लेता है। इसे 'क्रॉनिक हिपेटाइटिस–बी' कहते हैं। इस समय विश्व में लगभग 35-40 करोड़ लोग 'क्रानिक हिपेटाइटिस–बी' से पीड़ित हैं।

हिपेटाइटिस–बी से संक्रमित बहुत से लोग इसके बारे में प्रायः नहीं जान पाते हैं, क्योंकि इनमें शुरू में कोई विशेष लक्षण नहीं होते हैं। इस बीमारी में कुछ लोगों को बुखार, थकान, पेट में दर्द, भूख न लगना या उल्टी आना जैसे लक्षण नजर आ सकते हैं। गंभीर मामलों में कुछ लोगों की त्वचा और आँख का पीला होना, मूत्र का रंग गहरा पीला तथा मल का रंग काला होना जैसे लक्षण पैदा हो सकते हैं। इसमें यकृत का आकार बढ़ जाता है जिससे पेट के ऊपरी दायें भाग में दर्द हो सकता है। त्वचा में चकत्ते उभर सकते हैं, पित्ती उभर सकती है, जोड़ों में सूजन तथा दर्द होता है।

हिपेटाइटिस–बी विषाणु से यकृत को हानि : यह विषाणु यकृत की कोशिकाओं में पलता है। आत्मरक्षा में, शरीर विषाणु को नष्ट करने के लिए संक्रमित कोशिकाओं को मारता है लेकिन स्वसुरक्षा (या रोग-प्रतिरोधकता) के समय यकृत को भी बहुत हानि पहुँचती है। विषाणु संक्रमण जितना अधिक होगा, यकृत को हानि भी उतनी ही अधिक होगी। इससे यकृत धीरे-धीरे काम करने में विफल होने लगता है। अंततः यह सख्त तथा पिंड बन कर रह जाता है। इसे लीवर सिरोसिस कहते हैं। इससे कभी-कभी लीवर कैंसर भी हो सकता है।

कैसे होता है संक्रमण

1. हिपेटाइटिस–बी विषाणु से संक्रमित किसी व्यक्ति का रक्त या शरीर के अन्य द्रव जैसे कि वीर्य, किसी अन्य व्यक्ति जो कि संक्रमित न हो, के शरीर में प्रवेश करता है। यह रक्त या शरीर के द्रवों से सीधे सम्पर्क या खुले घावों या कटन द्वारा फैल सकता है। यह शरीर के अन्य द्रवों जैसे कि आँसू, पसीने, मूत्र या स्तन के दूध में बहुत कम मात्रा में पाया जाता है, लेकिन ये द्रव रोग को नहीं फैलाते हैं।
2. यदि किसी को हिपेटाइटिस के अन्य प्रकार (ए,सी,डी, ई या एफ, जी) का संक्रमण हुआ है तो भी हिपेटाइटिस–बी होने की संभावना हो सकती है।
3. संक्रमित माँ से उसकी संतान को।
4. यदि किसी संक्रमित व्यक्ति के साथ यौन संबंध हो।
5. संक्रमित व्यक्ति द्वारा प्रयोग में लाई गई सूई से या ड्रग्स लेने की आदत हो, तो।
6. यदि आप स्वास्थ्यकर्ता हो तथा कार्यस्थल पर आप संक्रमित रक्त के सम्पर्क में आये हों।

उपचार

हिपेटाइटिस–बी के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करने वाले टीके उपलब्ध हैं। विषाणु–बी के विरुद्ध पहले स्वदेशी टीके का निर्माण अगस्त 1997 में शुरू हुआ। इसके निर्माण के लिए देश में ही प्रौद्योगिकी विकसित हुई है और निर्माण के लिए प्रौद्योगिकी विकास बोर्ड ने ऋण उपलब्ध कराया है।

इस बीमारी की कुछ दवाइयाँ जैसे : इन्टाकाविर, टेल्बीवुडिन, टेनोफोविर और लेमिबुडिन आदि हैं जिन्हें कम से कम एक वर्ष या उससे अधिक समय तक चलानी पड़ती है। इंटरफेरान भी इसकी एक अच्छी दवा है।

ईलाज के पहले हिपेटाइटिस बी, ई, एंन्टीजेन और हिपेटाइटिस–बी विषाणु के डीएनए की मात्रा की जाँच आवश्यक है तथा दवा करते रहने के समय में भी विषाणु के डीएनए की जाँच होती है। उपचार हेतु निम्न सुझावों पर ध्यान दें:

1. हिपेटाइटिस–बी से बचने का सबसे अच्छा उपाय है इसका टीका लगवाना। लेकिन यदि कोई व्यक्ति पहले से ही हिपेटाइटिस–बी से संक्रमित है तो टीका इस रोग से सुरक्षा नहीं दे पाएगा। लेकिन यदि व्यक्ति संक्रमण रहित है तो टीकाकरण सबसे अच्छा समाधान है।

इसके टीके तीन इंजेक्शन के माध्यम से 0, 1, 6 माह पर लगवाने से लगभग 95 प्रतिशत लोगों में 3-5 वर्ष तक इस बीमारी से बचाव होता है। वयस्कों में 1 मिली और 10 वर्ष से कम उम्र के बच्चों को ½ मिली के इंजेक्शन दिये जाते हैं। टीकों की इस खुराक को 3 वर्ष के अन्तराल पर दोबारा लगवाना चाहिए। हिपेटाइटिस–बी की टीके लगवाने से हिपेटाइटिस–डी से भी बचाव होता है।

2. यदि हिपेटाइटिस–बी से यकृत को हानि हुई हो तो आपको हिपेटाइटिस–सी की जाँच करवानी चाहिए तथा यदि आवश्यक हो तो हिपेटाइटिस–ए का भी टीका लगवाना चाहिए। अब हिपेटाइटिस–बी तथा हिपेटाइटिस–ए का मिला टीका भी उपलब्ध है। इसकी तीन खुराक से 3-5 वर्षों तक इस रोग से बचाव हो सकता है।
3. यौन सम्बन्धों में सुरक्षा पर ध्यान दें तथा अपने यौन साथी की हिपेटाइटिस–बी संक्रमण की जाँच करायें। यदि आपके साथी को हिपेटाइटिस–बी न हो तो उसे टीका लगवायें।
4. सूई लगवाने से पहले यह सुनिश्चित कर लें कि सिरिंज या नीडिल विसंक्रमित है या नहीं या फिर डिस्पोजबिल नीडल, सिरिंज का प्रयोग करना चाहिए। खतना, गुदना, करवाने, नाक-कान छिदवानें से पूर्व इसकी हिपेटाइटिस–बी तथा-सी की जाँच अवश्य करायें।
5. सभी घावों और कटन को बैंडेज से ढँककर रखें।
6. अपने प्रयोग की गई सूई दूसरों को प्रयोग न करने दें। अपने टूथब्रश, रेजर, नेलकटर आदि जिसका सम्पर्क आपके रक्त या शरीर के द्रव से हुआ हो उसे दूसरों को प्रयोग न करने दें।
7. अपना जूठा भोजन दूसरों को न करायें।
8. अपने रक्त या शरीर के द्रवों को छूने के बाद अपने हाथों को अच्छी तरह से साफ करें। यदि फर्श पर खून टपका हो तो उसे किसी गाढ़े घरेलू ब्लीच से साफ करें।
9. शराब का सेवन न करें क्योंकि यह यकृत की हानि को बढ़ता है।
10. सामान्य व स्वास्थ्यकारी भोजन करें।
11. अपने घर, शरीर व आसपास के वातावरण को पूर्ण स्वच्छ रखें।
12. संक्रमित गर्भवती महिलाओं के गर्भकाल, प्रसव के दौरान विशेष सावधानी रखें जिससे यह रोग दूसरों को न फैले तथा शिशु के जन्म के बाद शिशु को 12 घंटों के अंदर हिपेटाइटिस–बी इम्यूनेग्लोबिन का इंजेक्शन लगवायें तथा शिशु को हिपेटाइटिस–बी की पहली खुराक दें। चिकित्सक से परामर्श के बाद हिपेटाइटिस की अन्य खुराक तथा टीके का क्रम पूरा होने के बाद अपने शिशु की रक्त जाँच कराने के बाद यह सुनिश्चित कर लें कि वह सुरक्षित है। शिशु को टीकाकरण के बाद महिलायें स्तनपान करा सकती हैं। समान्य शिशुओं को शिशुकाल में ये टीके 6, 10 व 30 सप्ताह की आयु में लगाये जाते हैं।

कैसे करते हैं रोग का परीक्षण

इस रोग का परीक्षण रक्त परीक्षण द्वारा करते हैं। कुछ मामलों में यकृत का अल्ट्रासाउण्ड, सोनोग्राफी व इण्डोस्कोपी भी कारगर है या लीवर बायप्सी (स्थानीय एनेस्थेसिया देकर लीवर का एक छोटा सा अंश निकालते हैं) द्वारा यकृत की क्षति की जाँच भी की जाती है।

रक्त चढ़ाने की आवश्यकता होने पर रक्तदाता के रक्त में हिपेटाइटिस–बी की 'आस्ट्रेलियन एंटीजन' जाँच अनिवार्य है। यदि रक्तदाता संक्रमित है तो उसका रक्त दूसरे को नहीं चढ़ाना चाहिए।

हिपेटाइटिस–सी : इस बीमारी की जानकारी 1989 में प्राप्त हुई ये विषाणु मुख्यतयः दो प्रकार टाइप – 2 तथा टाइप – 3 प्रकार के होते है। ये विषाणु मुख्य रूप से हिपेटाइटिस–सी संक्रमित रक्त के चढ़ाने से फैलता है। इसके अलावा संक्रमित आपरेशन करने वाले औजारों के प्रयोग या संक्रमित डाइलिसिस के उपकरणों या स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध से भी फैल सकता है। इसमें संक्रमित माँ से बच्चे को फैलने का खतरा काफी कम होता है।

यह विषाणु बहुत ही धीमी गति से 'यकृत शोथ' (यकृत में सूजन) उत्पन्न करता है। अत्यन्त धीमी गति से यकृत को हानि पहुँचाने के कारण यह गंभीर पीलिया उत्पन्न नहीं करता है। सन् 1997 से पहले हिपेटाइटिस–सी की जाँच उपलब्ध नहीं थी। लेकिन अब इसका पता परीक्षण के माध्यम से हो जाता है।

वर्तमान में इसका उपचार है 'इन्टरफेरान' नामक औषधि (जो हमारे शरीर की प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाते हैं) और यह इसके लिए बहुत ही लाभदायक साबित हो रही है। इसके उपचार की अवधि 6-12 महीने तक की होती है। यह टाइप–2 व 3 दोनों में फायदेमंद है। लेकिन इंटरफेरान से उपचार बंद होने के बाद इस रोग के पुनः पूरी तीव्रता के साथ लौटाने की उम्मीद रहती है। अतः अब चिकित्सक इंटरफेरान के साथ विषाणुरोधी औषधि 'रिबाविरिन' को प्रयोग कर रहे हैं जिसके बेहतर परिणाम सामने आ रहे हैं।

हिपेटाइटिस–सी का अभी कोई टीका उपलब्ध नहीं है और इम्यूनोग्नोबिन भी इसमें कारगर नहीं है अतः इससे बचने के लिए उन तरीकों का प्रयोग करें जिनमें एक व्यक्ति से यह विषाणु दूसरे में न फैले।

यदि यकृत शोथ होने से पहले विषाणु का पता चल जाय तो ही उपचार का परिणाम अच्छा आता है। यदि यह रोग एक बार हो जाए तो विषाणु को समाप्त करने का प्रतिशत घट जाता है और यदि यह रोग अपनी अन्तिम अवस्था में हो तो इन्टरफेरान दवा तब रोगी को फायदा नहीं करती बल्कि यकृत के पूर्णतः खत्म होने का खतरा बना रहता है।

रक्त में हिपेटाइटिस विषाणु–सी की पहचान करने वाली नैदानिक एलिजा किट हमारे देश में ही विकसित करने में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त हो गयी है। अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान, नई दिल्ली और संयुक्त राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय विकास संगठन की ओर से स्थापित इण्टरनेशनल सेंटर फॉर जेनेटिक इंजीनियरिंग एण्ड बॉयोटेक्नोलॉजी ने संयुक्त रूप से इस किट को विकसित किया है।

इस विषाणु से बचाव हेतु हिपेटाइटिस–सी संक्रमण रहित रक्त का प्रयोग, विसंक्रमित औजार तथा डायलिसिस मशीन की नलिकायें और डाइलाइलाजर हमेशा नया प्रयोग करें तथा सुरक्षित यौन सम्बन्ध अपनायें।

हिपेटाइटिस–डी : यह विषाणु भी हिपेटाइटिस–बी तथा -सी की तरह संक्रमित सूई, संक्रमित औजार के प्रयोग, संक्रमित रक्त, संक्रमित व्यक्ति से यौन सम्बन्ध तथा संक्रमित माँ से गर्भस्थ शिशु को फैल सकता है। मितली, पेट दर्द, त्वचा, आँख व मूत्र का पीला होना व शरीर में खुजली होना इसके प्रमुख लक्षण हैं। इसके उपचार हेतु हिपेटाइटिस 'बी' व 'सी' में प्रयुक्त विधियाँ अपनायें। इस विषाणु के टीके अभी उपलब्ध नहीं है, लेकिन यदि विषाणु – बी के टीके लगा लिये जाये तो विषाणु – डी से भी बचाव होता है।

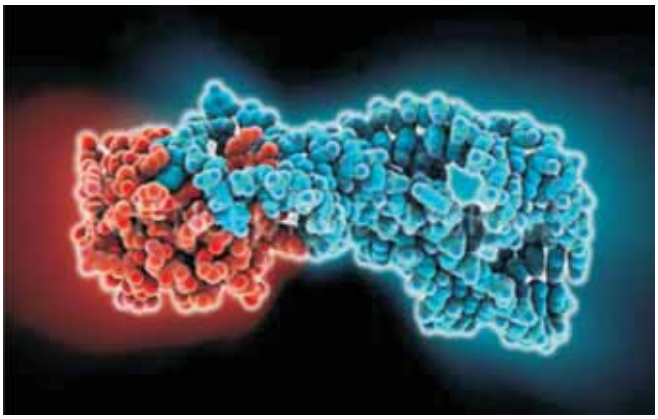

हिपेटाइटिस–डी विषाणु

हिपेटाइटिस–एफ : यह विषाणु अभी अपने अस्तित्व को लेकर विवाद में है। ऐसा माना जाता है कि यह भी हिपेटाइटिस 'ए' की तरह ही फैलता है तथा हिपेटाइटिस–ए के बचाव में अपनाये जाने वाले साफ-सफाई के तरीकों से ही इससे बचा जा सकता है। अभी तक इसका कोई रोकथाम, टीका या उपचार उपलब्ध नहीं है।

हिपेटाइटिस–जी : यह लगभग हिपेटाइटिस–सी विषाणु जैसा ही होता है। एक शोध के अनुसार यह देखा गया है कि हिपेटाइटिस–सी विषाणु संक्रमित लगभग 20 प्रतिशत, रोगी हिपेटाइटिस–जी विषाणु से संक्रमित होते हैं। कई बार हिपेटाइटिस–जी विषाणु का संक्रमण हिपेटाइटिस–बी और हिपेटाइटिस–सी विषाणु के साथ भी देखने को मिलता है। इसके संक्रमण के मामले संक्रमित रक्त या रक्त उत्पादों के प्रयोग व ड्रग्स लेने वाले लोगों में देखे गये हैं। अभी इस विषाणु के बारे में शोध कार्य चल रहा है, अतः इसके बचाव का टीका विशेष उपचार या रोकथाम उपलब्ध नहीं है। इसके बचाव हेतु हिपेटाइटिस–सी के बचाव के तरीके अपनाने चाहिए।

क्या लें अपने आहार में : अपने चिकित्सक की सलाह से प्रोटीन और कार्बोहाईड्रेट वाले भोज्य पदार्थों का सेवन करें। चावल, दलिया, खिचड़ी, उबले आलू, शकरकंद, चीनी, गुड़, ग्लूकोज, शर्बत, मूली का सेवन करना लाभप्रद है। नीबू, संतरे, गन्ने तथा अन्य फलों का रस, चीकू, पपीता तथा छाछ लाभदायक होते हैं। अधिक खनिज व विटामिनयुक्त भोजन लें। घी, तेल और वसा युक्त चीजों का प्रयोग कम करें। अन्यथा रोगी को घर का बना साफ-सुथरा, पौष्टिक व उसकी इच्छानुसार आहार दें।

विश्व का सबसे बड़ा सौर ऊर्जा प्रोजेक्ट

देश की पहली बार 4,000 मेगावाट क्षमता की मेगा सोलर पावर परियोजना राजस्थान में जयपुर के पास लगाई जाएगी। इसे सरकारी क्षेत्र की छह प्रमुख कंपनियाँ- भेल, पावरग्रिड, सोलर एनर्जी कॉरपोरेशन, सतलुज जल विद्युत निगम, हिन्दुस्तान साल्ट्स और राजस्थान इलेक्ट्रॉनिक्स मिलकर लगाएँगी। परियोजना के पहले चरण में एक हजार मेगावाट बिजली का उत्पादन किया जाएगा, जो वर्ष 2017 तक शुरू हो जाएगा। शेष 3,000 मेगावाट क्षमता का विस्तार दूसरे चरण में किया जाएगा। इसमें अतिरिक्त तीन वर्ष का समय लगेगा। दुनिया के किसी भी देश ने एक जगह पर इतनी बड़ी सौर ऊर्जा परियोजना नहीं लगाई है। भारत में सौर ऊर्जा से बिजली बनाने की परियोजना का भविष्य इससे तय होगा। यह प्लांट न सिर्फ देश की बिजली जरूरत को पूरा करेगा, बल्कि ताप, जल और परमाणु बिजली घर लगने से पर्यावरण को होने वाली हानि से भी बचायेगा।

अनुमान मौसम का : घाघ और भड्डरी की कहावतें

प्रो० गिरीश चन्द्र चौधरी*

विक्रम की 18वीं शताब्दी के प्रायः अन्तिम भाग में कन्नौज के निकट निवासी घाघ कवि एक अनुभवी किसान हो गये, इनको खगोल का अच्छा ज्ञान था। उनकी प्रत्येक कविता उनके गुरुज्ञान और अपूर्व अनुभव की उदाहरण हैं। परन्तु खेद का विषय है कि आज के विकास युग में हमें ऐसे अनुभवी पुरुष की न तो पूरी जीवनी मिलती है और न ही उनके सिद्धान्तों पर वैज्ञानिक अध्ययन हुआ हैं। घाघ की कहावतें उत्तर प्रदेश व बिहार में प्रचलित हैं और भड्डरी की पंजाब और राजस्थान में। शायद भड्डरी जिनकी जीवनी नहीं मिलती, राजस्थान के निवासी एक योग्य ज्योतिषी थे। इनका घाघ कवि के समान ही वर्षा और खेती के सम्बन्ध में अच्छा ज्ञान था, जिसका कुछ उदाहरण इस प्रकार हैः घाघ कवि ने वर्षा कब नहीं होती इस सम्बन्ध में कहा है-

दिन का बद्दर रात निबद्दर, बहै पुरवैया भव्वर भव्वर।।
घाघ कहैं कुछ होनी होई। कुवा के पानी धोबी धोई।।

घाघ कवि की उक्तियों का वैज्ञानिक अध्ययन करने से पता चलता है कि आज के मौसम विज्ञान पर वे आधारित हैं। आज मौसम विज्ञान भारत में विशेषकर उत्तर में वर्षा का कारण अरब सागर से उठने वाला मानसूनी बादल है, जो उत्तर पूर्व की ओर बढ़कर वर्मा की हिमालय-पर्वत श्रेणी से टकराकर पश्चिम की ओर मुड़ जाती है और गंगा के मैदानी भागों, तराई एवं उत्तरांचल में बरस जाता हैं अरबसागर से मानसूनी वर्षा एवं पश्चिमी विक्षोम से जाड़े की वर्षा भारत में होती है। बंगाल की खाड़ी से उठने वाला बादल जब वहाँ से कम दबाव वाले क्षेत्रों – तमिलनाडु एवं बंगाल, आन्ध्रप्रदेश में आता है तो वर्षा होती है। घाघ कवि वर्षाकाल को विशेषकर मानसूनी वर्षा के समय को नक्षत्रों से मिलाते हैं अर्थात् पृथ्वी जब ब्रह्माण्ड के उस भाग (नक्षत्र वाले भाग) पहुँचती हैं ज्योतिष के अनुसार उनकी भविष्यवाणी खरी हैं। यथा-

जल वर्षा चित्रा (कार्तिक) में हो तो कृषि को हानि है। जाहिर है उस समय खरीफ की फसल पक कर तैयार है और सड़ सकती है। परन्तु चित्रा नक्षत्र में पृथ्वी जब पहुँचे अर्थात् ब्रह्माण्ड में 180 डिग्री पर हो तो प्राकृतिक दृष्टि से वर्षा का अन्त निकट है और रबी की तैयारी होती है। अतः वर्षा लाभदायक नहीं। परन्तु पूर्व का नक्षत्र यानि हस्त में खूब वर्षा होती है क्योंकि सूर्य का कोण पृथ्वी के समानान्तर हो ताप को न्यून एवं आकाश में दबाव में बढ़त भी लाने लगता है, अतः घाघ ने कहा है कि-

बढ़त जो बरसे चित्रा उतरत बरसे हस्त।
कितनौ राजा डांड़ ले, हारे नहीं गृहस्थ।।

ज्ञातव्य है कि इसी समय दिन-रात बराबर (22 सितम्बर) हो जाते हैं और सूर्य दक्षिण की ओर तेजी से बढ़ता जाता है। जबकि इसके पूर्व सूर्य 22 जून को पूरे तेज से उत्तरी गोलार्ध को गर्म कर देता हैं और दिनमान उच्चतम होता है। इसी प्रकार सूर्य से पृथ्वी ब्रह्माण्ड के 120 डिग्री कोण पर होती है (मघा नक्षत्र) वर्षा जल अत्यंत सुस्वादु एवं वर्षा खूब होती है और कवि कहते है- 'मघा भूमि अधा' परन्तु अगर यह न बरसा तो ऊसर भूमि भी सूख जावेगी। आगे घाघ भविष्यवाणी करते हुए कहते हैं कि-

माघ पूष जो दखिन चले, तो सावन के लच्छन भले।

यह लक्षण है जब दक्षिणी मानसून (मद्रास वाला) को लाने वाली उत्तर भारत में हवा आवे तो श्रावण मास में अवश्य वर्षा लाती है।

वर्षा की शुरुआत जब आद्री नक्षत्र में पृथ्वी पहुँचे अर्थात् 60 डिग्री में यानि 15 जून के लगभग हो जावे तो वर्षा बराबर होती रहेगी अर्थात् जब पृथ्वी 110 डिग्री एवं 15 जुलाई तक वृष्ट होती रहेगी। यह इसका प्रमाण है कि समुद्र से हवा (दक्षिण पश्चिम से) पूर्व होते सिलसिला चालू हो गया और मानसून में सहसा रोक (मानसून ब्रेक) न होगा जो बीच-बीच में वर्षा मौसम में यदा-कदा देखा जाता है। इसी प्रकार जब पृथ्वी आर्द्रा 60 डिग्री से 160 डिग्री अर्थात् हस्त के चौथे भाग में पहुँच जावे तो अवश्य वर्षा होनी चाहिए। इस स्थिति में पृथ्वी सूर्य से 160 अंश पर रहने से गर्मी की समाप्ति एवं जाड़े की शुरुआत भी हो जाती है क्योंकि सूर्य का ताप कम हो जाता है। एक कारण यह भी है कि सूर्य पृथ्वी के दक्षिणी भाग अर्थात् विषुवत रेखा के दक्षिण गोलार्द्ध में पहुँचकर उत्तरी गोलार्द्ध में ठंडक ला देता है तभी हमारे लोक में प्रचलित है कि हथिया के पेट में जाड़ा अर्थात् प्रारम्भ हो जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से सूर्य से दूरस्थ कोण पर होने के कारण यह घटना होती है। इसको महत्व देते हुए घाघ ने कहा कि-

आवत ना आदर दियो जात न दीनी हस्त।
ये दोनों पछितायेंगे पाहुन और गृहस्त।

*भूतपूर्व आचार्य, भौमिकी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी – 221 005; आवास : भारतेन्दु भवन, चौखम्भा, वाराणसी – 221 001.

वर्षा की आस में किसान

यह नहीं कि केवल हस्त से प्रसन्न हो बल्कि घाघ ने कहा कि स्वाती जो हस्त के पश्चात 200 अंश पर रहता है, में जरा भी वर्षा हो जावे तो अति घनी खेती हो जावेंगी और पपीहा भी प्रसन्न होगा। स्वाती का जल इतना शुद्ध होता है कि तुरन्त रासायनिक क्रियाकर सर्प में विष, सीप में मोती एवं केले में कपूर का निर्माण कर डालता है, जैसा प्रचलित है। यह उस जल की वर्षा के अन्त में आता है जब आकाश एकदम स्वच्छ हो, प्रदूषण रहित होने से वर्षा जल को डिस्टिल वाटर के समान कर देता है।

वर्षा न होने का संकेत घाघ कवि वैज्ञानिक दृष्टि से देते हैं। जैसे-

दिन में गरमी रात में ओस, कहें घाघ बरखा सौ कोस।

अर्थात् दिन की गर्मी से बादल न बने या दबाव कम न हुआ तो रात्रि में ओस पड़कर समस्त आर्द्रता निकल जावेगी, फलतः वर्षा नहीं होगी क्योंकि आद्रता कम रही। परन्तु जब वन में कास का फूल उगे अथवा अगस्त या कोनोपस तारा आकाश में दिखे तो वर्षा समाप्त हो जावेंगी। वर्षा तथा हवा का सम्बन्ध है कि बादल किस दिशा में जा रहे हैं।

अगर हवा दक्षिणी अर्थात् दक्षिण पश्चिम की हो और पूर्व की ओर बादलों को न ले जावे तो वर्षा न होगी क्योंकि पूर्व की ओर जाना तभी होता है जब वह हिमशृंग (पर्वत की चोटी) से टकराकर बरस जावे। तभी आपने कहा कि–

'सब दिन बरसो दखिना बाय, कभी न बरसो बरसा पाय।

जब हवा पूरब की हो तो मानसून के पथ के अनुसार होती है तो वर्षा अवश्यंभावी है और विपरीत स्थिति में वर्षा नहीं ही होगी। तभी कहा है कि-

पूरब के बादर पश्चिम जाय, पतरी पकावै मोटी खाय,

पकुंवा बादर पूरब के जाय, मोटी पकौव पतरी खाय।।

पुनर्वसु एवं पुष्य नक्षत्रों में पृथ्वी सूर्य से 90 से 100 डिग्री अर्थात् लम्ब रहती है, अतः वायुमण्डल हल्का होने से वर्षा की अवश्य आशा होती है। इस समय वर्षा न होना दुर्भाग्यसूचक होगा। अतः कवि कहते हैं कि-

पुरब पुनर्वसु भरे न ताल। तो फिर मरिहौं अगली साल।।

वर्षा के आगमन की सूचना बड़े वैज्ञानिक ढंग से दी गयी कि ज्येष्ठ मास में जितनी गर्मी पड़ेगी वर्षा उतनी ही होगी। जाहिर है गर्मी का चरम जेठ में होकर वाष्पीकरण लाकर वर्षा लाता है।

जेठ मास जो तपै निरासा, तो जानों बरखा की आसा।

वर्षा के प्रधान नक्षत्रों में आद्रा, कृतिका में कुछ वर्षा होनी चाहिए, नहीं तो अकाल की सम्भावना बनेगी, ऐसी भड्डरी का कहना है।

कृतिका तो कोरी गई आद्रा मेंह न बूँद।

तो यौं जानौ भड्डरी काल मचावै दंद।।

इसी प्रकार वर्षा न होने का निर्देश देते हुए कहते हैं कि यदि मृगशिरा नक्षत्र में हवा न चले अर्थात् पूर्व के रोहिणी में तपन की चरम सीमा के पश्चात, तो वर्षा नहीं होगी। स्पष्ट है कि तपन से वायुमण्डल हल्का होता है और समुद्री हवा मृगशिरा में आने लगती है। फलतः वर्षा होगी ही। भड्डरी ने कहा कि –

मृगसिर वायु न बाजिया, रोहिणी तपै न जेठ।

गोरी बानै कांकरा, खड़ा खेजड़ी हेठ।।

वर्षा के अतिरिक्त कवि ने भूकम्प के विषय में भी लिखा कि – यदि जेठ प्रतिपदा को बुधवार पड़े और आषाढ़ की पूर्णिमा को मूल नक्षत्र हो तो भूकम्प आ सकता है।

जेठ जेठ पहिल परिवा, दिन बुध बासर जो होइ।

मूल असाढ़ी जो मिल पृथ्वी कम्पै जोइ।।

वर्षा के लिए कहा कि आद्रा और आगे के दस नक्षत्र जेठ की शुक्ल पक्ष में बरस जावे तो आगे वर्षा मासो में पानी नहीं बरसेगा। इसी प्रकार विशाखा, चित्रा, स्वाती, जेष्ठ मास में बादल तो वृष्टि नहीं होगी। इस प्रकार आपने जेठ मास में वृष्टि के लक्षणों को बताया कि उससे मानसूनी वर्षा का पता लग जाता है। यह सत्य है क्योंकि जेठ मास में गर्मी अधिक होती है और वर्षा की सम्भावना मानसूनी महीनों में बढ़ जाती है।

भड्डरी दिनों को महत्व अधिक देते लिखते हैं कि–

जेठ बदी दसमी दिना, जो सनिवासर होई।

पानी होय न धरनि पर, बिरला जीवै कोई।

अर्थात् जेठ बदी दशमी को यदि शनिवार पड़े तो पृथ्वी पर पानी बरसेगा। चूँकि जेठ मास गर्मी की चरम सीमा होती, परन्तु उसमें वृष्टि हो और गर्मी न पड़े, वाष्पीकरण न हो तो जाहिर है, वर्षा मास सूखे रह जावेंगे। अतः कहा कि–

जेठ उजारे पच्छ में, आद्राविक दस रिच्छ,

सजल होय निरजल कहो, निरजल सजल प्रत्यक्ष।

आपने जेठ मास को विशेष इंगित कर कहा था कि जेठ शुक्ल तृतीया को आद्रा नक्षत्र होकर बरस जाय तो अकाल होगा। इसी जेठ की गर्मी में

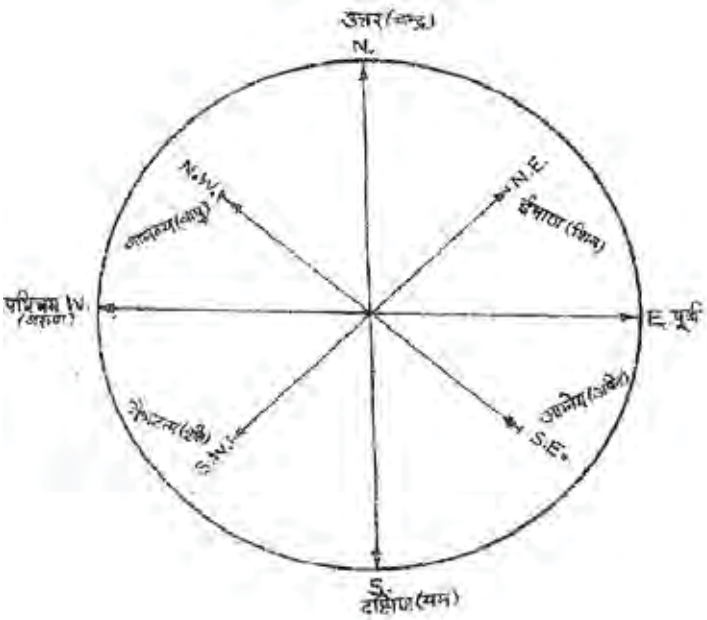

चित्र सं0 १७ : राशियों एवं ग्रहों का विभाग

मृगशिरा नक्षत्र आने पर दस दिन खूब तपेगा, परन्तु ग्रीष्म ऋतु का दूसरा मास आषाढ़ में भी आगे वर्षा होने के लक्षण बताये गये हैं। जैसे आषाढ़ की अमावस्या को बादल न होने चाहिए। इसके पूर्व नवमी को भी बादल न होने चाहिए। उसी प्रकार आषाढ़ की पूर्णिमा को स्वच्छ आकाश न रह कर बादलयुक्त हो, अर्थात् वर्षा का प्रारम्भ श्रावण मास होने को है। आपने दिन में बादल और रात्रि स्वच्छ आकाश हो तो दिन में वाष्पीकरण न होने से वृष्टि का संयोग नहीं होना, बताया। परन्तु श्रावण में वाष्पीकरण रोहिणी नक्षत्र के कारण हेा तो वर्षा कम होनी चाहिए। मानसून के बढ़ने की दिशा ठीक होने से वर्षा होती है। यह वैज्ञानिक तथ्य ध्यान में रखते हुए आप कहते हैं कि जैसा होता है- पूर्व से मानसूनी बादल पश्चिम जाते हैं तो वर्षा होगी ही, परन्तु उलटा होने पर वर्षा नहीं होती है। सत्य है कि मानसून पश्चिम से पूर्व को जाने के पश्चात नहीं बरसेगा। अतः श्रावण मास में आकाश का स्वच्छ या बादलरहित रहना अवर्षण की स्थिति होती है। श्रावण मास में चित्रा, स्वाती और विशाखा नक्षत्रों में वर्षा होना आवश्यक है। ये नक्षत्र चन्द्र की गति से हैं। इस मास सूर्य उदय पर कर्क राशि न सामने आवे अपितु सिंह राशि होनी चाहिए, अर्थात सूर्य पृथ्वी का कोण 120 से 150 डिग्री का हो और किरणें गर्मी न लाकर वर्षा लावें तभी जोरदार वर्षा होगी। श्रावण मास के पश्चात भाद्रपद मास में एकादशी तक बादल बने रहने चाहिए और अगर छिन्न-भिन्न हो जावें तो आगे चार मास वर्षा का योग नहीं होगा।

कसा बेल्ट बाँधने से हो सकता है गले का कैंसर

कमर में कसकर बेल्ट बाँधने से गले का कैंसर हो सकता है। शोधकर्ताओं के अनुसार बेल्ट से कसी कमर के कारण पेट में निकलने वाला एसिड भोजन नलिका में जाकर कोशिकाओं को क्षतिग्रस्त करता है। इससे गले के कैंसर की आशंका बढ़ जाती है।

मस्तिष्क कोशिकाओं पर लेजर प्रहार से काबू की जायेगी भूख

नॉर्थ कैरोलीना विश्वविद्यालय के एक शोध में उल्लेख किया गया है कि खाने की आदत को नियंत्रित करने वाली मस्तिष्क कोशिकाओं पर लेजर किरणों के प्रहार से भूख पर काबू किया जा सकता है। इसके लिए चूहों को इस तरह से तैयार किया गया ताकि मस्तिष्क में मौजूद न्यूरॉन्स लेजर के प्रति प्रतिक्रिया दें। शोधकर्ताओं ने उनके न्यूरॉन्स पर लेजर किरणों से प्रहार किया तो चूहे हिंसक होकर खाने पर टूट पड़े। इसके विपरीत जब ये कोशिकायें निष्क्रिय थे तो चूहों ने खाने की तरफ देखा तक नहीं।

मृदा का धात्विक प्रदूषण और उपचार

डॉ0 दिनेश मणि*

वर्तमान में मृदा का धात्विक प्रदूषण एक ज्वलंत पर्यावरणीय समस्या का रूप ले चुका है। बढ़ते औद्योगीकरण एवं आधुनिक कृषि संबंधी क्रियाकलापों के द्वारा मृदा निरंतर प्रदूषित हो रही है। आजकल शहरों के निकटवर्ती भू-भाग पर सब्जियों की खेती बहुतायत से की जा रही है। इन सब्जियों की फसलों की सिंचाई हेतु प्रायः शहरों की नालियों में बहने वाले गन्दे जल (मलजल/सीवेज) का ही प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त खाद्य के स्रोत के रूप में अवमल (स्लज) का उपयोग भी बहुत लम्बे समय से हो रहा है। प्रयोगों द्वारा अब यह सिद्ध हो चुका है कि इस वाहित मल-जल (सीवेज) एवं अवमल (स्लज) में अनेक विषैली भारी धातुयें पायी जाती हैं। भारी धातुओं के अन्तर्गत वे तत्व आते हैं जिनका घनत्व 5 से अधिक होता है। मुख्य भारी धातुयें हैं- कैडमियम, क्रोमियम, कोबाल्ट, कॉपर, आयरन, मरकरी, मैंगनीज, मोलिब्डिनम, निकिल, लेड, टिन तथा जिंक। कुछ भारी धातुयें जैसे- कॉपर, आयरन, मैंगनीज, जिंग, मोलिब्डिनम तथा कोबाल्ट की सूक्ष्म मात्रा जानवरों के लिये आवश्यक होती है, किन्तु कैडमियम, मरकरी तथा लैड न तो पौधों के लिये आवश्यक है और न ही जानवरों के लिये अर्थात् पर्यावरण में इनकी उपस्थिति वनस्पतियों, जीवों एवं स्वयं मनुष्य के लिये हानिकारक होती हैं। ये विषैली भारी धातुयें अनुमत सान्द्रण सीमा से अधिक होने पर मृदा के धात्विक प्रदूषण का कारण बनती हैं। इन धातुओं को औद्योगिक महत्व होने के नाते रोज नये-नये कारखानों की स्थापना हो रही है। फलतः प्रतिदिन अपशिष्ट के रूप में इन धातुओं का ढेर सा लग जाता है और पर्यावरण में इन धातुओं का प्रचुर अंश विष रूप में मिलता रहता है। इन अपशिष्टों के हवा, नदी-नाले तथा मिट्टी आदि में पहुँचने से जल तथा मिट्टी के धात्विक प्रदूषण की समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। जल, वायु, मिट्टी ही नहीं अपितु इससे अब खाद्य सामग्री भी प्रदूषित होने लगी है।

शहरी गंदे जल (सीवेज-स्लज) से खींची गयी मिट्टियों में उपजने वाली फसलों में कैडमियम की उच्च मात्रायें पायी जा सकती हैं। अतएव पौधे तथा फसलें कम से कम कैडमियम ग्रहरण करें, इस दिशा में शोध की आवश्यकता बनी हुई है।

यहाँ प्रस्तुत भारी धातुओं के अतिरिक्त अन्य और भी भारी धातुयें हैं जो पर्यावरण प्रदूषण के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हैं। सामान्यतः भारी धातुयें वे हैं जिनका घनत्व 5 से अधिक हो किन्तु आजकल इस मूल संकल्पना में परिवर्तन हो चुका हैं अब भारी धातुयें उन्हें माना जाता है जिनमें इलेक्ट्रॉन स्थानान्तरण का गुण-धर्म पाया जाता है।

पीने योग्य पानी में भारी धातुओं की इष्टतम सीमा इस प्रकार है–

भारी धातु	इष्टतम सीमा (मि.ग्रा./लीटर)
कैडमियम	0.01
कॉपर	0.04
जिंक	0.5
क्रोमियम	0.05
लैड	0.01

धात्विक प्रदूषण को कम करने हेतु यद्यपि कई तकनीकें विकसित की जा चुकी हैं, तथापि अत्यधिक मँहगी तथा कभी-कभी प्रायोगिक रूप से उपयोगी न होने के कारण इनको प्रत्येक स्थान पर प्रयोग में नहीं लाया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में पौधों के प्रयोग द्वारा इन धातुओं का निस्तारण एक सरल, सस्ती और आसान प्रक्रिया सिद्ध हो सकती है। विशेषकर पर्यावरणीय दृष्टिकोण से यह एक अनुकूल विधि है। इसमें अतिरिक्त हानिकारक उत्पादों की संभावना काफी कम होती है।

पौधों में धातु संचय करने तथा प्रतिरोध करने की क्षमता होती है। पौधों द्वारा प्रदूषकों का अवशोषण या निस्तारण पादप उपचार (फाइटोरेमिडियेशन) कहलाता है। विभिन्न भारी धातुओं के उपचार के लिए यह एक विश्वसनीय तकनीक है। कुछ पौधे विभिन्न प्रदूषकों तथा धातुओं को अवशोषित करने की क्षमता रखते हैं। अधिक मात्रा में प्रदूषकों को अवशोषित करने वाले पौधों को मेटेलोफाइट या हाइपरएकुमुलेटर कहते हैं। ये पौधे भारी धातुओं को जड़ों द्वारा अवशोषित करके अपने अनुपयोगी ऊत्तकों में संचयित करते हैं। कुछ अध्ययनों से पता चला है कि

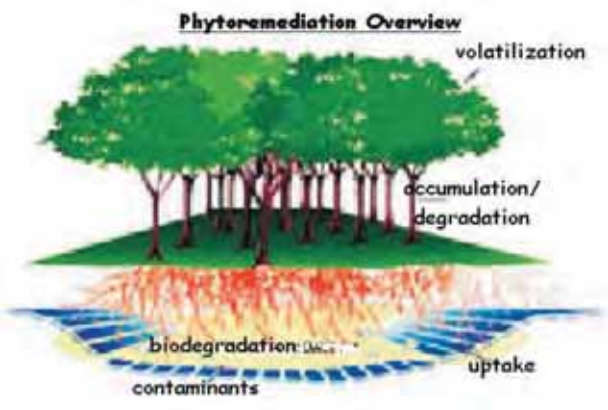

* 35/3, जवाहर लाल नेहरू रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद -211 002.

पौधों की जड़ें मिट्टी में कार्बनिक प्रदूषकों की जैविक अपघटन प्रक्रिया को तेज कर देती हैं। मिट्टी तथा पानी में भारी धातुओं की मात्रा के मॉनीटरन और प्रदूषण निवारण के लिए ऐसे अनेक प्रकार के पौधों का बड़े पैमाने पर उपयोग किया जा रहा है।

पौधों विभिन्न धातुओं को घुलनशील आम्क्सीकरण (Soluble oxidation) अवस्था से अघुलनशील ऑक्सीकरण (Insoluble oxidation state) में परिवर्तित करके धातु निक्षालन को रोकते हैं। साथ ही उन्हें उद्ग्रहण अवक्षेपण और अपचयन के माध्यम से निश्चल किया जा सकता है।

पौधे अपनी जड़ों की सतह में उपस्थित सूक्ष्म जीवों की विघटनकारी प्रक्रिया के द्वारा कार्बनिक यौगिकों को तोड़कर सरलीकृत कर देते हैं और इसे आसानी से ग्रहण कर लेते हैं। इन उपचारित पौधों को प्रदूषित स्थल से दूर ले जाकर विभिन्न विधियों द्वारा संचयित तत्वों को इनसे अलग कर लिया जाता है। जैव प्रौद्योगिकी की सहायता से इस समय ऐसी विधियाँ विकसित कर ली गई है जिनके द्वारा चुने हुए तथा विशेष रूप से निर्मित सूक्ष्म जीवों के प्रयोग से पौधों द्वारा धातुओं का अवशोषण बढ़ाकर मृदा पुनः कृषियोग्य बनाई जा सकती है। दूसरी ओर पारंपरिक विधियों की अपेक्षा कम लागत से अधिक धातु प्राप्त करने के प्रयास जारी हैं। सर्वप्रथम अमेरिका के सूक्ष्मजीवी वैज्ञानिकों ने सन् 1947 में थायोबैसिलस फैरोऑक्सीडेन्स नामक जीवाणु की सहायता से ताँबे को कच्ची धातु से प्राप्त किया था। ये जीवाणु पूरी तरह से सल्फाइड पर जीवन यापन करते हैं और अम्लीय वातावरण में तेज से बढ़ते हैं।

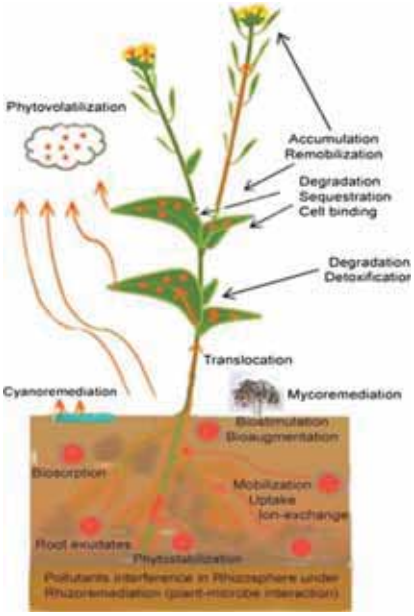

सूक्ष्म जैव-उपचार उत्प्रेरक (Biocatalyst) की तरह कार्य करते हैं तथा प्रदूषकों के सहारे बढ़ते हैं इसलिए जैव-उपचार की गति स्वाभावित रूप से तेज होती है। सूक्ष्म जीवों में जैविक यौगिकों के अपघटन की स्वाभाविक क्षमता अधिक होती है। आनुवंशिक अभियांत्रिकी द्वारा सूक्ष्मजीवों की इस क्षमता में और भी वृद्धि की जा सकती है।

पौधे प्रदूषित पदार्थों के लिए एक जैविक छनन-यंत्र का कार्य करते हैं। पौधे प्रदूषणकारी पदार्थों सांद्रता को अपनी बाहरी या भीतरी सतह पर सोखकर इनको कम विषैले पदार्थों में परिवर्तित कर, स्वयं में एकत्रित कर व चयापचय द्वारा उनकी मात्रा को कम कर देते हैं।

पादपोचार आधारित निस्तारण के लिए सबसे पहल आवश्यकता प्रदूषणकारी भारी धातुओं को पहचानने की है। इसके लिए जैव-सूचकों का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ फेस्चुका रूब्रा तथा लिगुस्टम वुलगेरी की पत्तियाँ कैडमियम, जिंक, लैड और निकेल के लिए, डाइक्रेनम पॉलीसेटम तथा स्फैगनम प्रजातियाँ कैडमियम, कॉपर, ऑयरन, मरकरी, निकेल, लेड तथा जिंक के लिए प्रयुक्त होती हैं। सूचक पौधे भारी धातुओं की अधिक मात्रा अवशोषित करते हैं लेकिन इनकी प्रतिरोधक क्षमता कम होती हैं जिसके कारण रन्ध्र, क्यूटिकिल, ट्राइकोम आदि में परिलक्षित होने वाले परिवर्तन बाहर से स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगते हैं। कुछ शैवाल जैसे क्लेडोफोरा ओर स्टीमिआलोनियम का प्रयोग जल में भारी धातु प्रदूषण के सूचक के रूप में होता है। भारी धातु प्रदूषण की उपस्थिति में क्लेडोफोरा पूर्णतया उस स्थान से समाप्त होने लगता है।

प्रदूषण की पहचान हो जाने के पश्चात ऐसे पौधों का चुनाव किया जाता है जो इनके निस्तारण की क्षमता रखते हैं। निस्तारण की यह सफलता पौधों के जाति तथा मृदा सुधार की विधि पर काफी सीमा तक निर्भर करती है। कुछ पौधों के ऊत्तकों में काफी अधिक मात्रा में भारी धातुओं को संचित करने की शक्ति होती है और इन्हीं पौधों का उपयोग मृदा धातुओं का अवशोषण करने में किया जाता है। यह निस्तारण कई अन्य कारकों पर भी निर्भर करता है, जैसे- पौधों की अधिक से अधिक मात्रा में भारी धातुओं को संचित करने की शक्ति होती है और इन्हीं पौधों का उपयोग मृदा धातुओं का अवशोषण करने में किया जाता है। यह निस्तारण कई अन्य कारकों पर भी निर्भर करता हैं, जैसे- भार का उत्पादन, रोपाई तथा कटाई की सरलता इत्यादि।

जड़ों द्वारा अवशोषित होकर ये धातुएँ पौधों में उपस्थित आवश्यक रसायनों से संकुलित होकर उसके विभिन्न भागों में स्थिर हो जाते हैं तथा कुछ अंततः अवक्षेपित हो जाते हैं। कुछ अन्य मुख्य रूप से पत्तियों में जाकर एकत्रित हो जाते हैं।

एल्पाइन पेनीक्रेस (थ्लास्पी सेरूलेसेन्स) अन्य पौधों की अपेक्षा 10 से 100 गुना अधिक जिंक अवशोषित कर सकता है। वस्तुतः सूखे पौधे के प्रति किलोग्राम भार के अनुपात में यह 25 ग्राम जिंक का अवशोषण कर सकता है और इसीलिए इसकी सहायता से अमेरिका में पामरटन नामक स्थान में बंद हो गए जिंक स्मेलटरों के आसपास की भूमि को उर्वरा

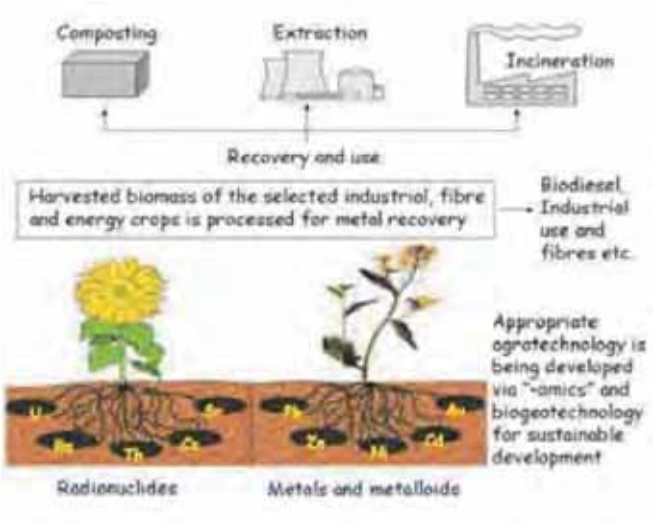

Figure 1. The approach of "green technology" for the clean up toxic metals, metalloids and radionuclides in the environment.

बनाने में आशातीत सफलता मिली है। इतना ही नहीं, यह पौधा इसी अनुपात में लगभग 16 ग्राम निकेल तथा अच्छी मात्रा में कैडमियम का भी अवशोषण कर सकता है। ये दोनों ही प्रदूषक तत्व भी जिंक स्मेलटरों की ही देन हैं।

सेबोर्टिया अकुमिनाटा एवं एलियम लेस्बिएकम नामक पौधे भी निकेल की भारी मात्रा को अवशोषित करने में सक्षम हैं। ब्रेसिका नेपस, सेलीनियम के आधिक्य वाली मिट्टी को सामान्य बना सकता है। यह कैडमियम और बोरोन को भी भारी मात्रा में अवशोषित करने की क्षमता रखता है।

लेड आधारित उद्योगों एवं आटोमोबाइल्स से लेड मृदा में इतनी अधिक मात्रा में संचित हो जाता है कि यह विषाक्त बन जाता है। लेखक द्वारा शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय में किए गए शोध कार्य से पता चला है कि लेड प्रदूषित मृदा को कृषि योग्य बनाने में भारतीय पीली सरसों ब्रेसिका जन्सिया तथा कैडमियम प्रदूषित मृदा में सूरजमुखी (हैलिएन्थस एन्नस) बहुत लाभकारी हैं। इसके शुष्क जैव भार के प्रति किलोग्राम में चार ग्राम तक लेड संग्रहीत पाया गया है।

धातुओं को जड़ से तने में लाने के लिए वाष्पोत्सर्जन की प्रक्रिया भी एक प्रमुख भूमिका निभाती है। लेड के लिए सबसे प्रमुख वनस्पतीय निस्तारक थ्लास्पी रोटंडीफोलियम है। इसके अतिरिक्त ब्रेसिका जन्सिया भी इसका उत्कृष्ट उदाहरण है जिसमें लेड, कैडमियम को अवशोषित करने की आनुवंशिक शक्ति पाई जाती है। जई और जौ में भी कॉपर, कैडमियम और जिंक के निस्तारण की क्षमता पाई जाती है। इसके अतिरिक्त कार्न, राईघास, थिलकस तथा डेस्चैम्पसिया आदि पौधों में भी भारी धातुओं के निस्तारण की प्रचुर क्षमता का पता चला है। इतना ही नहीं, पापलर (पापुलर स्पीशीज) के पौधों की जिंक, अवशोषण क्षमता के कारण पेट्रोलियम कुँओं से निकले लवणीय अपशिष्ट जल को शोधित करने का प्रयास किया जा रहा है। इन पौधों की जड़ों द्वारा अवशोषण आंका जा चुका है। जब जड़ों को खोदकर निस्तारण करने की विधि का विकास किया जा रहा है ताकि एकत्रित जिंक को वहाँ से हटाया जा सके।

मृदा में सीसे की अवशोषण क्षमता को सरसों के पौधों में बढ़ाने के लिए 'कीलेटर' यौगिकों का भी परीक्षण किया जा रहा है। इतना ही नहीं, इन 'कीलेटर' यौगिकों के मृदा में प्रयोग से अन्य धातुएँ जैसे कैडमियम, कॉपर, निकेल तथा जस्ता जैसी धातुओं की सरसों के तनों में एकत्रित करने की क्षमता को बढ़ते भी पाया गया है।

आजकल आनुवंशिक अभियांत्रिकी की सहायता से ऐसे ट्रांसजेनिक पौधों का निर्माण किया जा रहा है, जो विशिष्ट रूप से प्रदूषित मृदा का उपचार करने में सक्षम हों। परम्परागत फसलों में अत्यधिक संचय की प्रवृत्ति उत्पन्न करने के प्रयास किये जा रहे हैं। ये प्रयोग ब्रैसिका के पौधों पर किए जा रहे हैं जिनकी जड़ों में भारी धातुओं के संचयन की क्षमता पायी गई है। पाइसम सटाइवम (*Pisum sativum*) की एक उत्परिवर्तित प्रजाति तैयार की गई है जो पाइसम की जंगली जाति की तुलना में 10-100 गुना अधिक आयरन का संचय करती है।

जैव प्रौद्योगिकी की सहायता से पौधों की ऐसी प्रजातियाँ विकसित करने की आवश्यकता है जो अधिक से अधिक मात्रा में भारी धातुओं का संचय कर सकें। इसके लिए मृदा रसायनज्ञ जैव प्रौद्योगिकीविद् पारिस्थितिकीविद्, पर्यावरणविद्, जल-अभियांत्रिकी विशेषज्ञ, कृषि वैज्ञानिकों सभी को एक साथ मिल बैठकर ऐसी रणनीतियाँ तैयार करने की आवश्यकता है जिससे इस तकनीक का सफल कार्यान्वयन हो सके और पर्यावरण के विभिन्न घटकों यथा-मृदा, जल तथा वायु से प्रदूषकों की मात्रा को कम किया जा सके। इस दिशा में धातु-उद्ग्रहण, स्थानान्तरण, कीलेटीकरण एवं जड़ अवक्षेपण पर शोधकार्य की आवश्यकता है। पर्यावरण अभियांत्रिकी, मृदा सूक्ष्म जीवविज्ञान, जैसे क्षेत्रों का एक संयुक्त अनुसंधान इस विधा को अधिक कारगर बनाने के लिए आवश्यक है।

यह देखा गया है कि शैवालों तथा प्लवकों (प्लैंक्टन) में इन धातुओं का बहुत अधिक संचय होता है। अतः इन धातुओं के अस्थायी छुटकारे के लिये शैवालों तथा प्लवकों की खेती पर बल देने की आवश्यकता है। शोधों से पता चला है कि चीड़ का पेड़ मिट्टी से बेरीलियम अवशोषित कर उसे धातु प्रदूषण से मुक्त कर देने की सामर्थ्य रखता है। हैयुमैनिएस्ट्रम नामक वनस्पति जमीन से ताँबे एवं कोबाल्ट का अवशोषण करती है। क्रूसीफेरी परिवार की एक वनस्पति थ्लास्पी रोटण्डीफोलिया जस्ते और सीस को वातावरण से अवशोषित करती है। इनमें इनकी मात्राएँ 1-2 प्रतिशत तक हो सकती हैं। इसी प्रकार सेम, मटर आदि के पौधे जमीन से मॉलिब्डिनम धातु को अवशोषित कर लेते हैं।

वाहित मल जल को कृत्रिम जलाशयों में रोककर उसमें शैवालों और जलकुम्भी जैसे जलीय पौधों को उगाया जाय तो इस वाहित मल जल का कुछ हद तक शुद्धीकरण हो सकता है। कारखानों द्वारा निकलने वाले वाहित मल जल में कैडमियम, पारा, निकिल जैसी भारी धातुओं को जलकुम्भी अवशोषित कर लेती है। एक हेक्टेटर क्षेत्रफल में उगायी गयी जलकुम्भी 240,000 लीटर दूषित जल से 24 घण्टे में लगभग 300 ग्राम निकिल तथा कैडमियम अवशोषित कर लेती है। जलकुम्भी द्वारा परिशोधित जल का पी एच मान 6.8 से 9.8 तक हो जाता है। इसी प्रकार यदि मल युक्त ठोस पदार्थ (स्लज) को चूर्ण शैल फास्फेट के साथ प्रयोग किया जाये तो भूमि तथा पौधे में इन विषैली धातुओं को एकत्रित होने से रोका जा सकता है।

ऊसर मृदाएँ एवं उनका प्रबंधन

ओमकार कुमार[1], ए.एम. लटारे[2] एवं प्रो0 एस.के.सिंह[3]*

विश्व का बहुत बड़ा भूभाग ऊसर मृदाओं के रूप में पाया जाता है। कृषि खाद्य संगठन (FAO) के अनुसार विश्व में ऊसर मृदाओं का क्षेत्रफल लगभग 952 मिलियन हेक्टेयर है। वहीं भारती में इनका क्षेत्रफल लगभग 7.0 मिलियन हेक्टेयर है जो सन् 1959 ई0 के क्षेत्रफल से लगभग साढ़े तीन गुना अधिक है। इससे स्पष्ट होता है कि ऊसर सुधार के तमाम प्रयासों के बावजूद भी इन मृदाओं का क्षेत्रफल कम होने के बजाए बढ़ता ही जा रहा है, जो देश के कृषि के लिए एक गम्भीर समस्या है।

ऊसर संस्कृत के 'ऊसर' शब्द से विकसित हुआ है जिसका अर्थ होता है- अनुपयुक्त भूमि। ऊसर शब्द सभी प्रकार की लवणी, क्षारीय एवं लवणीय-क्षारीय मृदाओं के लिए प्रयोग किया जाता है। ऊसर मृदाओं को आम बोलचाल की भाषा में 'रेह' कहा जाता है। उत्तरी भारत में इन मृदाओं को कुछ अन्य नामों जैसे- लोना, शोरा, रेह, रेहटा, क्षार एवं खार के नाम से भी जाना जाता है। वही पंजाब एवं दिल्ली में लवणीय मुदाओं को 'थर' एवं क्षारीय मृदाओं को 'रक्कर' तथा 'बारा या वारी' के नाम से जाना जाता है। राजस्थान में लवणीय मृदाओं को रेह, खारी, कल्लर या नमकीन तथा क्षारीय मृदाओं को ऊसर तथा लवणीय-क्षारीय मृदाओं को रेह, खारी के नामों से पुकारा जाता है।

ऊसर भूमियों में घुलनशील लवणों या विनिमय सोडियम की अधिकता पायी जाती है। ये घुलनशील लवण वाष्पीकरण प्रक्रिया द्वारा धरातल पर एकत्र होते रहते हैं, परिणामस्वरूप मिट्टी की ऊपरी सतह सफेद दिखाई पड़ने लगती है। मृदा घोल में इन लवणों की सान्द्रता बढ़ जाने के कारण पौधे मिट्टी से जल तथा पोषक तत्व सुगमता से नहीं ले पाते जिसका पौधों पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। सोडियम की अधिकता से मृदा की भौतिक दशा अत्यन्त खराब हो जाती है। साथ ही मृदा पी एच भी काफी बढ़ जाता है जो पौधों के लिए जानलेवा साबित होता है। अतः ये मृदाएँ कृषि की दृष्टिकोण से अत्यन्त निम्नकोटि की मानी जाती हैं।

भारत में ऊसर मृदाओं का अध्ययनः ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सन् 1855 में सर्वप्रथम लवणीय मृदा के ऊपर हरियाणा के मुनाक गाँव में कार्य हुआ, वहाँ पर सिंचाई का कार्य पश्चिमी यमुना से निकली हुई नहर से किया जाता था। सन् 1876 में उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ जिले में नहरों द्वारा सिंचाई वाले क्षेत्रों में लवणों की उत्पत्ति के कारणों का पता लगाने, इनके वैज्ञानिक विश्लेषण एवं प्रायोगिक समाधान हेतु 'भारतीय रेह समिति' का गठन किया गया था जिसके निदेशक, प्रख्यात वनस्पति वैज्ञानिक राबर्ट्स बनाये गये। समिति ने अपने वर्षों के अध्ययन के आधार पर ऊसर मृदाओं के विकास का खुलासा किया कि 'नहरों द्वारा सिंचाई एवं जल निकास के समुचित व्यवस्था का आभाव ही ऊसर मृदाओं के विकास का मुख्य कारण है'। लवणीय एवं क्षारीय मृदाओं के समस्या के समस्या पर सर्वप्रथम सन् 1897 में बोएल्कर द्वारा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन का शुभारम्भ हुआ। एम्पीरियल कृषि रसायनज्ञ जे.डब्लू. लीथर (भारतीय मृदा विज्ञान के पिता) ने इन मृदाओं का विस्तृत रूप से अध्ययन किया तथा इस नतीजे पर पहुँचे कि नहरों सिंचित एवं असिंचित दोनों क्षेत्रों में लवणीय मृदाओं के लक्षण समान हैं। इस प्रकार उन्होंने पूर्व से चली आ रही धारणा कि 'नहरों द्वारा सिंचाई करने से ही मिट्टी में लवणता उत्पन्न होती हैं' को गलत बतलाया। उन्होंने मैनपुरी जिले (उ.प्र.) में किये गये अध्ययन से स्पष्ट किया कि नलकूप से सिंचाई करने से मृदा में लवणता अतिशीघ्रता से ही आती है क्योंकि नलकूप के जलों में लवण की सान्द्रता

*[1]शोध छात्र, [2]आचार्य, मृदा विज्ञान एवं कृषि रसायन विभाग, कृषि विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221 005.

तालिका-1: भारत में ऊसर मृदाओं का विवरण

राज्य	क्षेत्रफल (मिलियन हेक्टेयर)
उत्तर प्रदेश	1.295
गुजरात	1.214
पं. बंगाल	0.850
राजस्थान	0.728
पंजाब	0.688
महाराष्ट्र	0.534
हरियाणा	0.526
ओड़िसा	0.404
कर्नाटक	0.404
मध्य प्रदेश	0.224
आन्ध्र प्रदेश	0.042
अन्य राज्य	0.040
कुल	6.949

अधिक होती है। साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि नलकूप जलों में गर्मियों में जाड़े की अपेक्षा इन लवणों की मात्रा अधिक होती है। सन् 1963 में ऊसरीकरण की समस्या के निराकरण हेतु सरकार द्वारा एक समिति का गठन किया गया जिसके सुझावों के अनुसार इन मृदाओं के सुधार हेतु में सुधारार्थ जल निकास विधि को अपनाया गया परन्तु कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। इस अवधि के अगले दशक में रूसी वैज्ञानिक के.ई. गेदरायज के नेतृत्व में काफी शोध कार्य किये गये। गेदरायज ने ही मृदा के कललीय गुणों पर विनिमय सोडियम धनायन के प्रभाव को देखा और क्षारीय एवं लवणीय भूमि की उत्पत्ति के कारणों से अवगत कराया। एक तरफ सरकार द्वारा असिंचित भूमि की सिंचाई के लिए नहरों का निर्माण कराया जा रहा था तो वहीं दूसरी तरफ नहर जल के समुचित तरीके से प्रयोग नहीं होने से समस्याएँ उत्पन्न हो रही थी। इस प्रकार सिंचित कृषि, देश को समृद्ध बनाने के स्थान पर उपजाऊ भूमि का नाश करने लगी। इन्हीं समस्याओं को ध्यान में रखते हुए सन् 1925 में पंजाब में 'जलक्रान्ति जाँच समिति' एवं 'जलक्रांति परिषद' की स्थापना की गई। वहीं लाहौर में 'पंजाब सिंचाई अनुसंधान संस्थान' तथा 'चकनवाली सुधार कार्य' की स्थापना की गई साथ ही दकन के काली कपास मिट्टी क्षेत्र में 'वारामती प्रायोजित लवण क्षेत्र' की स्थापना की गई। सन् 1928 के करीब दकन क्षेत्र में इन्जलिस एवं गोखले द्वारा जल निकास एवं सुधार के अनेक विधियाँ प्रस्तुत की गई। सन् 1930 में वारामती फार्म के निकट तलाती द्वारा सफलतापूर्वक अनेक महत्वपूर्ण अनुसंधान कार्य किये गये जिनमें इन मृदाओं का सुधार एवं वर्गीकरण प्रमुख था। इसी अवधि में डा0 बी.एल. घर के नेतृत्व में इन मृदाओं एवं पौधों से संबंधित अनेक कार्य किये गये जिनका प्रयोग सिन्धु गंगा जलोढ़ मृदाओं के सुधार हेतु आर.आर. अग्रवाल एवं साथियों द्वारा किया गया। सन् 1963 में भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली

तालिका-2: ऊसर मृदाओं के भौतिक एवं रसायनिक गुण

मृदा के गुण	ऊसर मृदाएँ		
	लवणीय	लवणीय-क्षारीय	क्षारीय
पी.एच.	< 8.5	< 8.5	8.5-10
ई.सी. (डे.सी./मी.)	> 4	> 4	< 4
विनिमय सोडियम प्रतिशत	< 15	> 15	> 15
प्रबलता से पाये जाने वाले लवण	कैल्सियम के साथ सल्फेट, क्लोराइड एवं नाइट्रेट	-	सोडियम कार्बोनेट
सोडियम अवशोषण अनुपात	< 13	> 13	> 13
कुल घुलनशील लवण सान्द्रता (%)	> 1	> 1	< 1
श्रंग	सफेद	-	काला
भौति ाक दशा	मृदा कण संगठित	सोडियम लवणों के आधार पर मृदा कण संगठित	असंगठित मृदा कण

ने लवणीय एवं क्षारीय मृदाओं पर पहली किताब छापी। सन् 1969 में यू.एस. एवं भारतीय समिति के संस्तुति पर भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद द्वारा हरियाणा के करनाल जिले में 'केन्द्रीय मृदा लवणता अनुसंधान संस्थान' की आधारशिला रखी गई। आगे चलकर इसके तीन क्षेत्रीय अनुसंधान संस्थान आनन्द (गुजरात), लखनऊ (उ.प्र.) एवं कनीक टाउन (प.बंगाल) में स्थापित किये गयें। वर्तमान में यह संस्थान भारतवर्ष में ऊसर मृदा के सुधार के लिए महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है।

भारत में ऊसर मृदाओं का वितरण

सन् 1972 में केन्द्रीय लवणीय मृदा अनुसंधान संस्थान करनाल ने ऊसर भूमि पर गहन अध्ययन किया और देश के विभिन्न प्रदेशों में ऊसर मृदाओं के क्षेत्रफल का अनुमानित आँकड़ा प्रस्तुत किया जा तालिका-1 में दी गई है।

ऊसर मृदाओं का वर्गीकरण

ऊसर मृदाओं को उनके भौतिक एवं रसायनिक गुणों के आधार पर मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित किया हैं जिसे तालिका-2 में प्रस्तुत किया गया है।

लवणीय मृदाएँ

लवणीय मृदाओं की उत्पत्ति उन स्थानों पर होती है जहाँ वर्षा के अपेक्षा वाष्पन अधिक होता है। वाष्पन अधिक होने के कारण लवण सतह पर एकत्र होते रहते है। इन्हीं घुलनशील उदासीन लवणों की उपस्थिति के कारण सफेद पपड़ी पाई जाती है। इस प्रकार हम कह सकते है कि लवणों की उत्पत्ति एवं विकास ही लवणीय मृदाओं का उत्पत्ति एवं विकास हैं जेसा कि तालिका-1 से स्पष्ट होता है कि लवणीय मृदा में क्लोराइड, सल्फेट एवं नाइट्रेट की अधिकता पायी जाती है। लवणों की उत्पत्ति का मुख्य कारण जल एवं वायुमंडल में पाई जाने वाली गैसों का जैविक क्रियाओं द्वारा चट्टानों का अपक्षय हैं। 'उत्तर प्रदेश की कुछ लवणीय मुदाओं में बोरान की उपस्थिति भी देखी गई है। यद्यपि इन मृदाओं में इस आयन की मात्रा बहुत कम होती है। परन्तु इसकी यह अल्पमात्रा भी अधिकांश फसलों को मारने के लिए पर्याप्त होती है'। लवणीय मुदाओं को अन्य गुणों का तालिका 1 में चर्चा की गयी है। लवणीय मृदाओं के भौतिक दशा कैल्सियम की पर्याप्त मात्रा होने के कारण अच्छी रहती है किन्तु जल में घुलनशील लवणों का अधि सान्द्रता होने से पौधे जल एवं पोषक तत्वों का अवशोषण आसानी से नहीं कर पाते, अतः उनकी वृद्धि अवरुद्ध हो जाती है।

लवणीय-क्षारीय मृदाएँ

ये मृदाएँ अधिकांशतः उन सभी स्थानों पर पायी जाती है जहाँ भूमि की स्थालाकृति असमतल होती है। ऐसी मृदाओं का निर्माण केवल असमतल क्षेत्रों की निचले भागों में संभव होता है। गंगा सिन्धु के मैदानी भागों से लवणों द्वारा प्रभावित मृदा समुदाय में सबसे अधिक लवणीय-क्षारीय मृदाएँ ही पायी जाती है। ये मृदाएँ खासकर निचली जगहों या खेत के उन भागों में, जो देखने में तस्तरीनुमा होते है, पायी जाती है। आम बोलचाल की भाषा में ये मृदाएँ लवणीय एवं क्षारीय दोनों मृदाओं की मध्य की होती हैं क्योंकि इनमें दोनों मृदाओं के गुण पाए जाते है। बाहर से ये लवणीय मुदाओं का गुण प्रदर्शित करती है परन्तु आन्तरिक संरचना में ये

क्षारीय मृदाओं के समान प्रतीत होती है। इन मृदाओं के गुणों को तालिका-2 दिया गया है।

लवणीय-क्षारीय मृदाएँ, ऊसर मृदाओं का निर्माण का यह दूसरा चरण है, क्योंकि ये मृदाएँ लवणीय मृदाओं से ही विकसित होती है। अतः इन मृदाओं का उत्पत्ति एवं विकास लवणीय मृदाओं के समान ही होती है। घुलनशील लवणों की मात्रा अधिक होने के कारण ये लवणीय मृदाओं के समान दिखाई पड़ती है। लवणों की अधिकता में कारण ही इनका पी.एच. मान 8.5 से अधिक नहीं हो पाता तथा इन मृदाओं के कण सदा आपस में संगठित रहते है। यदि ये लवण किसी प्रकार निक्षालित होकर मृदा की निचली सतहों में चले जाते है तो मृदा के भौतिक गुण बदल जाते है तथा यह क्षारीय मृदा के समान गुण प्रदर्शित करने लगती है। रसायनिक दृष्टिकोण से लवणीय-क्षारीय मृदाओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

(क) कार्बोनेट टाइप : इस प्रकार की मृदा को प्रबल घुलनशील आयन सोडियम होता है जो कि सोडियम कार्बोनेट (Na_2Co_3) के रूप में रहता हैं इसके संतृप्त सोडियम की मात्रा 90-95 प्रतिशत तक पायी जाती हैं जिसके चलते मृदा गठन छिन्न-भिन्न हो जाता है, परिणामस्वरूप आन्तरिक जल निकास अवरूद्ध हो जाता हैं इन मृदाओं में 50-60 से.मी. की गहराई पर कंकड़ जैसी एक ठोस परत पायी जाती है। इनका रंग घूसर-भूरा से लेकर घूसर लिए हुए पीला होता है। इनमें चूने की पर्याप्त मात्रा पायी जाती है।

(ख) सल्फेट टाइप : ये मृदाएँ उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में कहीं-कहीं पायी जाती है। इनमें प्रबल सोडियम घनायन सोडियम सल्फेट के रूप उपस्थित रहता है। इनका रंग सतह पर तो राख की तरह घूसर परन्तु कुछ गहराई पर पीला होता है। ये मृदाएँ ठोस संरचना वाली होती है लेकिन सतह मुलायम होने के कारण धूल से आच्छादित रहती है।

क्षारीय मृदाएँ

क्षारीय मृदाओं में मुख्यतः क्लोरीन, सल्फेट, कार्बोनेट, बाई कार्बोनेट एवं कभी-कभी नाइट्रेट (NO_3) आयन पाये जाते है। सोडियम संतृप्त कैल्सियम युक्त मृदाओं का कार्बन डाईऑक्साइड (CO_2) युक्त जल के साथ निक्षालन (leaching) कराने पर जो निक्षालित द्रव प्राप्त होता हैं उसमें सोडियम बाइकार्बोनेट ($NaHCO_3$) की अधिकता होती है। इससे यह ज्ञात होता है कि कैल्सियम कार्बोनेट ($CaCO_3$) एवं Na^+ की संतृप्त मृदा में अन्योन्य क्रिया (Intraction) होती है। इसी के फलस्वरूप निष्कासित जल में $NaHCO_3$ की मात्रा अधिक होती है। जल निष्कासन द्वारा प्राप्त यह जल भूमि की निचली जगहों में एकत्रित होता रहता है और

जब यह वाष्पीकृत हो जाता है तो Na_2CO_3 की कुछ मात्रा मौलिक रूप में तथा कुछ $NaHCO_3$ के रूप में संचित हो जाती है। अधिकांश क्षारीय मृदाओं में Na_2CO_3 एवं $NaHCO_3$ का निर्माण संभवतः इसी विधि द्वारा होता है। इनकी प्रबल उपस्थिति ही क्षारीय मृदा के उत्पत्ति का मार्ग खोलती है। रूस के वैज्ञानिकों ने क्षारीय मृदाओं के निर्माण से मुख्यतः तीन बातों – बाह्य आकारकी, विनिमय सोडियम एवं घुलनशील लवणों की अनुपस्थिति या अत्यन्त अल्प मात्रा पर बल दिया। कावदा (1939) ने क्षार विनिमय को अधिक महत्व देते हुए क्षारीय मृदाओं को निम्नलिखित पाँच अभिलक्षणों का प्रतिपादन किया जो निम्नलिखित है –

1. बी संस्तर में वाह्य आकारिकी संरचनाएँ
2. बी संस्तर के निचले भागों में विनिमेय सोडियम (Na) की उपस्थिति
3. संस्तर में मृतिक का संचयन
4. सतही मृदा में घुलनशील लवणों की अनुपस्थिति
5. अवमृदा की निचली गहराईयों में टिनियम (Ti) आदि का संचालन।

इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि एक ही स्थान की क्षारीय मृदाओं में लवणीयता निक्षालन की प्रक्रियाएँ समान रही हो। यही कारण है कि एक ही स्थान की क्षारीय मृदाओं में न तो क्षारीयता का अंश समान होता है और न ही लक्षण। क्षारीय मृदाओं के निर्माण के लिए उत्तरदायी प्रमुख कारक निम्नलिखित है-

1. **वनस्पति -** क्षारीय मृदाओं के निर्माण में मृदा पर आने वाली वनस्पतियों का निःसन्देह योगदान है जिसका समर्थन केल्लाग (1934) एवं कुछ रूसी वैज्ञानिकों ने भी किया है। केन्द्रीय लवणीय मृदा संस्थान करनाल (हरियाणा) के अनेक शोधकर्ताओं ने यह बताया कि क्षारीय मृदाओं में निक्षालन की क्रिया इस हद तक अपनाने पर कि उसमें कुछ पौधों की बढ़वार अग्रसर होने लगे हैं। पौधों के इस बढ़वार के कारण कवेल बचे हुए लवण ही निक्षालित नहीं होते वरन् मृदा के भौतिक एवं रसायनिक गुणों में भी परिवर्तन होने लगता है।

2. **Na लवण के प्रकार–** कावदा एवं इवानोवा ने क्षारीय मृदाओं के विकास के संबंध में लवणों से संबंधित निम्न 6 कारकों का उल्लेख किया है –

(क) संचित होने वाले सोडियम लवण के प्रकार

(ख) $CaCO_3$ या $NaSo_4$ की उपस्थिति अनुपस्थिति तथा मृदा परिच्छेटिका (Soil profile) में इनकी स्थिति।

(ग) घूलित Ca^{++} या Na^{+} की या का अनुपात

(घ) सम्पूर्ण सान्द्रण

(ड़) निक्षालन की मात्रा

(च) ऐसी मृदाओं में उगने वाली वनस्पतियाँ।

इनके अनुसार सोलोनेज (क्षारीय) मृदाओं का निर्माण क्लोराइड सल्फेट एवं कार्बोनेट के धारण करने वाली सोलनचक (लवणीय) मृदा के कारण हुआ है एवं सल्फेट सोलनचक की अपेक्षा क्लोराइड सोलनचक से सोलोनेज मृदाओं का निर्माण शीघ्र होता है। क्लोराइड मृदाओं में यदि घुलनशील Ca^{++} तथा Na^{+} का अनुपात 1:9 हो तो सोलोनेज मृदाओं का निर्माण शीघ्र होता है। परन्तु सल्फेट सोलनचक मृदाओं के उपस्थित होने पर Ca^{++} एवं Na^{+} का अनुपात 1:18 होना ही प्रभावकारी होता है।

मृदा में जैसे-जैसे विनिमय की सान्द्रता बढ़ती जाती है घुलनशील लवणों की सान्द्रता में कमी होती जाती है तथा पी एच बढ़ता जाता है। इसलिए इन मृदाओं में घुलनशील लवणों की अधिक मात्रा नहीं पाई जाती। साधारणतया यह मात्रा 0.3-0.5 प्रतिशत तक होती है परन्तु कभी-कभी यह 1 प्रतिशत तक भी पहुँच जाती है। जाड़े एवं गर्मियों के मौसम में इन मृदाओं की सतह पर सफेद एवं कभी-कभी काले रंग की पपड़ी दिखलायी पड़ती है। सतह पर काले रंग की यह पपड़ी मांटमोरिल्लोंनाइट खनिज के गहरे ह्यू (hue) के कारण होती है। इस तरह मृदा को यदि हाथ में लेकर पानी मिलाया जाय तो साबुन जैसा अनुभव होता है।

क्षारीय मृदा बनने के वर्तमान अवधारणा के अनुसार मृदा जल में सोडियम (Na), कैल्सियम (Ca), क्लोराइड (CI), सल्फेट (SO_4), कार्बोनेट (CO_3), तथा बाईकार्बोनेट (HCO_3) होते है जो मृदा कलिल के साथ साम्य बनाए रहते है। मृदा जल में इन लवणों के सान्द्रण बढ़ने पर कैल्सियम कार्बोनेट, पहले अवक्षेपित हो जाता है क्योंकि इसकी घुलनशीलता सोडियम कार्बोनेट की अपेक्षा 100 कम होती है। अतः मृदा कलिल पर विनिमय सोडियम की अधिकता होने से मृदा का पी.एच. (>8.5) बढ़ जाता है तथा मृदा की भौतिक दशा अत्यन्त खराब हो जाती है। परिणामस्वरूप फसलोत्पादन अच्छी नहीं होती है।

ऊसर मृदाओं में उगायी जाने वाली फसलें

ऊसर मृदाओं में बुवाई करने हेतु सही फसलों का चुनाव करना अतिमहत्वपूर्ण होता है। फसल चुनाव करते समय यह ध्यान देना चाहिए कि चुनी जाने वाली फसल लवण के प्रति सहनशील हो। आजकल फसलों के बहुत-सी लवणसहनशील किस्में विकसित की जा चुकी हैं जिनसे ऊसर भूमि में भी उचित प्रबंधन के साथ उत्पादन लिया जा सकता है। लवण सहनशीलता के आधार पर फसलों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है जो तालिका-4 में दिया गया है।

ऊसर मृदा सुधार

केली (1951) के अनुसार किसी भी सुधार प्रणाली को स्थायी रूप से अपनाने से पूर्व निम्नलिखित तीन बातों पर ध्यान देना चाहिए–

1. भूमि को लवणीय एवं क्षारीय होने से बचाना।
2. क्षतिग्रस्त मृदाओं का भली-भाँति सुधार करना।
3. जड़ों के आस-पास से लवणों तथा क्षारों को यथासंभव दूर कर देना।

लवणीय मृदाओं के सुधारार्थ प्रचलित विधियों में मेड़बंदी, समतलीकरण, निक्षालन एवं जल निकास प्रमुख है, जिनमें अच्छे गुणों वाले जल का प्रयोग कर इन मृदाओं का सुधार सुगमता पूर्वक किया जा सकता है।

तालिका-3 लवण सहनशील फसलें

उच्च सहनशील फसलें	मध्यम सहनशील फसलें	संवेदनशील फसलें
धान	गेहूँ	मटर
गन्ना	सरसों	चना
जौ	मक्का	सेम
जई	बाजरा	चना
मेंथी	ज्वार	मूँगफली
लूर्सन	कपास	मूँग
ढैचा	अरण्डी	लेबिया
चुकंदर	बरसीम	

स्रोत : उप्पल एवं साथी (19610), एबोल एवं फरमैन (1977)

अति क्षारीय मृदाओं का सुधार करने में किसी उपयुक्त सुधारक का प्रयोग करना अत्यन्त आवश्यक होता है जो क्षार को उदासीन करने, विनिमय सोडियम को प्रतिस्थापित करने तथा मृत्तिका को संगठित करने के लिए घुलनशील Ca^{++} की पर्याप्त मात्रा उपलब्ध करा सके।

लवणीय मृदाओं की सुधार की विधि

मेड़बन्दी—इस विधि के अन्तर्गत खेत के चारों ओर मजबूत मेढ़ बनाये जाते हैं। तत्पश्चात उसमें पानी भर दिया जाता है अथवा वर्षा के पानी को एकत्र होने दिया जाता है जससे घुलनशील लवण घुल मृदा के निचली सतहों में चले जाते हैं। यदि ऊसर भूमि का पी एच मान 8.5 से नीचे हो तो सिर्फ इस विधि के प्रयोग से ही उसे सुधारा जा सकता है। खेतों में मेड़बंदी का कार्य गर्मियों (अप्रैल से जून) में जब जल स्तर पर्याप्त गहराई पर चला जाता है तथा खेत परती (खाली) रहता है कर देना सुविधाजनक एवं लाभप्रद होता है।

समतलीकरण—समतलीकरण ऊसर भूमि के सुधार का एक महत्वपूर्ण विधि है। यदि जमीन समतल नहीं है या उबड़-खाबड़ है तो

ऊसर भूमि में मेढ़ बनाकर धान की रोपाई

खनिज लवण या जैव पदार्थ कहीं-कहीं गड्ढों में एकत्रित हो जाते है। इस प्रकार एक उपजाऊ भूमि में जगह-जगह ऊसर भूमि बन जाती है जिसका सुधार बहुत कठिनाई से हो पाता है।

निक्षालन—इस विधि का प्रयोग लवणीय एवं क्षारीय दोनों प्रकार की मृदाओं में सुगमतापूर्वक किया जा सकता है। लवणीय मृदाओं में निक्षालन जल निकास का समुचित प्रबंध करने के तत्काल बाद ही किया जा सकता है, परन्तु क्षारीय मृदाओं में निक्षालन के पूर्व किसी सुधार (जैसे जिप्सम या पाइराइट्स) का प्रयोग करना अति आवश्यक होता है। संयुक्त राज्य लवणीय प्रयोगशाला में किये गये अपने अध्ययनों से बोवर एवं फारमैन (1957) इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जड़ों के आस-पास उपस्थित लवणों में से आधे लवणों को जड़ों से 30 सेमी. तक दूर करने के लिए लगभग 15 से.मी. जल की आवश्यकता होती है। निछालन क्रिया से फसलों के लिए आवश्यक अधिकांश पोषक तत्व जसे नाइट्रोजन, फॉस्फोरस एवं मैंगनीज की मृदा में कमी हो जाती है।

जल-निकास—जैसा कि हम जानते हैं मृदा में लवणों की उत्पत्ति में सबसे अधिक योगदान जल-निकास का अवरुद्ध होना है। अतः इन मृदाओं के सुधार एवं प्रबंध में जल निकास पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

क्षारीय मृदाओं का सुधार

क्षारीय मृदाओं के सुधार में प्रयुक्त होने वाले रसायनों में मुख्यतः जिप्सम, लौह गंधक (Iron Sulphat), पाइराइट्स, कैल्सियम क्लोराइट ($CaCl_2$), गंधक का अम्ल (H_2SO_4), गंधक (Sulphur) एवं एल्युमिनियम गंधक प्रमुख है। इसके अतिरिक्त बारीक चूना, पत्थर, चीनी मिलो से प्राप्त चूना आपंक (lime sluge), चूना, गंधक एवं लोहे के कारखानों से प्राप्त स्लैग या अल्म भी प्रयोग में लाये जा सकते हैं।

1. **जिप्सम**-जिप्सम घुलनशील कैल्सियम का एक अत्यन्त सस्ता स्रोत है। अतः इसका प्रयोग प्रायः सभी मृदाओं के लिए सुगमतापूर्वक किया जा सकता है। जिप्सम का प्रभाव भारी गठन, ऊँचे जल-स्तर तथा अधिक पी एच एवं विनिमेय सोडियम आयन वाली मृदाओं में सबसे अच्छा दिखता है। भारत में जिप्सम का प्रयोग सर्वप्रथम लीथर (भारतीय मृदा विज्ञान के पिता) ने सन् 1897 में किया। भुँभला एवं साथियों (1971) के अनुसार-औसतन 15-22.5 टन प्रति हेक्टेयर की दर से जिप्सम की प्रयोग, अधिकांश मृदाओं के लिए उत्तम होता है। अगर जिप्सम का प्रयोग 10 से.मी. की गहराई पर किया जाय तो इसका प्रभाव अच्छा पड़ता है।
2. **पाइराइट्स**-निम्न कोटि के पाइराइट्स में लौह 39-40 प्रतिशत एवं गंधक (सल्फर) 43-44 प्रतिशत पाया जाता है। जिसको मृदा में डालने पर ऑक्सीकरण के कारण गंधक एवं लौह-गंधक बनाते हैं

जो हवा और पानी से क्रिया करके गंधक का अम्ल (सल्फुरिक अम्ल) बनाते हैं। फिर सल्फुरिक अम्ल मृदा में उपस्थित कैल्सियम कार्बोनेट से क्रिया कर कैल्सियम सल्फेट बनाता है जो मृत्तिका अधिशोषित सोडियम आयन को हटाने का काम करता है। कैल्सियम सल्फेट से कैल्सियम अलग होकर सोडियम का स्थान ग्रहरण कर लेता है तथा विस्थापित सोडियम, सल्फेट के साथ मिलकर सोडियम सल्फेट बनाकर, पानी के साथ निक्षालित हो जाता है। इस प्रकार मृदा का सुधार हो जाता है। प्रो0 संत सिंह के देखरेख में वाराणसी जिले के किसानों के खेत में किये गये प्रयोगों ने प्रमाणित कर दिया है कि जिस ऊसर भूमि में पहले बीज अंकुरित तक नहीं होता था वहाँ पाइराइट डालकर अच्छी फसल उगाई गयी। डा0 मुंगला एवं डा0 एब्राल के 1971-72 में किये गये परीक्षणों से साबित हुआ है कि धान की खेती में पाइराइट्स का प्रयोग करने से 35 प्रतिशत तक फसलोत्पादन में वृद्धि देखी गयी। इन्हीं खेतों में बिना पाइराइट्स के प्रयोग से गेहूँ की फसल में भी 50 प्रतिशत की वृद्धि हुई। पाइराइट्स के प्रयोग हेतु मई के अंतिम सप्ताह या जून के प्रथम सप्ताह में (या सितंबर के अन्त या अक्टूबर के प्रथम सप्ताह में) खेत की एक जुताई करने के बाद उसे समतल करके, मजबूत मेड़ बना देनी चाहिए। तत्पश्चात, पाइराइट्स को खेत में बराबर बिखेर कर 10 से.मी. की गहराई तक मिट्टी में मिला देनी चाहिए और तुरन्त 5-7 से.मी. पानी भर देनी चाहिए। फिर जुलाई के प्रथम सप्ताह में धान की रोपाई करनी चाहिए या अक्टूबर के अंतिम सप्ताह या उसके बाद से गेहूँ की बुवाई करनी चाहिए

कार्बनिक सुधारक

लवणों से प्रभावित मृदाओं का सुधार कार्बनिक सुधारकों के प्रयोग से भी किया जाता है। कार्बनिक सुधारकों में मुख्य रूप से हरी खाद, गोबर की खाद, प्रेसमड़ फसलों के अवशिष्ट, धान की भूसी, जलकुम्भी इत्यादि आते है। इन कार्बनिक सुधारकों का प्रयोग अकेले अथवा दूसरे कार्बनिक एवं अकार्बनिक सुधरकों के साथ, दोनों रूपों में किया जा सकता है। इन सुधारकों का प्रभाव फसलों की जाति एवं किस्म पर भी निर्भर करती है।

सावधानियाँ

1. ऊसर भूमि का सुधार करने के लिए खेत समतल होना चाहिए।
2. अगर सम्भव हो तो इनमें अम्लीय उर्वरकों का प्रयोग करना चाहिए।
3. धान की खेती के लिए हमेशा संस्तुत प्रजातियों जैसे– साकेत-4, ऊसर धान-1, सी.एस.आर-10, झोना-349, जया इत्यादि का चुनाव क्षारीय मृदाओं के लिए तथा सरजू-52, आई.आर.-8 और जया का चुनाव लवणीय मृदाओं के लिए करनी चाहिए।
4. धान की नर्सरी ऊसर भूमि में तैयार नहीं करनी चाहिए। नर्सरी हमेशा सामान्य अच्छी भूमि में तैयार करनी चाहिए।
5. पहले साल धान के खेत में कीचड़ नहीं करनी चाहिए अर्थात् रोपाई के समय खेत में पानी भर कर देशी हल या कल्टीवेटर से जुताई करके बगैर पाटा लगाये 30 से 35 दिन के पौधों की रोपाई करनी चाहिए।
6. धान की रोपाई 3-4 से.मी. की गहराई पर करना चाहिए।
7. चुनी गई प्रजातियों की रोपाई सही समय पर अर्थात् ऊसर धान-1, एवं सी.एस.आर.-10, की रोपाई 10 जुलाई, साकेत-4 की रोपाई 30 जुलाई तक अवश्य सम्पन्न करा लेनी चाहिए।
8. एक स्थान पर धान के 3-4 पौधे लगाना चाहिए। यदि किसी कारणवश किसी स्थान पर पौधे मर गये हो तो वहाँ उसी आयु के पौधों का पुनः रोपण करना चाहिए।
9. ऊसर मृदाओं में नत्रजन का प्रयोग सामान्य मात्रा से 15 से 25 प्रतिशत बढ़ाकर करनी चाहिए तथा पोटाश का प्रयोग रोपाई से पूर्व खेत में करनी चाहिए। इन मृदाओं में सुधार के प्रथम 2 से 3 सालों तक फॉस्फोरिक उर्वरकों की आवश्यकता नहीं होती परन्तु मृदा में इसकी कमी हो तो संतुलित मात्रा में इनका भी प्रयोग करना चाहिए। ऊसर मृदाओं में जिंक की कमी होती है अतः रोपाई के समय 25 कि.ग्रा. जिंक सल्फेट प्रति हेक्टर की दर से प्रयोग करनी चाहिए। यदि इसके बाद भी खैरारोग का प्रकोप खेत में दिखायी दे तो 5 कि.ग्रा. जिंक सल्फेट तथा 20 कि.ग्रा. यूरिया 1000 लीटर पानी में घोल कर 10 से 15 दिनों के अन्तराल पर 2 से 3 बार पौधों पर छिड़कना चाहिए।
10. धान में कटाई के तुरन्त बाद खेत को रबी फसल के लिए तैयार करना चाहिए।
11. गेहूँ की फसल में सिंचाई की संख्या बढ़ा देनी चाहिए अर्थात् हल्की सिंचाई कई बार करनी चाहिए।
12. सुधार की हुई भूमि परती नहीं छोड़नी चाहिए।
13. भूमि को सुखने से बचाना चाहिए।

नील गायों से बचायें अपनी फसल

विजय चित्तौरी*

फसल नष्ट करते नीलगाय

नीलगायों द्वारा फसलों को नष्ट करना वर्तमान समय में खेती बारी की लाइलाज समस्या है। इससे देश को कितनी क्षति हो रही है, इस पर कोई विधिवत अध्ययन नहीं हुए हैं। लेकिन इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि फसलों को जितना नुकसान कीड़े-मकोड़ों और बीमारियों से हो रहा है उससे कहीं ज्यादा नुकसान नीलगायों से हो रहा है।

नीलगाय घोड़े की आकृति जैसा तथा उसी तरह के डीलडौल वाला जानवर है। इसे हिन्दी में नीलगाय, रोज, घड़रोज, बनरोज तथा रोजरा जैसे स्थानीय नामों से पुकारा जाता है। अंगेजी में इसे ब्लू बुल (Blue Bull) कहते हैं। इसका जन्तु वैज्ञानिक नाम *बोसेलैफस ट्रोगोकैमलस (Boselaphus trogocamelus)* है। यह भारतीय प्रायद्वीप में हिमालय की तलहटी से लेकर मैसूर तक पाया जाता है। किन्तु पूर्वी बंगाल, असम और मालावार तटों पर नहीं पाया जाता।

नीलगाय में 'गाय' शब्द जुड़ा होने से आमतौर पर लोग इसे गोवंश से संबंधित मानते हैं। लेकिन ऐसा नहीं है। नीलगाय की निकटता गोवंश की अपेक्षा मृगवंश (एन्टीलोप) से अधिक है। इसमें 'गाय' शब्द कहाँ से आ गया, संभवतः इसके अंग्रजी नाम Blue Bull है। Blue का अर्थ 'नीला' तथा Bull का अर्थ 'साड़' होता है। इस तरह लोग इसे नीला साड़ के बजाय नीलगाय कहने लगे होंगे।

नीलगाय वास्तव में वन्य जीव है और इसका मूल स्थान जंगल ही है। लेकिन जंगलों के लगातार विनाश के कारण यह आवादी वाले क्षेत्रों में फैल गया है। यह अपना आवास नदी-नालों के किनारे झाड़ियों और बीहड़ों में बनाता है। दिन के समय इसके झुण्ड उन्हीं स्थानों पर विश्राम करते हैं और रात में ये आबादी की ओर निकल पड़ते हैं।

नर नीलगाय

मादा नीलगाय

नीलगाय भारी डील डौल वाला जानवर है। इसकी लम्बाई करीब सात फुट तथा उँचाई पाँच फुट होती है। सींग केवल नर नीलगाय में होती है। सींग हिरन की तरह ठोस होती है और इसकी लम्बाई 8 से 15 सेन्टीमीटर तक होती है। नर जंगली नीलगायों का वजन करीब 1000 किलोग्राम तक तथा ग्रामीण आबादी के आसपास रहने वालों का करीब

*संपादक, 'नई आवाज', विज्ञान परिषद प्रयाग, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद – 211 002.

700 किलोग्राम तक होता है। मादाएँ नर की अपेक्षा कुछ छोटी होती हैं और इनका वजन भी कम होता है। इनके दोनों अग्र पैर बड़े और पीछे वाले कुछ छोटे होते हैं। इसके कारण इसका शरीर आगे से पीछे की ओर ढ़लाननुमा होता है। नर नीलगाय के शरीर का अगला हिस्सा नीलापन लिए गहरे धूसर रंग का तथा पिछला हिस्सा भूरे रंग का होता है। मादा का पूरा शरीर भूरे रंग का होता है।

उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड, मध्य प्रदेश तथा तराई के क्षेत्रों में नीलगायों का आतंक सबसे ज्यादा है। ये 5-10 से लेकर 20-25 के झुण्ड में निकलते हैं। फसल कोई भी हो उसे खाने में इन्हें परहेज नहीं है। सब्जियों की खेती पर इनका हमला बहुत ज्यादा होता है। झुण्ड यदि एक बार खेत में घुस गया तो सारी फसल चौपट हो जाती है। जितना ये फसल को खाकर नष्ट नहीं करते उससे ज्यादा कुचल कर बर्बाद करते हैं। मादा नीलगाय का गर्भावस्था काल 9 माह का होता है और यह एक बार में एक बच्चे को जन्म देती है।

गोवंश नहीं हिरन वंश से संबंधित

नीलगाय में 'गाय' शब्द जुड़ा होने से इसके प्रति भ्रम की स्थिति पायी जाती है। आमतौर पर इसे गाय की प्रजाति मान कर लोग इसको न स्वयं मारते हैं और न मारने देते हैं। लेकिन असलियत यह है कि गोवंश से इसका कोई लेना देना नहीं है। इसकी शारीरिक विशेषताएँ हिरन के ज्यादा करीब बैठती है। नीलगायों की ये कुछ विशेषताएँ हैं जो इन्हें गायों से अलग करती हैं :

1. गाय में नर-मादा दोनों में सींग होती है। लेकिन नीलगायों में केवल नर में सींग होती है, मादा में नहीं। इसकी सींग ठोस होती है, अर्थात् सींग के ऊपर किसी प्रकार का खोल नहीं रहता। जबकि गोवंश की सींग में खोल होता है।
2. गाय में चार थन होते हैं, जबकि मादा नीलगायों में केवल दो थन होते हैं।
3. गायों के खुर बीच से फटे होते हैं, जबकि नीलगायों के खुर फटे न होकर घोड़े के समान बंधे होते हैं।
4. गाय का गोबर गोल टुकड़ों में नहीं होता, जबकि नीलगायों का गोबर बकरियों की तरह गोल-गोल लेड़ी के रूप में होता है।

मादा नीलगायों का झुण्ड

रोकथाम

नीलगायों से फसल की सुरक्षा बहुत मुश्किल काम है। किसान इसके लिए कई उपाय अपनाते हैं जो थोड़े बहुत कारगर भी होते हैं। कुछ किसान खेत के चारों तरफ कंटीले तार लगवाते हैं। यह बहुत खर्चीला उपाय है जिसे आम किसान वहन नहीं कर सकता। कुछ किसान खेत में लालटेन या बिजली का बल्ब जला देते हैं। रोशनी से नीलगाय भागते हैं। खेत के चारो तरफ करौंदे की बाड़ लगायी जा सकती है। नीलगायों का शिकार भी एक उपाय है, लेकिन आम जनमानस इसकी अनुमति नहीं देता। सरकार भी इसकी अनुमति नहीं दे सकती, क्योंकि वन्य जीव होने के कारण इसकी हत्या प्रतिबंधित है। पतंजलि संस्थान की बुलेटिन के अनुसार नीलगायों से खेतों को बचाने के लिए फिनायल का उपयोग किया जा सकता है। उनका दावा है कि यह उपाय सौ प्रतिशत कारगर है। नीलगायों की समस्या से निजात के लिए लेखक का सुझाव है कि नर नीलगायों का वन्ध्याकरण अभियान चलाया जाना चाहिए। लेकिन यह इतना आसान भी नहीं होगा, क्योंकि नीलगाय हिरन की तरह ही बहुत तेज भागते हैं। इसके लिए उन क्षेत्रों में विभाग के कर्मचारियों की टीमें गठित की जानी चाहिए जहाँ नीलगायों की समस्या बहुत अधिक है। इसके अतिरिक्त उन्हें बेहोश करने वाली गोली मारकर तथा तत्काल उनकी नसबंदी करके छोड़ दिया जाना चाहिए। इस पूरे अभियान पर आया खर्च फसल बर्बादी से होने वाली क्षति की अपेक्षा बहुत कम होगी।

वैक्यूम क्लीनर से सफाई दे सकती है एलर्जी

घर की साफ-सफाई जरूरी है, परन्तु इससे बीमार होने का खतरा भी होता है। यूनिवर्सिटी ऑफ क्वींसलैंड और क्यूबेक स्थित लावल विश्वविद्यालय के शोधकर्ताओं की टीम का कहना है कि वैक्यूम क्लीनर से धूल निकल कर हवा में फैल जाती है। एलर्जी फैलाने वाले जीवाणु और धूल साँस के साथ शरीर में पहुँच कर गंभीर समस्या पैदा कर सकते हैं। आस्ट्रेलियाई शोधकर्ताओं के एक दल के अनुसार इससे रोगकारी जीवाणु के हवा में पहुँचने का खतरा बढ़ जाता है। प्रयोग के दौरान इन्हें वैक्यूम क्लीनर में मिली गर्द में दवारोधी जीवाणु और शिशुओं को बीमार बनाने वाले बोटुलिज्म के संक्रमण के वाहक मिले।

ग्रामीण क्षेत्रों में बटेर पालन से लाभ

डॉ0 राज नारायन, डॉ0 निरंजन लाल एवं डॉ0 एम.पी. सागर*

बटेर पालन

आजकल भारतवर्ष में 32 मिलियन जापानी बटेर का व्यावसायिक पालन हो रहा है। दुनिया में आज जापानी बटेर पालन में भारतवर्ष का माँस उत्पादन में पाचवाँ स्थान तथा अण्डा उत्पादन में सातवाँ स्थान है। व्यावसायिक मुर्गी पालन चिकन फार्मिंग के बाद बत्तख पालन और तीसरे स्थान पर जापानी बटेर पालन का व्यवसाय आता है।

भारतवर्ष में सन् 1974 में जापानी बटेर सर्वप्रथम यू.एस.ए. पशु विज्ञान विभाग कैलिफोर्निया डैविस से लाई गयी थी तथा कुछ वर्षों के बाद में जर्मनी और प्रजातांत्रिक कोरिया (साउथ कोरिया) से लाया गया था। बताते चलें कि ब्रिटेन में जितने उपनिवेश देश थे उन्ही देशों में यू.एन.डी.पी. के सहयोग से परम्परागत चिकन फार्मिंग के लिए विकल्प के रूप में (विविधीकरण में) जापानी बटेर का जननद्रव्य उपलब्ध कराया गया जैसे कि भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश, बांग्लादेश मैसीडोनिया, इजिप्त, सूडान इत्यादि।

भारतवर्ष में जब इन जापानी बटेर के अण्डे को प्राप्त किया गया था तब इनका वजन 7-8 ग्राम तथा चूजों का शारीरिक भार 70-90 ग्राम पाँच सप्ताह में तथा प्रस्फुटन 35-40 प्रतिशत था। करीब-करीब 38 वर्षों के अन्तराल के बाद सघन व वृहत रूप से शोध व उन्नयन के कार्य किये गये हैं। जिसका परिणाम यह हुआ कि आज छः विभिन्न पंखों के रंगों के माँस व अण्डा उत्पादन के लिए शारीरिक भार 130-250 ग्राम पाँच सप्ताह में तथा 240-305 अण्डे प्रतिवर्ष देने वाली प्रजातियों का विकास किया गया है। हमारा अभिप्राय है कि वैज्ञानिकों के अथक प्रयत्न के बाद इनके रख-रखाव का प्रबन्धन इत्यादि का साहित्य विकसित किया गया तथा धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारतवर्ष में उन्नयन जननद्रव्य पहुँचाया गया। चाहे वह निषेचित अण्डों या जिन्दा बटेरों के रूप में दिया गया हो।

हम अपने कुक्कुट पालकों को बताते चलें कि बटेर पालन आजकल के परिवेश में ग्रामीण व्यवस्था में श्रेष्ठतम व्यावसायिक पालन की श्रेणी में आता है जिन्हें निम्न बिंदुओं से भली-भाँति समझा जा सकता है :

1. व्यावसायिक बटेर पालन में टीकाकरण कि आवश्यकता नहीं है तथा बीमारियाँ न के बराबर होती हैं।
2. 6 सप्ताह (42 दिनों) में अण्डा उत्पादन शुरू कर देती हैं जबकि कुक्कुट पालन (अण्डा उत्पादन की मुर्गी) में 18 सप्ताह (120 दिनों) के बाद अण्डा उत्पादन शुरू होता है।
3. बटेरों को घर के पिछवाड़े में नहीं पाला जा सकता है। हमारा आशय है कि यह तीव्र गति से उड़ने वाला पक्षी है, अतः इसकी व्यवस्था बन्द जगह में ही की जा सकती है।
4. ये तीन सप्ताह में बाजार में बेचने के योग्य हो जाते हैं।
5. जापानी बटेर के अण्डों की पौष्टिकता मुर्गी के अण्डों से कम नहीं होती है।
6. गाँव में बेरोजगार युवक व महिलायें घर में 100 बटेरों को एक पिंजड़े में जिसकी लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई - $2.5 \times 1.5 \times 0.5$ मीटर हो, आसानी से रखे जा सकते हैं। अण्डा उत्पादन करने वाली एक बटेर एक दिन में 18 से 20 ग्राम दाना खाती है जबकि माँस उत्पादन करने वाली एक बटेर एक दिन में 25 से 28 ग्राम दाना खाती है। पाँच सप्ताह की उम्र तक एक किलो ग्राम मांस पैदा करने के लिए 2.5 किलो ग्राम दाना कि आवश्यकता पड़ती है, साथ ही एक किलोग्राम अण्डा उत्पादन के लिए करीब 2 किलो ग्राम दाना कि आवश्यकता पड़ती है।

7.बटेर का अण्डा वजन में 8-14 ग्राम में पाया जाता है जो कि 60 पैसे से लेकर 2 रुपये तक बाजार में आसानी से मिल जाता है तथा एक अण्डा उत्पादन में मात्र 30 पैसे

*केन्द्रीय पक्षी अनुसंधान संस्थान, इज्जतनगर, बरेली–243 122.

दाना खर्च तथा 10 पैसा मानव श्रम व अन्य खर्चे लगते हैं। अतः 40 पैसा प्रति अण्डा उत्पादन में खर्च आता है। प्रतिदिन एक महिला आधा घण्टा सुबह तथा आधा घण्टा शाम को समय देकर 50-100 रुपये प्रतिदिन 100 मादा बटेरों को रखने से कमाए जा सकते हैं तथा परिवार के लिए पौष्टिक आहार व कुछ मात्रा में प्रोटीन खनिज लवण और विटामिन्स मिलते हैं।

मूल्य 40-70 रुपये प्रति पक्षी मिल जाता है। अतः गाँव के बेरोजगार युवक और युवतियों द्वारा मात्र एक घण्टा सुबह और शाम देने से 2500-4000 रुपये प्रति माह अपने खेती-वाड़ी के क्रियाकलापों के साथ-साथ जापानी बटेर का उत्पादन कर प्राप्त कर सकते हैं।

10. ग्रामीण क्षेत्रों के लिए उचित जननद्रव्य केंद्रीय पक्षी अनुसंधान संस्थान में उपलब्ध है। संस्थान द्वारा विकसित विभिन्न पंखों के रंगों की बटेरों की बहुतायत मात्रा में माँग है, जैसा कि सारणी में दर्शाया गया है।

कुक्कुट पालकों को जापानी बटेर की फार्मिंग के लिए एक लाइसेंस की आवश्यकता होती है। ये सभी को मालूम है कि भारतवर्ष में सर्वप्रथम बटेरों के प्रजनन, सम्वर्द्धन, रख-रखाव तथा व्यावसायिक स्तर पर प्रचारित करना तथा तकनीकी जानकारी उपलब्ध कराना इत्यादि केंद्रीय पक्षी अनुसंधान संस्थान, इज्जतनगर के सौजन्य से ही सम्भव हो पाया है। समय-समय पर भारत सरकार ने तथा प्रांतीय सरकारों ने व्यावसायिक बटेरों के उत्पादन के लिए लाइसेंस निर्गत किए थे। अतः 2011 सितम्बर माह में नये लाइसेंस देने के लिए पर्यावरण मंत्रालय के द्वारा शासनादेश

क्रम सं.	विकसित करने का वर्ष	प्रजातियाँ	पंखों का रंग	5 सप्ताह में शारीरिक भार	वार्षिक अण्डा उत्पादन	अण्डे का वजन	हैचिंग प्रतिशत
1.	1980-81	कैरी पर्ल	जंगली/फरोह	140 ग्राम	305	09 ग्राम	80
2.	1998-99	कैरी उत्तम	जंगली/फरोह	250 ग्राम	260	14 ग्राम	75
3.	1999-02	कैरी उज्जवल	सफेद गलकम्बल	180 ग्राम	220	12 ग्राम	70
4.	2001-02	कैरी स्वेता	सम्पूर्ण सफेद	175 ग्राम	205	10 ग्राम	72
5.	2003-04	कैरी ब्राउन	सम्पूर्ण ब्राउन	180 ग्राम	210	11 ग्राम	65
6.	2010-11	कैरी सुनहरी	आधी ब्राउन आधी सफेद	185ग्राम	200	12 ग्राम	65

8. प्रथम दो सप्ताह इनके लालन पालन में बहुत ध्यान देना होता है जैसे कि 24 घण्टे रोशनी, उचित तापमान, बन्द कमरा तथा दाना पानी इत्यादि। तीसरे सप्ताह से तन्दूरी बटेर व अन्य मांस और अण्डे के उत्पाद बनाकर नकदीकरण किया जा सकता है।
9. एक ग्रामीण बेरोजगार युवक व महिला मात्र 200 बटेरों की रखने कि व्यवस्था कर लेता है तो इनके रखने के स्थान की आवश्यकता लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई $3 \times 2 \times 2$ मीटर जगह कि आवश्यकता होती है और प्रति पक्षी 18-25 रुपये लागत आती है तथा बाजारी

निर्गत हुआ। साथ ही जून 2012 में पर्यावरण मंत्रालय ने शासनादेश से भी मुख्य वन संरक्षण अधिकारियों, प्रांत तथा केंद्र शासित राज्यों के लिए आदेश दिए कि जिनके पुराने लाइसेंस हैं, उन्हें पुनः लाइसेंस दिए जाए तथा नये लाइसेंस पर फिलहाल रोक लगी रहेगी। इसके साथ ही साथ मंत्रालय ने उच्च स्तरीय कमेटी बनाई है। करीब-करीब छः उच्च न्यायालयों में व्यावसायिक बटेर पालन सम्बंधित प्रांत व केन्द्र सरकार बनाम विभिन्न पार्टियों की विवादें आधीन हैं।

गुणकारी एवं स्वास्थ्यवर्धक फल पपीता

डॉ0 देवेश कुमार गुप्त*

प्रकृति हम सभी को स्वस्थ एवं निरोग बनाए रखना चाहती है इसलिए उसने अपने अद्भुत खजाने में से हमें अनेक उपयोगी फल, फूल एवं सब्जियाँ प्रदान की है। इन्हीं में से एक फल पपीता है जो अमृततुल्य है क्योंकि स्वास्थ्यवर्धक होने के साथ-साथ यह अनेक रोगों को ठीक करता है। पपीता उष्ण कटिबन्धीय जलवायु में पैदा होने वाला पौधा है। यह सर्वप्रथम उत्तरी अमेरिका एवं दक्षिणी अमेरिका और मैक्सिको देशों में उपजाया गया था वहीं से इसका प्रसार विश्व के अन्य देशों में हुआ। पपीता अनेक नामों से जाना जाता है। अंग्रेजी में इसे पपाया कहते हैं तथा इसका वानस्पतिक नाम *केरिका पपाया* है और यह कैरिकेसी कुल का सदस्य है। इग्लैण्ड के कुछ भागों में पपीता सेन्ट इग्नेशियस बीन के नाम से भी जाना जाता है। भारत में सर्वप्रथम 16वीं शताब्दी में पुर्तगाली इसे यहाँ पर लाये थे। उन्होंने ही सबसे पहले केरल प्रान्त के कालीकट के वन क्षेत्रों में इसके बीजों को बो करके पौधे तैयार किये थे। फिलीपीन एवं चीन में पपीता की पैदावार बड़ी मात्रा में की जाती है क्योंकि इन देशों में पपीते की फसल को नगदी फसल (क्रैश क्राप) के रूप में उगाया जाता है। आजकल फिलीपीन्स के पपीते के बीज श्रेष्ठतम माने जाते हैं तथा विश्व में फिलीपीन्स, पपीते के उन्नत बीजों के लिये अच्छा निर्यातक देश है। पपीता को बलुई दोमट एवं दोमट मिट्टी, दोनों में ही उगाया जा सकता है। अलग-अलग देशों में पपीते की कई प्रजातियाँ पायी जाती हैं जो अपने स्वाद, रंग, गंध, आकार में अलग-अलग होती हैं। आजकल टिश्यू कल्चर तकनीक से ऐसा पपीता भी पैदा किया जा चुका है जिनमें बीज नहीं होते हैं। हमारे देश में पपीते की मुख्य तीन प्रजातियाँ पायी जाती हैं- देशी, पहाड़ी तथा कैरेबियन, जिसमें देशी और पहाड़ी पपीता ज्यादा उगाया जाता है। दक्षिणी भारत में लाल रंग के गूदेवाला बड़ा पपीता उगाया जाता है जो देशभर में बिक्री के लिये आजकल सर्वत्र उपलब्ध रहता है। उत्तरी भारत में तापक्रम का उतार-चढ़ाव अधिक होता है अतः उभयलिंगी फूल वाली किस्में उत्पादन नहीं दे पाती हैं। कोयम्बटूर 1, पंजाब स्वीट, पूसा डेलिसियस, पूसा मेजस्टी, पूसा जांएट, पूसा ड्वार्फ, पूसा नन्हा (म्यूटेंट) आदि किस्में जिनमें मादा फूलों की संख्या अधिक होती है, और उभयलिंगी होते हैं, ये उत्तरी भारत में काफी सफल हैं। हवाई की 'सेलो' किस्म जो उभयलिंगी और मादा पौधे होते हैं, उत्तरी भारत में इसके फल छोटे और निम्नकोटि के होते हैं।

पपीता एक सर्वसुलभ फल हो गया है क्योंकि यह बहुत जल्दी पनपता है। इसकी अच्छी पैदावार होती है, इसके फल लम्बे समय तक प्राप्त होते रहते हैं, तथा फलों की पोषण (पोषक क्षमता) गुणवत्ता उच्चकोटि की होती है। इस प्रकार हरे पपीतों की सब्जी, फ्रूट प्रोसेसिंग, पपैन उत्पादन पपीते के कच्चे फलों से प्राप्त होता है। इन कारणों से पपीते की फसल उच्च मुनाफा प्रदान करने वाली क्रैश क्राप हो गयी है। पपीते के पेड़ नर और मादा अलग-अलग होते हैं जिनमें नर एवं मादा फूल खिलते हैं लेकिन पपीते के कुछ उभयलिंगी पौधे भी होते हैं जिनमे दोनों ही प्रकार के फूल खिलते हैं।

पपीते की उगायी जाने वाली कुछ प्रमुख किस्में

पूसा डोलसियरा : यह अधिक उपज देने वाली पपीते की गाइनोडाइसियश प्रजाति है जिसमें मादा और नर-मादा दो प्रकार के फूल एक ही पौधे पर आते हैं। पके फल का स्वाद मीठा तथा आकर्षक सुगंधयुक्त होता है।

पपीते का नर एवं मादा पौधा

पूसा मेजेस्टी : यह भी एक गाइनोडाइसियश प्रजाति है। इसकी उत्पादकता अधिक होती है तथा भण्डारण क्षमता भी अधिक होती है।

पूसा जाएंट : यह बहुत अधिक वृद्धि वाली नस्ल है।नर तथा मादा फूल अलग-अलग पौधों पर पाये जाते हैं। इसके पौधे अधिक मजबूत तथा तेज हवा से गिरते नहीं हैं।

पूसा ड्वार्फ : यह छोटी बढ़वार वाली डायसियश किस्म है जिसमें नर तथा मादा फूल अलग-अलग पौधों पर आते हैं। फल मध्यम तथा चपटे आकार वाले होते हैं।

पूसा नन्हा : पपीते की इस प्रजाति के पौधे बहुत छोटे होते हैं तथा यह गृहवाटिका के लिये अत्यन्त उपयोगी है। साथ-साथ यह बागवानी के लिये भी अच्छी किस्म है।

कोयम्बटूर - 1 : इसका पौधा छोटा तथा डायसियश होता है। फल मध्यम आकार के तथा गोलाकार होते हैं।

*वरिष्ठ परियोजना अधिकारी, हिन्दी प्रकाशन समिति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी – 221 005.

कोयम्बटूर - 3 : यह एक गाइनोडाइसियश प्रजाति है। पौधा लम्बा मजबूत तथा मध्यम आकार का फल देने वाला होता है। इसके पके फलों में शर्करा की मात्रा अधिक पायी जाती है। इसका गूदा लाल रंग का होता है।

हनीड्यू (मधु बिन्दु) : इस प्रजाति में नर पौधों की संख्या कम होती है तथा बीज के प्रकरण में अधिक लाभदायक होता है। इसका फल मध्यम आकार का बहुत मीठा तथा खुशबू लिये होता है।

कूर्गहनिडयू : यह गाइनोडाइसियश प्रजाति है जिसमें नर पौधे नहीं होते हैं। फल का आकार मध्यम तथा लम्बवत गोलाकार होता है। गूदे का रंग नारंगी-पीले रंग लिये होता है।

इनके साथ-साथ वाशिगंटन तथा पन्त पपीता-1 जैसी किस्में भी अच्छी फसल देती हैं।

पपीते में पाये जाने वाले पोषक तत्व एवं फाइटोकेमिकल्स :

पपीता का फल अनेक पोषक तत्वों का अच्छा स्रोत है। इसमें निम्न तत्व पाये जाते हैं :

पानी	86.60 प्रतिशत
कार्बोहाइड्रेट	9.50 प्रतिशत
खनिज लवण	0.40 प्रतिशत
कैल्शियम	0.01 प्रतिशत
प्रोटीन	0.50 प्रतिशत
फास्फोरस	0.01 प्रतिशत
खनिज पदार्थ	0.40 प्रतिशत
ईथर विचूर्ण	0.10 प्रतिशत

इसमें कैरोटीन, विटामिन सी, फोलेट, फाइबर, फाइटोकेमिकल्स, विटामिन 'ए' सहित लाइकोपीन और पोलीफिनोल्स भी पाये जाते हैं

पपीता फल (लाल गूदे वाला)

जिससे पपीते की आहार गुणवत्ता कई गुना बढ़ जाती है। पपीते में उच्च मात्रा में पोटैशियम तत्व भी पाया जाता है। इसके नियमित प्रयोग से कब्ज रोग का निदान हो जाता है। इसमें पाये जाने वाले पपैन का हमारे शरीर के पाचन संस्थान को चुस्त-दुरुस्त रखने में बड़ा ही योगदान रहता है। पपीते का रस नियमित पीने से बड़ी आंत की सफाई होती है और उसमें स्थित संक्रमण, श्लेष्मा और पीप का निष्कासन होने लगता है। ऐसे घाव जो अन्य दवाओं से ठीक नहीं होते हैं उन पर पपीते का छिलका कुछ दिनों तक लगातार लगाने से अच्छे परिणाम मिलते हैं। पपीते में सूजन विरोधी और कैंसर से बचाने के गुण मौजूद हैं इसलिए यह उन लोगों के लिये अत्यधिक फायदेमन्द है जो शोथ, संधिवात, गठिया रोगों से पीड़ित रहते हैं।

पपीता फल (पीले गूदे वाला)

पपीता उन लोगों के लिये भी अमृत समान है जो हमेशा सर्दी, जुकाम, खाँसी, फ्लू आदि से बार-बार परेशान रहते हैं। पपीते का उपयोग करने से हमारे शरीर की रोग प्रतिरोधी क्षमता (इम्यून सिस्टन) मजबूत होती है। धमनियों के कठोर होने के दोष का निवारण करने में पपीता अत्यन्त हितकारी है। पपीता का रेशा खराब कोलेस्ट्रोल का स्तर घटाने में सहायक होता है और इस प्रकार यह हृदय की सुरक्षा करता है। इसके नियमित सेवन से शरीर के अंगों और ग्रन्थियों में कैंसर की रोकथाम और बचाव होता है। पपीते, पेट के तीन प्रमुख रोगों कफ, वात और पित्त से राहत पहुँचाता है। पपीते में बड़ी मात्रा में विटामिन 'ए' पाया जाता है जिसके कारण यह आँखों और त्वचा के लिये बहुत ही अच्छा माना जाता है। पपीते में कैल्शियम भी अच्छी मात्रा में पाया जाता है इससे हमारे शरीर की हड्डियाँ भी मजबूत रहती हैं। पपीता के सेवन से हमारे बाल भी स्वस्थ रहते हैं तथा उनमें खुश्की पैदा नहीं होती है। पपीता खूनी बबासीर में भी बहुत लाभकारी साबित हुआ है। पपीते के कच्चे फलों से पपेन तैयार किया जाता है जिसका सौन्दर्य जगत में तथा उद्योग जगत में व्यापक उपयोग हो रहा है।

पपीते के पत्ते, कच्चे पपीते तथा पके हुए पपीते के फल, हमारे शरीर में होने वाले विभिन्न प्रकार के रोगों के उपचार में अत्यधिक कारगर एवं उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। इनके सेवन या उपयोग से जहाँ निरोगी बने रहना आसान है वहीं कुछ जटिल रोगों के उपचार में इनका प्रयोग बहुत ही लाभकारी सिद्ध हुआ है।

पपीते की खेती

हृदय रोग में पपीते के पत्तों का काढ़ा बनाकर प्रतिदिन पीने से हृदय का रोग ठीक होता इसके सेवन से घबराहट दूर होती है। पपीते के गूदे को लेकर के मथ लें और इसकी 100 ग्राम मात्रा में 2 लौंग का चूर्ण मिलाकर सेवन करने से हृदय की धड़कन सामान्य होती है। उच्च रक्तचाप से पीड़ित रोगियों को प्रतिदिन पपीता सेवन करना चाहिए। पपीता का रस एक कप, गाजर तथा संतरे का रस आधा-आधा कप और तुलसी व लहसुन का रस दो-दो चम्मच, इन सभी को मिलाकर कुछ दिनों तक दिन में दो बार सेवन करने से उच्च रक्तचाप सामान्य होने लगता है।

मधुमेह पपीता, कत्था, खैर (चूना) व सुपारी का काढ़ा बनाकर पीने से काफी लाभ होता है। 20 ग्राम पपीता, 5 ग्राम कत्था व सुपारी मिलाकर कूटकर इसका काढ़ा बनाकर सेवन करने से मधुमेह रोग ठीक होता है।

हैजा में पानी अथवा गुलाब जल में पपीता घिसकर चटाने से हैजा के रोगी को फायदा पहुँचता है।

खून की कमी (रक्ताल्पता) में पपीता का गूदा 200 ग्राम की मात्रा में लगातार 20 दिनों तक प्रतिदिन खाने से शरीर में खून की कमी दूर होती है।

गुर्दे की पथरी में 6 ग्राम पपीते की जड़ को पीसकर 50 ग्राम पानी में घोल 21 दिनों तक सुबह-शाम पीने से गुर्दे की पथरी गलकर निकल जाती है।

पेट दर्द में पपीता में काली मिर्च, नींबू का रस और सेंधा नमक डालकर खाने से कब्ज (गैस) के कारण होने वाले उदर (पेट) के दर्द में बहुत लाभ होता है। इसी प्रकार नींबू के रस में चीनी मिलाकर पीने से भी पेट का दर्द दूर होता है।

यकृत (जिगर) के रोग में पपीते के बीजों को सुखाकर बारीक चूर्ण बनाकर उसकी 3 ग्राम मात्रा में आधा नींबू का रस मिलाकर दिन में दो बार सेवन करने से यकृत की बीमारी में फायदा होता है। कच्चे पपीते का रस दो चम्मच तथा उसमें चीनी मिलाकर लेने से यकृत और प्लीहा के रोग में आराम मिलता है। 10 ग्राम कच्चे पपीते के दूध (पपेन) में चीनी मिलाकर दिन में 3 बार सेवन करने से यकृत (लीवर) का बढ़ना रोग ठीक होता है।

जोड़ों एवं माँसपेशियों के दर्द को दूर करने हेतु पपीते के हरे पत्तों को गरम करके, चिकने भाग की तरफ से बाँधने या सिकाई करने से इनका दर्द ठीक होने लगता है। इसी प्रकार हड्डी टूटने पर पपीते का एक कप रस, आधा कप गाजर का रस और आधा कप आँवले का रस मिला करके दिन में दो बार पीने से हड्डी का टूटना ठीक होने लगता है तथा दर्द में आराम मिलता है।

चेहरे का रंग निखारने के लिये एक कप पपीता का रस एवं एक कप अमरूद का रस मिलाकरके दिन में 2 बार पीने से कुछ ही दिनों में चेहरे पर चमक आ जाती है। इसी प्रकार पपीते का रस, गाजर का रस और आधी मात्रा में पालक का रस मिलाकर दिन में 2 बार सेवन करने से त्वचा के सभी रोग ठीक होने लगते हैं।

सौन्दर्य निखारने में पपीता का उपयोग : आजकल पपीते का उपयोग सौन्दर्य को निखारने में खूब किया जाता है। इस हेतु पके पपीते को छीलकर पीस ले और इसे चेहरे पर लगायें, इसे लगाने के 15-20 मिनट के बाद जब यह सूख जाए तो चेहरे को पानी से धो लें और मोटे तौलिए से चेहरे को अच्छी तरह से साफ कर लें। इसके बाद चेहरे पर तिल या नारियल का तेल लगायें। इस प्रकार इसका उपयोग करने से 1 से 2 सप्ताह में ही चेहरे के दाग, धब्बे व मुँहासे ठीक हो जाते हैं तथा चेहरा सुन्दर लगने लगता है तथा झुरियाँ व काला घेरा आदि भी खत्म होने लगते हैं।

इस तरह पपीता एक ऐसा बहुपयोगी फल है, जिसके नियमित सेवन से शरीर में कभी भी विटामिन्स की कमी नहीं होती है। बीमार व्यक्ति को दिये जाने वाले फलों में पपीता एक प्रमुख फल है, क्योंकि इसके एक नहीं अनेक फायदे हैं। पपीता आँखों और त्वचा के लिये बहुत ही अच्छा माना जाता है, कैल्शियम की अच्छी मात्रा मिलने से हड्डियाँ मजबूत बनती हैं। यह प्रोटीन को पचाने में भी सहायक है क्योंकि इसमें फाइबर की प्रचुर मात्रा होती है। जिन लोगों को बराबर खाँसी-सर्दी की शिकायत रहती है उनके लिये पपीता का नियमित सेवन अत्यन्त लाभकारी होता है। इस प्रकार पपीता अनेक गुणों से भरपूर ऐसा उपयोगी स्वास्थ्यवर्धक फल है जिसके कारण सभी लोग अपनी गृहवाटिकाओं में इसे लगाना पसन्द करते हैं।

घातक हो सकता है मूत्र संक्रमण

डॉ0 दया शंकर त्रिपाठी*

मूत्र पीड़ा

मूत्र संक्रमण (यूरिन इन्फेक्शन) एक ऐसी बीमारी है जो किसी भी उम्र के व्यक्ति में पायी जा सकती है। परन्तु यह बीमारी पुरुषों की तुलना में महिलाओं में ज्यादा पायी जाती है। 15 से 45 वर्ष की आयु की स्त्रियों को यह बीमारी अक्सर हो जाया करती है। इसमें मूत्र मार्ग में खुजली, मूत्र त्याग में जलन एवं सूई चुभने जैसी असहनीय पीड़ा होती है। इसके कारण रोगी मूत्र त्याग करने में भय महसूस करता है। तीव्र अवस्था में मूत्र के साथ मवाद एवं रक्त भी आ सकता है। इस बीमारी के कारण लगभग 26 प्रतिशत तक लोगों के गुर्दे फेल हो सकते हैं और उन्हें सी.ए.पी.डी., हीमोडायलिसिस या गुर्दा प्रत्यारोपण तक करवाना पड़ सकता है।

मूत्र में संक्रमण दो प्रकार का होता है। एक साधारण तथा दूसरा असाधारण। असाधारण संक्रमण विशेषतः मधुमेह, सिकेलसेल एनीमिया, पथरी के रोगियों, रेफ्लेक्स, बिस्तर पर मूत्र त्याग करने वाले बच्चों, मूत्र-मार्ग की रुकावट, एड्स के रोगियों तथा गुर्दा प्रत्यारोपण के रोगियों को होता है। ऐसे रोगियों में संक्रमण के कारण गुर्दा फेल होने व पूरे शरीर में जहर फैलने का भय बना रहता है जिसका इलाज ठीक प्रकार से किया जाना आवश्यक है।

ज्यादातर संक्रमण जीवाणुओं के प्रवेश के कारण होते हैं। सभी जीवों के मूत्र-मार्ग में कुछ ऐसे जीवाणु निवास करते हैं जो लाभदायक होने के साथ-साथ संक्रमण होने से भी बचाते हैं। इनमें लेक्टोबैसिलस, बैक्टीरायड्स, स्ट्रेप्टोकोकस प्रमुख हैं। जब किसी कारणवश उपरोक्त जीवाणुओं की संख्या कम हो जाती है अथवा नष्ट हो जाते हैं तो हानिकारक जीवाणु पेशाब के रास्ते प्रवेश कर जाते हैं। इन हानिकारक जीवाणुओं में *ई. कोलाई, क्लेबसेल्ला, प्रोटियस* प्रमुख हैं, जिनमें से *प्रोटियस* पुरुषों के लिंग की खाल के नीचे मिलता है। अतः लिंग की सफाई करते रहना चाहिए, अन्यथा संक्रमण का खतरा बना रहता है। कुछ ऐसे जीवाणु भी पाये गये हैं जिनका संक्रमण होने पर गुर्दे में पथरी बन सकती है। यह पथरी उस जीवाणु के बाहरी तरफ कैल्शिफिकेशन के कारण होता है। इनमें *प्रोटियस, स्यूडोमोनाइस, क्लेबसेल्ला* इत्यादि प्रमुख हैं।

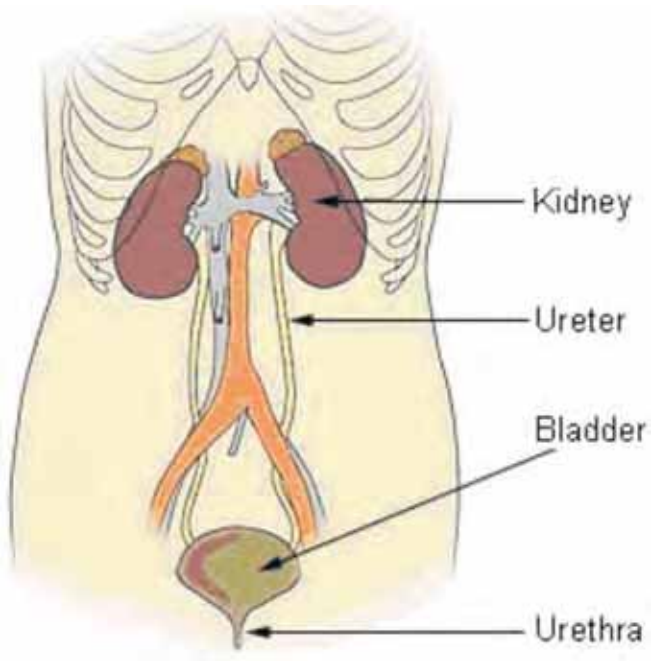

मूत्र प्रणाली की संरचना

पहले से रोगग्रस्त व्यक्तियों और लम्बी बीमारी के रोगियों में मूत्र-संक्रमण अधिक पाया जाता है। यह संक्रमण मधुमेह के रोगी, सिकलसेल रोगी, जोड़ों के दर्द की दवाइयों का सेवन करने वाले रोगी, पेशाब के रास्ते की रुकावट वाले रोगी जैसे-प्रोस्टेस ग्रंथि, फाइमोसिस के रोगी, पथरी के रोगी, फालिस के रोगी, गर्भधारण के दौरान वे रोगी जिनको कैथेटर (ट्यूब) डालकर मूत्र त्याग कराई जाती है तथा अन्य गुर्दा रोगियों को अधिक होता है। मूत्र में संक्रमण पैदा करने वाले जीवाणु भी कुछ ऐसे रासायनिक पदार्थ बनाते हैं जिन्हें साइड्रोफोर, एरोबैक्टिन, हीमोलाइसिन,

कैथेटर एवं मूत्र संग्रहण थैली

*हिन्दी प्रकाशन समिति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी – 221 005.

ISSN 2231-2455

यूरिऐज कहते हैं। उन जीवाणुओं के सतह पर स्थित फिम्ब्री की मदद से ये मूत्र-मार्ग की आन्तरिक त्वचा से चिपककर धीरे-धीरे चलते हुए ऊपर बढ़कर पेशाब की थैली, प्रोस्टेट व गुर्दे तक पहुँच जाते हैं। कुछ व्यक्तियों में जीवाणुओं को आकर्षित करने वाले रिसेप्टर पारिवारिक गुणों के कारण मौजूद रहते हैं जिससे पेशाब की थैली में कम प्रतिपदार्थ (एन्टीबाडीज) बनते हैं। इस कारण उनमें बार-बार संक्रमण होता रहता है। कुछ लोगों में आंतों की पुरानी बीमारी कोलाइटिस के कारण भी बार-बार मूत्र में संक्रमण होता है। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों में जीवाणु शरीर के किसी दूसरे भाग से आकर गुर्दों में संक्रमण, घाव इत्यादि पैदा कर देते हैं। पेशाब में संक्रमण होने पर उसकी सभी प्रकार की जाँच विस्तारपूर्वक होनी चाहिए जिसमें यूरिन कल्चर, एक्सरे, अल्ट्रासोनोग्राफी, सिस्टोस्कोपी, आई.बी.पी. आदि प्रमुख हैं।

चिकित्सक से परामर्श

संक्रमण की जाँच

मूत्र में संक्रमण की जाँच का प्राथमिक व मुख्य तरीके हैं मूत्र की जाँच। इस जाँच में मूत्र का प्रयोगशाला में कल्चर कराया जाता है जिससे रोग पैदा करने वाले जीवाणुओं का संवर्द्धन करके उनकी पहिचान व संख्या का पता लगाया जाता है। इसी से रोग की तीव्रता भी समझी जाती है। कुछ लोग पेशाब में पस सेल (मवाद) उपस्थित होने पर संक्रमण समझ लेते हैं जो कि सही नहीं है क्योंकि गुर्दे की टी.बी. या अनेक अन्य बीमारियों में भी पेशाब में पस सेल आ सकते हैं।

जाँच हेतु मूत्र का नमूना

पुरुषों में मूत्र-संक्रमण होने पर उनकी विस्तृत जाँच की जानी चाहिए। जिसमें यूरिन कल्चर, आर/एम, एक्सरे, अल्ट्रासाउंड, सिस्टोस्कोपी, आई.बी.पी. आदि प्रमुख हैं। आवश्यकता पड़ने पर रक्त की जाँच भी आवश्यक है। महिलाओं में 6 माह में दो बार से ज्यादा संक्रमण होने पर आई.बी.पी. की जाँच करानी चाहिए। परन्तु आई.बी.पी. की जाँच गर्भधारण के दौरान, प्रसव के 6 सप्ताह के भीतर, संक्रमण के 4 सप्ताह तक तथा गुर्दा खराब होने की स्थिति में नहीं करानी चाहिए अन्यथा गुर्दे पर दुष्प्रभाव की सम्भावना बनी रहती है।

संक्रमण के प्रकार व निदान

सिस्टाइटिस व यूरेथ्राइटिस- मूत्र-नली व थैली में संक्रमण सिस्टाइटिस व यूरेथ्राइटिस कहलाता है। मरीज को पेशाब करने में दर्द या जलन होता है, बार-बार पेशाब लगती है, पेशाब नहीं रुकती, रात में दो से ज्यादा बार पेशाब होती है, पेशाब में खून आता है तथा स्त्रियों में पेडू व कमर में हल्की अथवा असह्य दर्द जैसी तकलीफें होती हैं। ऐसा होने पर तुरन्त चिकित्सक से परामर्श लेकर दवा प्रारम्भ कर देनी चाहिए और पेशाब के कल्चर की जाँच कराकर औषधि सेवन करनी चाहिए। ऐसे रोगियों को यूरिन कल्चर की रिपोर्ट के अनुसार चिकित्सक उन्हें पाँच से सात दिनों तक दवा खाने की सलाह देते हैं। दवा को बीच में छोड़ना हानिकारक होता है, उसे पूरी अवधि तक खाना चाहिए। इस प्रकार का संक्रमण युवा वर्ग की महिलाओं में बहुत होता है। इसके बचाव के लिए उन्हें पानी की मात्रा बढ़ा देनी चाहिए और दिन में कम से कम 2-3 लीटर पानी पीना चाहिए। कब्ज से बचना चाहिए, सोने के पहले तथा सहवास के बाद मूत्र त्याग जरूर करना चाहिए। कॉपर-टी इत्यादि का कम से कम प्रयोग करना लाभकारी होता है।

वैजीनाइटिस- महिलाओं के मूत्र-मार्ग में होने वाले संक्रमण को वैजीनाइटिस कहते हैं। यह बीमारी ज्यादातर बच्चों वाली महिलाओं तथा वृद्ध महिलाओं में पायी जाती है। इस बीमारी में भी सिस्टाइटिस व यूरेथ्राइटिस जैसी ही सभी तकलीफें होती हैं। यदि इस रोग से ग्रस्त मरीज के यूरिन कल्चर में कोई संक्रमण नहीं मिलता तो ऐसे रोगी महिलाओं को अन्य दवाओं के साथ-साथ इन तकलीफों से दूर रखने वाली दवाओं का भी प्रयोग करना हितकर होता है।

वैजीनाइटिस संक्रमण संक्रमित महिला

प्रोस्टेटाइटिस- पुरुषों में प्रोस्टेट ग्रंथि के संक्रमण को प्रोस्टेटाइटिस कहते हैं। इसमें रोगियों को खुलकर पेशाब नहीं होता और उन्हें बार-बार पेशाब करने जाना पड़ता है। इसके साथ ही उन्हें मूत्र त्याग में जलन एवं दर्द महसूस होता है, बेचैनी बनी रहती है, पेडू में दर्द होता है, पेशाब में रुकावट हो जाती है, सहवास में दर्द तथा वीर्य में खून आने जैसी तकलीफें होने लगती हैं। ऐसे में अक्सर पेशाब के कल्चर में संक्रमण नहीं मिलता। अतः बीमारी की पकड़ बड़ी मुश्किल से हो पाती है। ऐसे में एक विशेष प्रकार की जाँच की जाती है जिसमें प्रोस्टेट ग्रंथि के मसाज के बाद निकले मूत्र की कल्चर करायी जाती है। इसमें अल्ट्रासाउण्ड की सहायता से प्रोस्टेट की वृद्धि व आकार को देखा जा सकता है। इस बीमारी में कुछ विशेष एन्टीबायटिक दवाइयाँ ही कारगर होती हैं। कुछ उपयुक्त एन्टीबायटिक 4 से 6 सप्ताह तक लेने पर यह बीमारी दूर हो सकती है।

पाइलोनेफ्राइटिस- गुर्दे के अन्दर के संक्रमण को पाइलोनेफ्राइटिस कहा जाता है। इसमें मरीज को जाड़ा के साथ बुखार हो जाता है, साथ ही कमर में दर्द है, बदन में दर्द, उल्टी, भूख न लगना, बच्चों में पतले दस्त व पीलिया होना जैसे लक्षण मिलते हैं। इसमें गुर्दा फेल होने की संम्भावना बनी रहती है। यह बीमारी उन मरीजों को ज्यादा होती है जिनमें मूत्र-संक्रमण का पूर्णरूप से इलाज नहीं हो पाता अथवा जिनको गुर्दे की दूसरी बीमारियाँ होती हैं। गर्भधारण के दौरान यदि यह बीमारी हो जाय तो गुर्दा फेल होने की सम्भावना बढ़ जाती है। इसकी जाँच यूरिन कल्चर, अल्ट्रासाउंड, सी.टी. स्कैन आदि के द्वारा की जाती है।

इस बीमारी के मरीज को अस्पताल में भर्ती करके आवश्यक उपचार किया जाना चाहिए। इसके दौरान गुर्दा फेल होने की जाँच बराबर कराते रहना चाहिए। यदि गुर्दा फेल हो जाय तो एक या दो डायलिसिस की भी जरूरत पड़ सकती है। इस बीमारी के ठीक होने के चार सप्ताह बाद आई.बी.पी. जरूर करानी चाहिए जिससे इस रोग का कारण पता चल सके और मरीज को दुबारा यह बीमारी होने अथवा गुर्दा फेल होने से बचाया जा सके।

मूत्र संक्रमण करने वाले कुछ जीवाणु

विशेष स्थितियों के संक्रमण

गर्भधारण के दौरान मूत्र-संक्रमण- गर्भधारण के दौरान मूत्र संक्रमण अक्सर हो जाया करता है। यद्यपि ऐसी महिलाओं को मूत्र संक्रमण होने पर भी मूत्र त्याग में कोई परेशानी नहीं होती। ऐसे संक्रमण को समय पर पता न चलने व इलाज न कराने के कारण लगभग 40 प्रतिशत महिलाओं को पाइलोनेफ्राइटिस व गुर्दा फेल होने की सम्भावना बनी रहती है। अतः सभी महिलाओं को गर्भधारण के दौरान हर तीन माह पर पेशाब के कल्चर की जाँच अवश्य करानी चाहिए। संक्रमण पाये जाने पर उपयुक्त दवाइयों द्वारा इसका इलाज करवा के गर्भधारण का बाकी समय सुरक्षित किया जाना चाहिए।

बच्चों में मूत्र-संक्रमण- जिन बच्चों को तीन साल की उम्र के बाद रात या दिन में बिस्तर पर पेशाब करने की शिकायत होती है उनमें लगभग 40 से 50 प्रतिशत बच्चों को रेफ्लेक्स की बीमारी हो सकती है। इस बीमारी में पेशाब करते समय मूत्र नीचे-ऊपर उछल कर गुर्दे पर आक्रमण करता है। ऐसे बच्चों को बार-बार पेशाब में संक्रमण हो जाता है और 20 से 25 साल की उम्र तक धीरे-धीरे गुर्दा फेल हो सकता है। यद्यपि इस बीमारी का बचाव अब शत-प्रतिशत उपलब्ध है। ऐसे बच्चों में पेशाब का कल्चर, अल्ट्रासाउंड तथा एमसीयू जैसी जाँच करने पर बीमारी पकड़ी जा सकती है और दवाओं अथवा छोटे से आपरेशन द्वारा इसे बढ़ने से रोका जा सकता है। इसके साथ ही इससे होने वाली गुर्दे की खराबी को भी बचाया जा सकता है। गुर्दे में बार-बार संक्रमण होने पर बच्चे का शारीरिक और हड्डियों का विकास भी प्रभावित होता है।

मूत्र-संक्रमण से बचाव- मूत्र व गुर्दे में संक्रमण से बचाव के लिए आवश्यक है कि खूब पानी पीया जाय। सोने से पहले तथा सहवास के बाद अनिवार्य रूप से मूत्र-त्याग किया जाय। कब्ज न होने दें। गर्भधारण के दौरान प्रत्येक तीन माह में मूत्र का कल्चर कराकर अपनी स्थिति का आंकलन कराते रहना चाहिए। बिस्तर पर मूत्र-त्याग करने वाले बच्चों की जल्द से जल्द उचित जाँच कराकर उपचार कराना चाहिए। जिन लोगों में बार-बार संक्रमण होने की शिकायत होती है, उन्हें जाँच कराकर समय रहते उपचार करवाना चाहिए। यदि संक्रमण के साथ गुर्दा फेल होने की शिकायत हो तो दवाइयों का प्रयोग कम मात्रा में तथा विशेष सावधानी के साथ चिकित्सक की देख-रेख में करना चाहिए।

महामना के दूरदृष्टि की थाती है विज्ञान-गंगा

आलोक कुमार सिंह*

सबके मन को भाती है विज्ञान-गंगा,
पाठकों के दिल पर छाती है विज्ञान-गंगा,
नित नये विज्ञान लेख लाती है विज्ञान-गंगा,
विज्ञान-वैज्ञानिकों के गुण गाती है विज्ञान-गंगा ।।
समाजिक अन्धविश्वासों को मिटाती है विज्ञान-गंगा,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की ख्याति है विज्ञान-गंगा,
हि प्र स[1] नव रंग रूप में लाती है विज्ञान-गंगा,
भौतिकी प्रकोष्ठ को बुलन्दियाँ चुमाती है विज्ञान-गंगा ।।
विज्ञान लेखकों के कलम चलवाती है विज्ञान-गंगा,
विज्ञान की नव खबरें लाती है विज्ञान-गंगा,
विद्वानों के मन-मस्तिष्क को झकझोर जाती है विज्ञान-गंगा,
वैज्ञानिक तथ्यों को प्रकाश में लाती है विज्ञान-गंगा ।।
रोचकता, कौतूहल को मन में समाती है विज्ञान-गंगा,
राष्ट्रभाषा में विज्ञान एवं लेखकों की मंच है विज्ञान-गंगा,
अग्रज एवं नवोदित लेखकों (हिन्दी में लेखन) को हर्षाती है विज्ञान-गंगा,
विचारों को विचारों से साझा कराती है विज्ञान-गंगा ।।
विविध विज्ञान विषयों का अदभुत समावेश कराती है विज्ञान-गंगा
कुछ अन्दर से, कुछ बाहर से, कुछ उससे भी व्यापक से लेखों को
नव-नव अंकों में छाप जाती है विज्ञान-गंगा,
द्वितीय अंक से ही आईएसएसएन पा जाती है विज्ञान-गंगा,
कृषि विज्ञान से जन्तु विज्ञान (A to Z)[2] तक की खबरें लाती है विज्ञान-गंगा ।।
हिन्दी में विज्ञान के संवर्द्धन हेतु आती है विज्ञान-गंगा,
महामना के दूरदृष्टि की थाती है विज्ञान-गंगा,
नित नयी लोकप्रियता पाती है विज्ञान-गंगा,
विज्ञान लोकप्रियकरण की मिशाल है विज्ञान-गंगा ।।

([1]हिन्दी प्रकाशन समिति, [2]A=Agriculture, Z=Zoology)

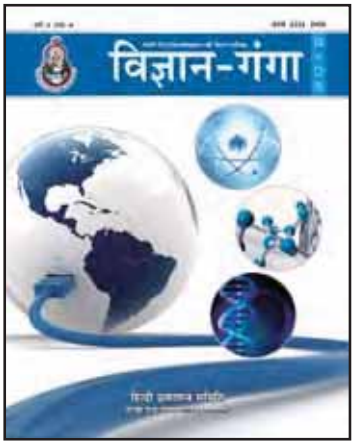

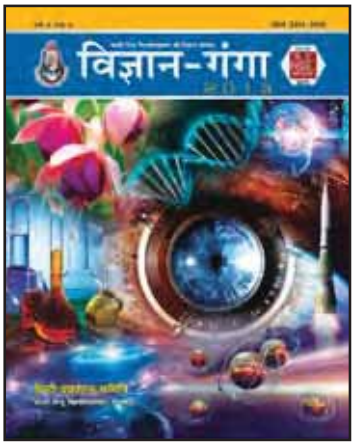

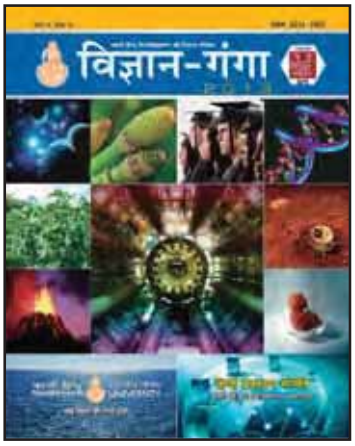

*अध्यापक, ''स्पर्श'' राजकीय (दृष्टिबाधित बालक) इण्टर कालेज, महोखर, बाँदा– 210 001, (उ.प्र.).

आओ गा कर सीखें

ओमप्रकाश जायसवाल*

जल की बरबादी को रोकें

'जल जीवन है' सभी मानते, इसका है उपयोग बड़ा।
जल का बिना प्रयोग किये क्या, हो सकता उद्योग खड़ा?
जीवधारियों का जीवन सब, जल पर ही आधारित है।
कल-कारखाने, उद्योग सभी तो, जल से ही संचालित हैं।।
एक-एक जल बूँद सजोकर, हम भविष्य को सुखद बनायें।
जल की बरबादी को रोकें, जीवन को जीवन्त बनायें।।

नन्हा पौधा चुपके-चुपके

एक बीज जब हम बोते हैं, मिट्टी में, देते जल, खाद।
नन्हा पौधा चुपके-चुपके, वहाँ अंकुरित, हो आबाद।।
जड़ औ तना, पत्तियाँ कोमल, कितनी सुन्दर लगती हैं।
कली, फूल, फल, बीज एक दिन, क्रमशः बनने लगती हैं।।
पुनः बीज से उगता पौधा, यही चक्र चलता रहता।
पौधे के जीवन की झाँकी, हमें दिखाई है पड़ता।।
एक ओर जड़ पौधे को, मजबूती से स्थापित करता।
और दूसरी ओर खनिज, जल पौधे को देता रहता।।
सभी पत्तियाँ रवि-प्रकाश में, भोजन रोज बनाती हैं।
पौधे को बढ़ने फलने को, संसाधन बन जाती हैं।।

*विज्ञान अध्यापक, पूर्व मा0वि0, लेडूपार, पो0 चेंवता वाया तेरही, ब्लाक महराजगंज, जि0 आजमगढ़- 276 141

ISSN 2231-2455

वृक्ष विछोह : एक सामाजिक समस्या

उर्मिला तिवारी*

आमने-सामने दो बड़े बड़े बंगले हैं। लेकिन मुझे इन्हे ''घर'' कहना अच्छा लगता है। मेरी समझ से घरौंदे से ही घर का स्वरूप आया होगा। ''घर'' दो शब्द है ''घ'' और ''र''। उसी तरह पति-पत्नी एक पुरुष, एक नारी, दोनों होते हैं एक। दोनों के सहयोग से ही बनता है एक घर। और इसी श्रेणी में आमने-सामने के दोनों ''घर'' आते हैं। दोनों परिवारों ने बड़े प्रेम-सहयोग से एक साथ आमने-सामने घर बनवाया था। बीच में मात्र सड़क, आपस में अच्छा मिलना-जुलना था। धीरे-धीरे बच्चे बड़े हो गये। पैसे की दौड़ में सब ऐसे उलझे कि प्यार बरकरार रहते हुये भी समयाभाव ने दूरियाँ बढ़ा दी। परिवार से बच्चे दूर देश-विदेश कमाने चले गये। बुढ़ापे में दोनों घरों में बुढ़े, बुढ़िया रह गये। पैसा आवश्यकता से अधिक, सुख-सुविधा की सामग्री से सुसज्जित, आराम ही आराम है, किन्तु आराम की जिन्दगी ने दूरी बढ़ा दी है। ए.सी. आन, टी.वी. आन, लोग अपने-अपने घरों में बन्द। अब गाहे-बगाहे मौकों पर ही मुलाकात होती है। वरना कई-कई दिन बातों की कौन कहे एक दूसरे का चेहरा भी देखने को नहीं मिलता। बनावट की नकाब ने दूरियाँ और बढ़ा दी हैं। आवश्यकता पड़ने पर फोन और मोबाइल, कभी-कभी ई-मेल भी सहारा बनकर समाचार ले लेता है और सम्बन्धों की इतिश्री हो जाती है। शायद इसी को प्रगति कहते हैं।

बुढ़े, बुढ़िया सोच रहे हैं, हमसे तो अच्छे हमारे घर के आमने-सामने लगे छायादार गुलमोहर के वृक्ष हैं। जो खूब बड़े हो गये हैं। दोनों पेड़ों की टहनियाँ हरे पत्तों और फूलों से भर गई हैं। वे प्रतिदिन सड़क की दूरी पार करके, इठलाती हुई, झूम-झूमकर हाथ मिलाती हैं, एक दूसरे का स्पर्श कर गलबहियाँ डालकर अपना सुख-दुख बाँट लेती हैं। साथ-साथ ठंडी सुगन्धित बयार का आनन्द भी लेती हैं।

किन्तु यह क्या? कुछ दिनों से बन्दरों के उत्पात ने ऐसा त्रसित कर रखा है कि एक दिन सामने वाले बंगले (घर) के मालिक ने अपने माली को हुक्म सुनाया ''सुनो माली गुलमोहर का पेड़ काटकर छोटा कर दो। दोनों आमने-सामने के पेड़ सट गये हैं बन्दर रात दिन इस पेड़ से उस पेड़ पर कूदते रहते हैं। जीना दूभर हो गया है अब पेड़-पौधों का जमाना नहीं रहा। ''मालिक भूल गये कि इन वृक्षों का हमारे लिए क्या महत्व है? साहब के हुक्म अनुसार माली ने अनमने मन से पेड़ की टहनियाँ काटना शुरू कर दिया। सामने वाले घर की लान में बैठी महिला सुन रही थी ''पेड़ पर माली की कुल्हाड़ी का एक-एक प्रहार''। भावुक मन सोचने लगा, कुछ क्षण पूर्व जो टहनियाँ हवा में झूम रही थीं, सुख-दुख सुना रही थीं, धरा पर गिरते-गिरते अवश्य कह रही होंगी, देखों मैं तो वृक्ष से अलग होकर जा रही हूँ अब न जाने कब मिलना हो? संभवतः मिलना हो भी, तो नई कोपल के रूप में। किन्तु मेरे पीछे मेरे छूटे रिश्तों का ध्यान तुम रखना, विशेष रूप से मेरे बुजुर्ग वृक्ष का। आज पेड़ से डाली, टहनी, पत्ती अलग हुए हैं, कल बन्दरों के उत्पात से तंग आकर साहब पूरा पेड़ ही न कटवा दें। फिर तो मुझे अपनी जड़ों से भी हाथ धोना पड़ेगा।

लान में बैठी नारी सोच रही है, क्या सारा दोष बन्दरों का ही है? मानव यह क्यों भूल जाता है कि जिम्मेदार तो हम स्वयं भी हैं। चारों ओर के पेड़ काट कर कंकरीट का जंगल मानव ही तो बना रहा है। पैसे की दौड़ में मानवीय भावनाएँ दफन होती जा रही हैं। धन पिपासा दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही है। तृष्णापूर्ति के लिये धन बल पर अट्टालिकायें चहु दिशा में खड़ी हो रही हैं। नये-नये आशियानें प्रतिदिन तैयार हो रहे हैं। चारों तरफ के बाग-बगीचे, पेड़-पौधे, हरे-भरे जंगल काटे जा रहे है। जब पेट भरने के लिये बन्दरों को फल-फूल नहीं मिलेंगे तो कहीं एक दिना ऐसा न हो कि पेट की ज्वाला से लाचार, मानव कर्म से ऊबकर ये बन्दर भी नरभक्षी बन जायें और माँसाहारी बनकर मानव जाति को ही जड़ से उखाड़ दें।

दोषी कौन? सामने घर की लॉन में बैठी नारी सोचते-सोचते अपने सपनों में खो गई, जब आँख खुली तो देखा माली द्वारा काटा गया एक हरा-भरा पेड़, डाली विहीन ठूँठ खड़ा था, पत्तियों से भरी टहनियाँ धरा पर धराशायी थीं।

उधर दूसरा पेड़ हवा के झोंके से नहीं, वरन् वियोग के विरह से झुका नजर आ रहा था। नारी चाहते हुए भी न कुछ कह सकी और न कुछ कर सकी, क्योंकि अब समय बदल गया है। वह जानती है कि सामने वाले पड़ोसी नहीं मानेंगे। अतः, वह दुखी मन, गुमसुम, चुपचाप पड़ोसी को कोसती हुई अपने कमरे में आकर लेट गई ''क्योंकि वह पेड़ उसका अपना न था।''

*C/o श्री एन.डी. तिवारी, 122, बृजइन्क्लेव, सुन्दरपुर, वाराणसी-221 005.

पर्यावरण गीत

ओम प्रकाश त्रिपाठी*

*महामहिम राष्ट्रपति व राज्यपाल द्वारा पुरस्कृत प्रधानाध्यापक, ओम उर्मिला सदन, बलरामदास धर्मशाला के बगल में, राबर्ट्सगंज, सोनभद्र – 231 216.

पुस्तक-समीक्षा
डिजिटल माध्यम और हिन्दी में विज्ञान संचार

डॉ0 कृष्ण कुमार मिश्र*

समीक्ष्य पुस्तक नवम्बर 2013 में विज्ञान प्रसार (विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग, भारत सरकार) द्वारा प्रकाशित की गयी है जिसमें कुल 22 निबंध संकलित हैं। ये सभी निबंध प्रतिभागी विशेषज्ञों द्वारा दी गई प्रस्तुतियों पर आधारित हैं। विज्ञान प्रसार तथा इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय (इग्नू) के राष्ट्रीय दूरस्थ शिक्षा नवोन्मेष केन्द्र ने दिल्ली में 28-29 मार्च, 2012 को संयुक्त रूप से एक राष्ट्रीय कार्यशाला का आयोजन किया था। इसका विषय था- ''डिजिटल माध्यमों द्वारा हिन्दी में विज्ञान संचार''। इस कार्यशाला के पाँच तकनीकी सत्र थे जिनके अन्तर्गत इंटरनेट पर हिन्दी में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी, विज्ञान शब्दावलियाँ, मशीन अनुवाद, फॉन्ट कोडिंग, सर्च इंजन, वेबसामग्री, ब्लॉग, सोशल नेटवर्किंग, विकिपीडिया, ई-लर्निंग सामग्री, सामुदायिक रेडियो, डिजिटल लाइब्रेरी आदि मुद्दों पर परचे पढ़े गये तथा गहन विचार-विमर्श किया गया।

सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) के क्षेत्र में आयी क्रांति ने समूचे वैश्विक परिदृश्य को बदल दिया है। डिजिटल माध्यम आज विज्ञान संचार की एक प्रभावी विधा के रूप में उभरा है जिसमें दृश्य, श्रव्य, एनिमेशन तथा अनुरूपण के जरिये सूचना को लक्ष्य वर्ग तक पहुँचाया जा सकता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा चेतना किसी राष्ट्र तथा समाज की बौद्धिक उन्नति के मानदंड होते हैं। लोकमानस में वैज्ञानिक सोच का विकास भारत के संविधान के अनुच्छेद 51 A/h के अंतर्गत एक मौलिक कर्तव्य है। एक तर्कसंगत समाज के निर्माण में विज्ञान संचार की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। भारत सरकार ने वर्ष 2010-2020 को 'नवाचार दशक' घोषित किया है। इसका उद्देश्य है नागरिकों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास, नवीन प्रयोगात्मक विचारों तथा प्रविधियों को प्रोत्साहन तथा तदनुसार नूतन आविष्कारों, प्रौद्योगिकियों एवं सेवाओं के सम्यक विकास से भारत को विश्व पटल पर अग्रणी राष्ट्र के रूप में स्थापित करना।

विज्ञान संचार में डिजिटल माध्यमों का प्रयोग तेजी से बढ़ रहा है तथा आने वाले दिनों में इसकी उपयोगिता तथा उपादेयता बढ़ने वाली है। लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि आने वाले दिनों में पूरी दुनिया एक 'डिजिटल विश्व' बन जाएगी क्योंकि हमारे रोजमर्रा के सभी कामकाज इसी से जुड़ते जा रहे हैं। हिन्दी में भी डिजिटल सामग्रियाँ तैयार की जा रही हैं लेकिन विशाल हिन्दी जगत की आवश्यकताओं तथा अपेक्षाओं के मद्देनजर यह अभी बहुत अपर्याप्त है। इस पुस्तक में हिन्दी के विविध डिजिटल माध्यमों की सोद्देश्यपूर्ण तथा विस्तार से चर्चा की गयी है। पुस्तक के अंत में परिशिष्ट-1 में सभी 22 लेखकों के संक्षिप्त परिचय तथा परिशिष्ट-2 में कार्यशाला के उपरान्त चर्चा से निकलकर आई 5 महत्वपूर्ण संस्तुतियों का समावेश किया गया है। पुस्तक की साज-सज्जा बहुत उत्तम है। इसका आवरण पृष्ठ सादगी के बावजूद बड़ा ही मौलिक तथा सुरुचिपूर्ण है। संपादकों के श्रम से सामग्री बेहद सुन्दर बन पड़ी है। आशा है यह पुस्तक छात्रों, अध्यापकों तथा विज्ञान में रुचि रखने वाले आम पाठक, सभी के लिए रुचिकर, पठनीय तथा उपयोगी होगी।

ISBN : 978-81-7480-231-6
प्रकाशन वर्ष : 2013, पृष्ठ 158, मूल्य रु0 75.00
संपादक : ओम विकास, ओउम प्रकाश शर्मा,
किंकिणी दासगुप्ता मिश्रा, मनीष मोहन गोरे
प्रकाशक : विज्ञान प्रसार, ए-50, इंस्टीट्यूटशनल एरिया,
सेक्टर-62, नोएडा – 201 309 (उ.प्र.)

*होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र, टाटा मूलभूत अनुसंधान संस्थान, मुंबई-400 088.

यांत्रिकी में गुणवत्ता नियंत्रण

संजय गोस्वामी*

क्रांतिक (क्रिटिकल) उपकरण को बनाने से पहले उसमें सम्मिलित पदार्थ, वेल्डन जोड़ को दो परीक्षणों से गुजरना पड़ता है। पहला परीक्षण धातु के विध्वंशकारी परीक्षण है जो उसके यांत्रिक गुण के मापदंड को पूरा करते हैं तथा दूसरा परीक्षण गैर विध्वंशक परीक्षण (NDT) होते हैं जिसमें हर क्रम से उसके निर्मित हर भाग के परीक्षण, डी.पी. टेस्ट, रेडियोग्राफी, अल्ट्रासोनिक इत्यादि होते हैं जो किसी को (IS, ASTM, DIN etc.) के अन्तर्गत आते हैं। जब संरचना का ड्रॉइंग निर्मित होता है उसके साथ क्यू.ए. प्लान दिया जाता है। जिसके अंतर्गत गैर विध्वंश परीक्षण शत-प्रतिशत या रैंडम (कुछ ही चुनना) परीक्षण होता है जो कोड के मापदंड को पूरा करे। ऐसा करना अत्यंत अनिवार्य है।

कल पुर्जे जो अति संवेदनशील होते हैं उनमें डी.पी. टेस्ट में विशेष प्रकार का टेस्ट फ्लोरोसेंट डाई पेन्ट्रेन्ट टेस्ट होता है एवं रेडियोग्राफी में भी कंप्यूटर टोमोग्राफी द्वारा स्कैनिंग किया जाता है। जिस आयतन का स्कैन होता है उसके सूक्ष्म से सूक्ष्म त्रुटि देखने के लिए रेडियोग्राफी के विकिरण स्रोत को साइक्लोट्रॉन द्वारा त्वरित कर उस यंत्र को तेजी से घुमाकर, कंप्यूटर पर उस भाग को अधिक से अधिक आवर्धित कर देखा जाता है। अल्ट्रासोनिक परीक्षण में भी सामान्य परीक्षण जो किसी SS पदार्थ पर किया जाता है उससे कुछ भिन्न होता है।

पराश्रव्य (अल्ट्रासोनिक) ध्वनि तरंगों की प्रकृति (वेग, प्रकीर्णन, ऊर्जा आदि) अलग-अलग धातु में अलग-अलग होती है। एन.डी.टी. वैज्ञानिक यंत्रों में काफी रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक है। अतः गुणवत्ता आश्वासन का ख्याल पूरे तरीके से तभी रखा जाता है जब वह किसी कोड को पूरी तरह (विध्वंशक एवं गैर विध्वंशक दोनों) से पालन किया जाए।

विशेषज्ञ द्वारा जाँच

पदार्थों की संपूर्ण जाँचों के लिए रासायनिक, भौतिक, यांत्रिक, धातुकर्मीय, धातु-चित्रण, पराश्रव्य परीक्षण, वेल्डेबिलिटी, गढ़नता, आकार एवं गुंजाइशें एवं पर्यावरण गुणों के परीक्षण मुख्यतः किए जाते हैं।

गुणात्मक परीक्षणों में भौतिक, रासायनिक एवं यांत्रिक गुण-धर्म मुख्य हैं। जबकि परिमाणात्मक परीक्षणों में धातु-चित्रण, पराश्रव्य, वेल्डेबिलिटी एवं पर्यावरण गुण धर्म मुख्य हैं। रासायनिक परीक्षणों में कच्चे माल तथा उत्पादों का रासायनिक संघटन ज्ञात किया जाता है। भौतिक गुणों में घनत्व, यंग-मापांक, प्यासों (Poisson's) अनुपात, रेखीय प्रसार गुणांक, तापीय चालकता, विद्युतीय प्रतिरोधकता, तापीय संचालकता एवं विशिष्ट ऊष्मा आदि मुख्य हैं। पदार्थों के यांत्रिक गुणों में तनन सामर्थ्य, पराभव सामर्थ्य, क्षेत्र-न्यूनन, दैर्ध्यवृद्धि, प्रतिघात परीक्षण, श्रांति परीक्षण (कम व ज्यादा चक्र), चिकनापन एवं दाँतेदार अवस्थाओं में विभंग चर्मलता, कठोरता, भंगुरता, विसर्पण (क्रीप एवं रैप्चर) एवं प्रतिबल दरार आदि मुख्य हैं। धातु-चित्रण गुणों में स्थूल संरचना, सूक्ष्म संरचना, अधात्विक अंतर्वेश मात्रा एवं रेणु आमाप आदि मुख्य हैं।

पदार्थों में कुछ परीक्षण जैसे खामियाँ (बाह्य एवं आंतरिक सतह पर) पराश्रव्य परीक्षण द्वारा फोर्जनीयता, वेन्डनीयता, आकार एवं गुंजाइशें और गढ़नता आदि भी किए जाते हैं।

लिक्विड पेनिट्रेन्ट टेस्टिंग

डिजाइन से संबंधित निम्न तीन प्रकार के पदार्थ गुण परिगणक होते हैं-

1. गुणात्मक परीक्षण-तन्य सामर्थ्य, प्रतिबल विभेद आदि।
2. परिमाणात्मक परीक्षण-संयोजकता गुण, कुटाई गुण आदि।
3. आवश्यक लेकिन अगणनीय गुण – यहाँ पदार्थ मूल के गुण सम्मिलित हैं जैसे रचना में त्रुटि के बावजूद पदार्थ की कार्यक्षमता।

रासायनिक परीक्षण में कच्चे माल के सभी तत्वों को विशेष रूप से परीक्षित करते हैं। पदार्थों के समस्त में संक्षारण, संक्षारण भंगुरता, संक्षारण श्रांति, उच्चताप संक्षारण एवं प्रतिबल संक्षारण मुख्य हैं।

*यमुना जी/13, अणुशक्तिनगर, मुम्बई-400 094.

डिस्ट्रक्टिव टेस्टिंग व डाई पेन इन्ट्रेन्ट टेस्ट

गुण-धर्म रासायनिक संरचना पर निर्भर होते हैं। इस कारण पदार्थों का रासायनिक संघटन तने व कसे रखे जाते हैं।

यांत्रिकी में गुणवत्ता नियंत्रण के लिए परीक्षण दो तरीके से किए जाते हैं –

1. विनाशी परीक्षण (Destructive test)
2. अविनाशी परीक्षण (Non-destructive test)

विनाशी परीक्षण :- इससे धातु के यांत्रिक गुण का पता लगता है। इसमें तनन सामर्थ (yield strength), पराभव सामर्थ, विसर्पण (Creep), कठोरता (Hardness), खिचाव (Elongation) आदि माप आते हैं।

SS 304L धातु के यांत्रिक गुण	
0.2% प्रुफ तनाव (Proof Stress) (RPD.2)	200N/mm^2
1.0% प्रुफ तनाव (Proof Stress) (Rp.1.2)	230N/mm^2
तनन सामर्थ (UTS) (Rm)	490N/mm^2
खिचाव (Elongation)	40%
कठोरता (Hardness)	190 max. Brinell
भौतिक गुण :	
घनत्व (Density)	7.9g/cm^2
प्रत्यास्थ गुणांक (Mod. of Elasticity)	200KN/mm^2
विशिष्ट ताप (Sp. Heat)	0.49KJ/kg 0K
प्रतिरोधकता (Resistivity)	0.8ohm/m

अविनाशी परीक्षण : इससे धातु के परिमाणात्मक गुण का पता लगता है। इसमें डी.पी. टेस्ट, रेडियोग्राफी टेस्ट, पराश्रव्य परीक्षण (Ultrasonic testing) आदि परीक्षण आते हैं।

(I) डी.पी. टेस्ट :- इससे धातु या वेल्ड के बाहर के दोष का पता लगता है। यह कैपलरी एक्शन पर आधारित है। वेल्ड के बाहर के दोष दरार, पोरोसिटी, इनक्लुजन, कोटरन, लैक ऑफ फ्युजन, लैक आफ पेनेटरेशन आदि आते हैं। डी.पी. टेस्ट से मुख्यतः दरार, पोरोसिटी, इनक्लुजन, कोटरन दोषों का पता लगता है। इसमें दरार दोष अस्वीकार्य है।

डी.पी. टेस्ट के लिए उपयुक्त होने वाली सामग्री : क्लिनर, हाई, डेवलपर।

दोषों का पता लगाने के लिए वेल्ड के बाहरी भाग को पूरी तरह एसिटोन से साफ कर लेते हैं। उसके बाद वेल्ड के चारों तरफ डाई जो लाल रंग का लगता है जैसे पी-मेट, ओरियन, मैगनाफ्लक्स आदि लगाते हैं। 5-10 मिनट के बाद उसे कॉटन से साफ कर लेते हैं। उसके बाद वेल्ड के चारों तरफ डेवलपर स्प्रे या ब्रश द्वारा लगाते हैं। जहाँ भी लाल रंग का दाग दिखाई देता है वहाँ दोष है। स्वीकार्य कोड IS, ASME A-162, ASTM Sec-V, BIS, DIN आदि।

(II) **रेडियोग्राफी टेस्टः** इससे धातु या वेल्ड के अंदर के दोष का पता लगता है। इसमें एक्स-रे या गामा स्रोत लिये जाते हैं। यह धातु के घनत्व और मुटाई पर निर्भर करता है। एक्स-रे या गामा किरणों के गुण से फोटोग्राफी प्लेट पर धातु के चित्र को देखकर दोष का पता लगता है। एक्स-रे या गामा किरण की तीव्रता I हो एवं t धातु की मोटाई हो तो समांकलन करने पर गामा स्रोत में Co-60 एवं lr-92 रहता है जिसकी ऊर्जा 0.62 Mev एवं 1.32 Mev है।

$$\int dI/I = \mu/dt$$
$$I_o \quad o$$
$$\text{Log } I/I_o = \mu t$$
$$\text{अतः } I = I_o e^{-\mu t}$$

μ अवशोषण गुणांक एवं t मोटाई है μ, ρ घनत्व का समानुपात है।

इसमें वेल्ड के अन्दर के दोष दरार, पोरोसिटी, इनक्लुजन, कोटरन, लैक ऑफ फ्यूजन, लैक आफ पेनेटरेशन आदि देखे जाते हैं।

Radiography of the welded join.

रेडियोग्राफी टेस्ट द्वारा कास्टिंग का परीक्षण भी किया जाता है पराश्रव्य परीक्षण द्वारा नहीं हो पाता है। स्वीकार्य कोड ASME E-94 E-114 ASTM Sec-V DIN आदि।

इसमें वेल्ड के अन्दर के सूक्ष्म दोष नहीं देखे जाते हैं जो किरणों के आकार के होते हैं। जिसका आकार माइक्रान के क्रम का होता है। लेमिनेशन दोष नहीं देखे जा सकते हैं इसके लिए पराश्रव्य परीक्षण किया जाता है।

पराश्रव्य परीक्षण (Ultrasonic Testing): पराश्रव्य परीक्षण में वेल्ड या धातु के अन्दर के सूक्ष्म दोष देखे जाते हैं। यह उच्च आवृत्ति (>20kHz) के ध्वनि तरंग को धातु के अन्दर से गुजारा जाता है। प्रेषण एवं ग्राही के कारण प्रतिध्वनि पैदा होते हैं, जहाँ दोष होता है वहाँ से ध्वनि तरंग परावर्तित हो जाती है तथा प्रतिध्वनि में बदलाव आता है जिससे दोष देखे जाते हैं। इसमें वेल्ड के अन्दर के दोष दरार, पोरोसिटी, इनक्लुजन, कोटरन, लैक ऑफ फ्युजन, लैक ऑफ पेनेटरेशन, लेमिनेशन आदि देखे जाते हैं। यह सामान्य बीम, एंगल बीम प्रोब पर परीक्षण किया जाता है। इसमें लेमिनेशन दोष देखे जाते हैं। इसमें दोष के आकार स्थिति देखे जाते हैं जो आयतन का स्कैन करता है। यह धातु के घनत्व और ध्वनि के वेग, आंतरिक संरचना पर निर्भर करता है।

	घनत्व p	वेग V	Z=p V
सी.एस. (Carbon Steel)	7.8	5850	45.6
एस.एस. (Stainless Steel 304)	8.3	5660	45.5
एस.एस. (Stainless Steel 304L)	8.0	5650	45.2

यहाँ धातु के घनत्व और ध्वनि के वेग के आधार पर ध्वनि प्रतिबाधा Z=pV दिया गया है जो प्रेषण को पैदा करता है। ध्वनि प्रतिबाधा का मान जितना अधिक होगा प्रेषण उतना अच्छा होगा। इन सब परीक्षण के बाद उपकरण का हाइड्रो, न्युमेटिक टेस्ट किया जाता है। अंततः यांत्रिकी गुणवत्ता नियंत्रण के लिए पहले उपकरण का अभिल्पन कर, टेक्निकल स्पेशिफिकेशन, देखकर कोड के अनुसार गुणवत्ता प्लान, चेकलिस्ट के अनुसार विनाशी परीक्षण एवं अविनाशी परीक्षण किए जाते हैं।

दृश्य जाँच

दृश्य वेल्ड निरीक्षण का लाभ है कि यह निरीक्षण संगठन के अंदर किया जा सकता है। उत्पादन में भी बहुत कम विलंब होता है एवं यह वेल्डरों तथा डिजाइनरों के लिए तत्काल प्रतिपुष्टि (फीड बैंक) प्रदान करता है। दृष्टि निरीक्षण प्रकिया में अच्छी प्रकाश व्यवस्था, अल्प शक्ति आवर्धन, एक दंत दर्पण, संभवतः एक बोर स्कोप और एक ईमानदार जाँचकर्ता की जरूरत होती है। इस प्रक्रिया में सबसे महत्वपूर्ण है कि वेल्डर को तत्काल प्रतिक्रिया प्राप्त हो जाती है जिससे काम बहुत अच्छा होता है और भविष्य में गुणवत्ता पहचान में भी वृद्धि की जा सकती है।

वातीय परीक्षण

वातीय परीक्षण पाइपिंग प्रणाली में रिसाव का पता लगाने का एक परीक्षण है जिसमें सभी खुले भागों को बंद कर दिया जाता है तथा सपीड़ित वायु (Compressed air) को प्रणाली में प्रवाहित किया जाता है, फिर परीक्षण किए जाने वाले क्षेत्र में उपयुक्त साबुन का घोल छिड़का जाता है तथा यदि कोई रिसाव है तो इसका पता हमें साबुन के घोल में बनने वाले बुलबुलों से चल जाता है। इस प्रक्रिया में प्रेसर ड्राप परीक्षण भी किया जाता है ताकि यह पता लगाया जा सके कि सामान्यतया कार्य कर रहे दाब में 1.25 गुना दाब पर भी प्रेसर ड्राप नहीं है। प्रेसर ड्राप को मॉनीटर करने के लिए एक उपयुक्त दाब रोज पाइपिंग प्रणाली में लगाया जाता है। वातीय परीक्षण की संवेदनशीलता $1* 10^{-3}$ millibar/litre/Sec होती है।

हीलियम-रिसाव परीक्षण

इस परीक्षण की विधि में परीक्षण किए जाने वाले भाग को पहले निर्वात करके इस परीक्षण को किया जाता है ताकि मौजूद दाब अंतर के कारण बाहर से गैस रिसाव स्थान से प्रवेश करे। यदि हीलियम की छिद्र के सामने लाया जाता है (उदाहरण के लिए स्प्रे गन का प्रयोग करके) तो यह हीलियम रिसाव स्थान से प्रवेश करता है तथा लीक डिटेक्टर द्वारा पम्प करके बाहर कर दिया जाता है। लीक डिटेक्टर में मौजूद हीलियम का आंशिक दाब सेक्टर माँस स्प्रेक्ट्रोमीटर द्वारा मापा जाता है तथा लीक रेट के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। सामान्यतः इसे हीलियम के आयतन बहाव के अनुसार किया जाता है। पी.बी. फ्लो हमारे मानकों के अनुसार स्वीकार्य लीक दर $1* 10^{-3}$ millibar/litre/Sec होता है।

हीलियम रिसाव परीक्षण के लाभ

सूखापन : यह एक पूर्णतः शुष्क पद्धति है इस प्रक्रिया में परीक्षण के बाद साफ करने तथा सुखाने के लिए साबनु का घोल अथवा पानी की बूँदे नहीं रह जाती है।

अधिक संवेदनशीलता : हीलियम अणु का आकर बहुत छोटा होने के कारण यह आसानी से बहुत छोटे रिसाव की जगह का भी भेदन कर सकते हैं जो कि पानी या हवा के अणुओं द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

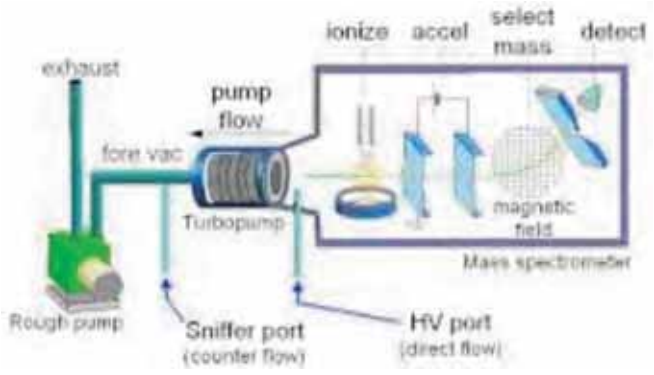

हीलियम लीक टेस्टिंग

मात्रात्मक परीक्षण : इस प्रक्रिया से रिसाव के आकार का पता लगाया जा सकता है।

अधिक विश्वसनीय : हीलियम रिसाव परीक्षण डिटेक्टर संकेतों और अलार्म पर निर्भर है जिससे यंत्र चालक की परीक्षण गलतियों से बचा जा सकता है।

बेहतर उत्पाद गुणवत्ता : रिसाव परीक्षण की उच्च विश्वसनीयता में उत्पादन की गुणवत्ता में सुधार आता है और रिसावयुक्त उत्पाद को ग्राहक तक पहुँचने से बचाया जा सकता है।

कुछ ही सेकंड में चमकेंगे आपके दाँत

क्या दाँतों की सफाई के लिए छ : सेकेंड पर्याप्त हो सकते हैं? हाल ही में एक कंपनी ने ऐसा स्मार्ट टूथ ब्रश बनाने का दावा किया है जो इतने ही समय में दाँतों को पूरी तरह साफ-सुथरा कर देगा। आमतौर पर लोग ब्रश करने में चार-पाँच मिनट का समय लगाते हैं। यह कोई ज्यादा समय नहीं होता है। इसके बावजूद पूरा समय लगाने पर भी कुछ ब्रशों से ठीक से दाँतों की सफाई नहीं हो पाती। इनके समाधान के लिए कंपनी ने एक 3डी प्रिंटेड टूथ ब्रश बनाया है, जो उपयोग करने वाले व्यक्ति के मुँह में फिट किया जा सकता है। यह सिर्फ छह सेकेंड में दाँतों की सफाई कर देता है। इस ब्रश को ब्लिजिंडेंट नाम दिया गया है। इस उपकरण में लगे लगभग 400 बाल या रेशे दाँतों से चारों तरफ से रगड़ खाते हैं जिससे वे साफ हो जाते हैं।

पर्यावरण एवं वनवासी जीवन

ओम प्रकाश त्रिपाठी*

वनवासी नृत्य

भारत का अधिकांश भाग जंगलों से आच्छादित रहा है। यहाँ की आदिवासी जन-जातियों का मुख्य रूप से निवास गिरि कन्दराओं तथा दुर्गम पहाड़ियों के मध्य होता था। जन-जातियाँ देश के कई राज्यों में छिटपुट मिलती हैं। विशेषतौर पर पहाड़ी स्थानों में इनकी बस्तियाँ रही हैं। उड़ीसा, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश एवं उत्तराखण्ड तथा बिहार में इनके जत्थे निवास करते रहे हैं। सोनभद्र और चन्दौली तथा मीरजापुर में कई जन-जातियाँ निवास करती हैं जिनमें कुछ प्रमुख हैं- गोंड़, पनिका, अगरिया, भुइया, चेरो, मझवार, कोरवा, धांगर, बहगा, धरकार, खरवार घासिया, पठारी एवं कोल आदि ये जातियाँ घनघोर जंगलों के इर्द-गिर्द अनेक अभावों के बीच अपनी पुरुषार्थी प्रवृत्ति एवं साहसी गुणों के आधार पर निवास करती हैं। घास, चकवड़ और महुआ ही इनका भोजन होता रहा है। पत्थर के बने औजार जैसे– फावड़ा, कुदाल, चाकू, तीर, धनुष आदि इनके जीवन यापन के अच्छे साधन रहे हैं। प्रकृति की सुषमा और खूंखार जंगली जानवरों के बीच इनका रहन-सहन एक सामान्य सी बात होती रही है। मिट्टी और पत्थर के छोटे-छोटे घर जिन पर फूस व पत्तियों की छाजन तथा घर के अन्दर इन्हीं चीजों के बने बर्तन इनकी जीवन सामग्री हुआ करती थी। ये झुण्ड बनाकर साथ-साथ रहते थे। जंगली जानवरों का शिकार और पेड़-पौधों के फल-फूल, कन्द-मूल आदि खाकर, चूओं से निकले हुए जल को पीते थे, न उनके लिए किसी बीमारी का भय था और न उन्हें भौतिक सम्पन्नता से पूर्ण जीवन की ललक थी। इन्हीं जातियों में सभी प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करने की इनकी एक अनोखी व्यवस्था थी। दिनभर नाचना, गाना, कूदना, फाँदना और प्रकृति की गोद में पर्वतों की तलहटी और शिलाओं, गुफाओं में जीवन बिताते हुए प्रकृति की शक्तियों में इनका पूरा विश्वास रहता था। धार्मिक अवसरों पर आमोद-प्रमोद के समय दारू, मुर्गा इनका व्यंजन होता था। इनके मचलने, ठुमकने, रूठने और मनाने की शैली बड़ी प्रभावशाली होती रही है। इनमें अगरिया जाति तरह-तरह के लोहे और पत्थर के अदभुत औजार बनाती थीं। कोरवा जाति अपने विशेष प्रकार के तीर धनुष से खूंखार जानवरों पर निशाना लगाकर मार डालती थीं और उसे अपना भोजन बनाती थीं।

आदिवासियों का विशेष लगाव पेड़-पौधों तथा नदी नालों और पत्थर के जल स्रोत (चुहाड़ या चुआ) से होता था। जंगलों की लकड़ियाँ इनके जीवन की प्रमुख आधार होती थीं। इन्हीं लकड़ियों से वे वाद्य यंत्र बनाते थे और शिकार किये गये जानवरों की खाल से बाजा, डफली, ढोल, मानर आदि बनाते थे जिसका प्रयोग उत्सवों के अवसर पर या मनोरंजन के लिए करते थे। आपस में इनका ताल-मेल बहुत ही अच्छा होता था। इनके नृत्य- करमा, शैला, डोमकच, अगरही, नटुआ, कोल, दहकी आदि परस्पर स्त्री और पुरुष दोनों के आपसी सामंजस्य से पूर्ण होते थे।

वनवासियों का वाद्य यंत्र

इनके धार्मिक उत्सवों में वृक्षों की डालियों का विशेष महत्व होता था। करमा नृत्य तो करम के पौधे को प्रतीक मानकर उसके चतुर्दिक हाथ में हाथ मिलाकर पुरुष स्त्रियाँ दोनों झूम-झूम कर नाचते गाते थे। पेड़ों के महत्व पर इस गीत को देखकर ही अंदाजा लगाया जा सकता है– ''पेड़ न रहि हैं त लड़का कइसे जियहँइ, अउर का ऊ खइहँइ''।

इनका लगाव शहरों एवं सम्पन्न स्थानों से बहुत कम होता था। ये प्रकृति के वास्तविक पुत्र रहे हैं। इनकी वीरता, पुरुषार्थ, एकता, अनुकरणीय होती थी। ये अध्यात्मिकता से भी ओत-प्रोत होते थे। इन्हें अपने ईष्ट देव पर काफी भरोसा होता था। ये बधउत, शिव दुर्गा, काली, जिरही के घोर उपासक होते थे। इनकी जीवनगाथा कुछ अद्भुत प्रकृति की रही है। सच पूछा जाय तो जीवन एक भ्रम और भटकाव है क्योंकि ये वनवासी जातियाँ भटकने वाली थीं। इनमें स्वार्थ कम और परमार्थ ज्यादा दिखाई देता था जो मानव जीवन के मूल्यों पर केन्द्रित है। प्रकृति के साथ ही रहना और उसे ही भोगना इनका जीवन था। बदलते परिवेश में अपने को बदलने का एक अलग जज्बा होता रहा है। सामाजिक और सांस्कृतिक पर्वों में भी धीरे-धीरे इनका बदलाव देखा जाने लगा। धर्म पालन, गौ, स्त्री और बाल रक्षा, शरणागत की रक्षा भगौड़े और विपन्न शत्रु की अबध्यता, विनम्रता, साहस, सत्य निष्ठा, न्यायप्रियता वनवासियों का प्रमुख गुण था जो धीरे-धीरे भौतिकता में बदलने लगा।

*महामहिम राष्ट्रपति व राज्यपाल द्वारा पुरस्कृत प्रधानाध्यापक, ओम उर्मिला सदन, बलरामदास धर्मशाला के बगल में, राबर्ट्सगंज, सोनभद्र – 231 216.

करमा नृत्य

तत्वतः वनवासियों की जीवनशैली, लोक जीवन, लोकगीत, लोकनृत्य, उत्सव, धार्मिक अनुष्ठान, लोक-कथायें, लोक-गाथाएँ सभी प्रकृति के समस्त पर्यावरणीय कारकों पर आधारित और उनकी उपस्थिति में त्रिगुण शैली पर आधारित होते रहे हैं। मनोरंजन, फसलों का रोपण, उनकी कटाई आदि अवसरों पर भी मिल-जुलकर जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि और आकाश को साक्षी मानकर उसे पूर्ण करते रहे हैं। करमा नृत्य जो प्रमुख घसिया जाति का होता है उसमें ''करम'' वृक्ष के डाली को उत्सव पूर्वक वन से लाते हैं और आंगन में गाड़कर स्त्री-पुरूष सभी एक साथ गोले में हाथ से हाथ मिलाकर पैर में लोहे के कड़े, कमर में गुरिया की पेट, घुटने तक की धोती, पगड़ी, बण्डी पहन कर पुरूष तथा झुल्ला और साड़ी पहनकर स्त्रियाँ बड़े उमंग के साथ गाती हैं और पुरूषों के हाथ में मानर और कसनहटी रहती है। हाथ में मशाल लिये भी एक आदमी खड़ा रहता है और करम देव के लिये निम्नलिखित गीत गाते हैं-

हे करम देवता, तोहार नामें रहली उपासे।
हे करम देवता, हो आज चल अँगनवाँ में ठाढ़॥

वनवासियों की पहचान उनके पहनावे और आभूषणों से होती है। स्त्रियों में आभूषण स्वरूप गोदना अंग-अंग में विद्यमान रहते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक इनके संस्कार बड़े दृढ़ विचारधारा से युक्त होते रहे हैं। इनकी न्याय व्यवस्था भी बड़ी कठोर और पंचायत द्वारा सम्पन्न की जाती रही है। टोना-टोटका में भी प्रकृति का सहारा वे लिया करते थे। प्रत्येक संस्कार उनकी अपनी भाषा, शैली, लोक गाथाओं के आधार पर निर्धारित गीतो के माध्यम से पूर्ण होता रहा है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि वनवासीजन वीर, बहादुर, स्वस्थ, ईमानदार, कर्तव्यपरायण, चरित्रवान, कार्यकुशल, अज्ञापालक, बचन व धुन के पक्के, घर परिवार व समाज के प्रति जिम्मेदार, दहेज और नशाखोरी आदि कुरीतियों के विरोधी और जीवन के प्रति जागरूक होते रहे हैं। नदी सभ्यता, अरण्यों, गुफाओं की सभ्यता आधुनिक जीवन में अतीव उपयोगी सिद्ध हो सकती है और वर्तमान के लोगों को इन चीजों से प्रेरणा लेनी चाहिए।

यद्यपि वर्तमान वैश्विक जीवन और भौतिकतावादी व्यवस्था ने प्रकृति की समस्त व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर डाला है जिसमें मुख्य कारण विकास की धारा की अनियंत्रित प्रतिस्पर्धा है जिसका प्रभाव ज्यादातर कमजोर और दबे कुचले लोगों पर विशेष रूप से पड़ा है। पर्यावरणीय प्रदूषण ने भारत के कोने-कोने में सामाजिक, प्राकृतिक, नैतिक, अध्यात्मिक, चारित्रिक, संस्कारिक सभी पक्षों को विदीर्ण कर जीवन मूल्यों को उद्वेलित कर मानवीय मूल्यों को हीन दशा में पहुँचा दिया है जिसमें यदि कोई विशेषतौर पर प्रभावित हुआ तो वे हैं बेचारे वनवासी। जबकि ये वनवासी, आदिवासी जातियाँ ही भारत की पहचान रहे हैं और मानव जीवन के प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। नदियों को बाँधने, वृक्षों को काटने, वनौषधियों को विनष्ट करने, पहाड़ों के गर्भ में छिपे बहुमूल्य खनिजों को स्वार्थ एवं निजी आर्थिक विकास की भेंट चढ़ाने के कारण पूरी धरा की प्राकृतिक सुषमा विदीर्ण हो गयी जिससे न केवल वनवासी ही पूर्णतया प्रभावित हुए वरन् पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, सभ्यता, संस्कृति, लोक-जीवन, लोक-संगीत सभी विनष्ट होते चले जा रहे हैं जिससे लोकतंत्र की अपूर्णीय क्षति हो रही है। समय रहते सभी वस्तुओं की पुनर्स्थापना का कोई सुदृढ़ मार्ग ढूँढ़ कर नये भारत का ऐतिहासिक निर्माण करने की आवश्यकता है जिसमें देश में व्याप्त प्रदूषणों यथा- जल, वायु, ध्वनि, मानसिक प्रदूषणों की दिशा बदलने की परम आवश्यकता है। वनवासी जातियों की देश की सम्पन्नता और कृषि की सफलता हेतु लोकगीत का एक दृश्य देखें जो उनकी संकल्पना का आधार होता था-

कमजोरन क बल बनल जाई हो।
तब ई धरती सरग बनि जाई हो॥
दुई चारि क लाठी होला एक जनि क बोझा।
बइदा ओइके रोग बतावै भूत बतावै ओझा।
अइसन दिन कबहूँ लुकाई हो।
तब ई धरती सरग बनि जाई हो॥
अलग-अलग काती क जब तनी ताना बाना।
एकइ जगहे रखाई जब कूटि-कूटि के दाना।
ओही में सबके हिस्सा बँटाई हो।
तब ई धरती सरग बनि जाई हो॥
भिखमंगा जब कतहूँ न दिखाई।
हमहन क दुन्नउ हाथ जगरनाथ सब बनाई।
अउरउ हरियर फसल लहलहाई हो।
तब पूरी धरती सरग बनि जाई हो॥

यह लोक गीत वनवासियों, आदिवासियों, जन-जातियों के समुन्नत भारत के भविष्य की संकल्पना का द्योतक है। किन्तु पर्यावरणीय प्रदूषण ने उन्हें उनकी जीवन शैली, उनकी मूल्यपरक जीवन की झाँकी आदि सभी को झकझोर कर उन्हें दिशाहीन कर दिया है जो देश के स्वर्णिम ऐतिहासिक संकल्पना पर प्रश्न चिन्ह निर्मित करता है। आज देश के प्रत्येक नर-नारी, बुद्धिजीवी, वैज्ञानिक, अभियन्ता, साहित्यकार, पत्रकार, कथाकार, धार्मिक अनुष्ठानों में लगे साधु-महात्मा सभी को गम्भीर चिन्तन कर एक नये भारत का निर्माण करने की आवश्यकता है जिससे भारत की अस्मिता सुरक्षित रहे।

त्रिदिवसीय अंतर्राष्ट्रीय राजभाषा वैज्ञानिक सम्मेलन

डा0 दुर्गादत्त ओझा*

नई दिल्ली, रक्षा अनुसंधान और विकास संगठन (डी.आर.डी.ओ.) द्वारा विश्व की प्रगति में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का योगदान विषयक त्रिदिवसीय राजभाषा वैज्ञानिक सम्मेलन 5 से 7 दिसम्बर 2013 को डी.आर.डी.ओ. के मेटकॉफ हाऊस के डॉ. एस. भगवन्तम सभागार में सम्पन्न हुआ। वस्तुतः भारत के इतिहास में विज्ञान के क्षेत्र में हिन्दी में यह पहला एवं ऐतिहासिक सम्मेलन था। इस सम्मेलन का उद्घाटन भारत सरकार के गृह मंत्रालय के राजभाषा विभाग के सचिव श्री अरूण कुमार जैन ने किया तथा अध्यक्षता डी.आर.डी.ओ. के महानिदेशक, रक्षा सचिव तथा रक्षा मंत्री के वैज्ञानिक सलाहकार पद्मभूषण श्री अविनाश चंदर ने की। इस सम्मेलन में 800 से अधिक देश-विदेश के प्रतिभागियों ने भाग लिया। सम्मेलन में 604 शोध-पत्र एवं आलेख, जो विज्ञान और प्रौद्योगिकी से जुड़े सभी विषयों से संबंधित थे, प्राप्त हुए। इस महासम्मेलन में 31 देशों के प्रतिभागी प्रमुखतः अमेरिका, केन्या, अर्जेन्टीना, कोरिया, मॉरिशस, युक्रीन, दक्षिण अफ्रिका, मंगोलिया, इंडोनेशिया, जापान, रूस, फ्रांस, स्पेन आदि अनेक देशों से ने भाग लेकर अपने शोधपत्रों का प्रस्तुतिकरण राजभाषा हिंदी में किया।

सम्मेलन के मुख्य अतिथि श्री जैन अपने उद्बोधन में कहा कि सभी क्षेत्रों में हिन्दी के सरलीकरण की आवश्यकता है। उन्होंने कहा कि इस अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में इतनी अधिक संख्या में जनभागीदारी उन लोगों के इस प्रश्न का जवाब है कि हिन्दी में विज्ञान का प्रचार-प्रसार तथा लेखन संभव नहीं है। उन्होंने विज्ञान के सभी विषयों पर हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य उपलब्ध करवाने की आवश्यकता पर बल दिया।

कार्यक्रम के अध्यक्ष और रक्षा मंत्री के वैज्ञानिक सलाहकार श्री अविनाश चन्दर ने कहा कि इस सम्मेलन का विषय सम-सामयिक है। उन्होंने भारत के अतीत के निष्जात वैज्ञानिकों के विज्ञान के उन्नयन में दिए गए अवदान को सराहा और बताया कि हिन्दी में विज्ञान साहित्य अभी भी अत्यल्प हैं और आशा व्यक्त की इस सम्मेलन के माध्यम से हिन्दी में प्रचुर विज्ञान साहित्य का सृजन होगा। उन्होंने भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व. श्री पी.वी. नरसिंहा राव की पुस्तक का उदाहरण देते हुए बताया कि ''किसी भी देश में विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास विदेशी भाषा में नहीं हो सकता है''। उन्होंने कहा कि भारत जैसे देश में विज्ञान और प्रौद्योगिकी का लाभ जन-मानस तक पहुँचाने में हिन्दी भाषा में उपलब्ध विज्ञान साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

कार्यक्रम के पूर्व में डी.आर.डी.ओ. के उत्कृष्ट वैज्ञानिक तथा मुख्य नियंत्रक (मानव संसाधन और प्रौद्योगिकी प्रबंधन) डॉ. जी. मालकोंडैया ने कहा कि डी.आर.डी.ओ. के इतिहास में राजभाषा में विज्ञान विषयक यह पहला महासम्मेलन है जिसमें 60 विदेशी प्रतिभागी भाग ले रहे हैं। उन्होंने कहा कि डी.आर.डी.ओ., इसरो तथा परमाणु ऊर्जा विभाग द्वारा संयुक्त रूप से लगाई गई अपने उत्पादों की प्रदर्शनी भी ज्ञानवर्द्धक रहेगी। राजभाषा संगोष्ठी के आयोजन अध्यक्ष डेसीडॉक के निदेशक श्री सुरेश कुमार जिंदल ने सम्मेलन की पृष्ठभूमि के बारे में भी जानकारी दी और बताया कि विज्ञान संगोष्ठी में 36 तकनीकी सत्रों में समकालीन विज्ञान, पर्यावरण व ऊर्जा, उन्नत पदार्थ, वैज्ञानिक अनुसंधान, आज की हिन्दी, वैज्ञानिक अनुसंधान तथा विकास, चिकित्सा विज्ञान एवं स्वास्थ, रक्षा विज्ञान, कृषि विज्ञान तथा पशुपालन, पुस्तकालय विज्ञान, सूचना विज्ञान, विज्ञान एवं संस्कृति डाटा विश्लेषण, वर्तमान वैज्ञानिक अनुसंधान, विज्ञान संचार जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर 276 शोधपत्रों तथा पोस्टर के रूप में 150 शोधपत्रों का प्रस्तुतिकरण हुआ।

आयोजन सचिव श्री फुलदीप कुमार ने बताया कि इस महासम्मेलन में पंजीकरण निःशुल्क था। अंतर्राष्ट्रीय विज्ञान सम्मेलन में 11 प्लेनेरी व्याख्यान भी आयोजित किए गए जिनमें देश के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों में प्रमुखतः प्रो. केशरी लाल वर्मा, प्रो. मोहन, डॉ. एस.के. सलवान, डॉ. वी.एन. बापट और प्रो. एच.एस. चहल आदि ने ज्ञानोपयोगी व्याख्यान दिए। तकनीकों सत्रों की अध्यक्षता भी देश के लब्धप्रतिष्ठ विज्ञान संचारकों मुख्यतः डॉ. ओम विकास, प्रो. प्रदीप अहलावत, श्री प्रदीप शर्मा, डॉ. हसन जावेद खान, डॉ. के.के. मिश्रा, डॉ. मनोज दुहन, डॉ. जी.एस. ग्रोवर, डॉ. सुबोध मोहंती, डॉ. डी.डी. ओझा, डॉ. परमानंद पांचाल, प्रो. हरीश कुमार आदि ने की। निःसंदेह यह राजभाषा में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय विज्ञान सम्मेलन पूर्णरूप से सफल, सूचनाप्रद एवं प्रेरणास्पद रहा। अंत में राजभाषा संगोष्ठी कृतज्ञता में श्री सुरेश कुमार शर्मा ने धन्यवाद ज्ञापित किया।

*'गुरुकृपा', ब्रह्मपुरी, हजारी चबूतरा, जोधपुर – 342 001.

21वाँ राष्ट्रीय बाल विज्ञान काँग्रेस में दिखे नन्हीं सोच के बड़े कारनामें

डा0 इरफान ह्यूमन*

21वीं राष्ट्रीय बाल विज्ञान काँग्रेस का आयोजन 27 से 31 दिसम्बर, 2013 तक मध्य प्रदेश विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी परिषद, भोपाल में किया गया। इसमें 10 से 14 आयुवर्ग के जूनियर और 15 से 17 आयुवर्ग के सीनियर विद्यार्थियों ने ऊर्जा प्रणाली, ऊर्जा एवं समाज, ऊर्जा एवं पर्यावरण, ऊर्जा प्रबन्धन एवं संरक्षण तथा ऊर्जा-योजना एवं मॉडलिंग जैसे उपविषयों पर वैज्ञानिक परियोजनाएँ प्रस्तुत कीं।

राष्ट्रीय बाल विज्ञान काँग्रेस में दो वर्षों के लिए एक केन्द्रीय विषय होता है जो इस वर्ष का था ''ऊर्जा : सम्भावनाएँ, उपयोग और संरक्षण''। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग, भारत सरकार के राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी परिषद (एनसीएसटीसी) द्वारा उत्प्रेरित और एनसीएसटीसी-नेटवर्क द्वारा आयोजित इस पाँच दिवसीय आयोजन के पहले दिन ''वॉक फॉर साइंस'' नामक बाल वैज्ञानिक यात्रा आयोजन किया गया। इसमें देश-विदेश से आए लगभग दो हजार से अधिक बाल वैज्ञानिक एवं शिक्षकों ने भाग लिया। कार्यक्रम का शुभारम्भ विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग के प्रमुख डा0 वी.पी. सिंह और एनसीएसटीसी-नेटवर्क के अध्यक्ष ई. अनुज सिन्हा ने हरी झण्डी दिखाकर किया। इसमें यू.ए.ई. और एशियाई देशों के बच्चों सहित अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह, लक्षद्वीप, जम्मू और कश्मीर सहित देश के सभी राज्यों के साथ केन्द्रीय विद्यालय समिति के संबंधित विद्यालयों के विद्यार्थियों ने भाग लिया। इस सत्र में प्रख्यात शिक्षाविद् और वैज्ञानिक पद्मविभूषण प्रो0 यशपाल ने दीप प्रज्जवलित कर काँग्रेस का शुभारम्भ किया। उन्होंने बाल वैज्ञानिकों से सृजनात्मकता से जुड़ने का आह्वान करते हुए कहा कि बच्चे अपनी वैज्ञानिक परियोजनाओं में नवीनता लायें और उसे नवाचारी बनायें तभी नवीन वैज्ञानिक शोधों के मार्ग प्रशस्त होंगे। उन्होंने विज्ञान के सामाजीकरण पर बल देते हुए कहा कि विज्ञान वास्तव में समाज का ही एक हिस्सा है, इसे अलग नहीं समझना चाहिए।

कार्यक्रम में डा0 बी.पी. सिंह ने कहा कि आज हम विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता हासिल करते जा रहे हैं, लेकिन शिक्षित समाज में घटने वाली अंधविश्वास की घटनायें हमारी अवैज्ञानिक मानसिकता को दर्शाती हैं। हमें आधुनिकता की दौड़ में प्राचीन उपलब्धियों को भूलना नहीं चाहिए, लेकिन ऐसी परम्पराओं को भी नहीं थोपना चाहिए, जो अवैज्ञानिक हों। ई. अनुज सिन्हा ने कहा कि इस आयोजन में रंगों, संस्कृतियों, भाषाओं और वैज्ञानिक विचारों की विविधता दिख रही है। एनसीएसटीसी के वरिष्ठ वैज्ञानिक डा0 डी.के. पाण्डेय ने काँग्रेस को एक अनूँठा प्रयोग बताते हुए कहा कि बच्चों को हर काम विज्ञान विधि से करके सिखाया जाय। मध्य प्रदेश विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी परिषद के महानिदेशक डा0 पी.के. वर्मा ने कहा कि विज्ञान जीवन के हर कदम पर है और यह जीवन जीने की कला है।

बाल विज्ञान काँग्रेस में एक प्रदर्शनी का आयोजन भी किया गया, जिसका उद्घाटन बाल वैज्ञानिक जोया फातिमा ने किया। प्रदर्शनी में मध्य प्रदेश विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी परिषद, एनसीएसटीसी-नेटवर्क, विज्ञान प्रसार, ओरीगैमी और कीरीगैमी, विज्ञान सदन, साइंस इंडिया, एड्वांस मैटेरियल एण्ड प्रोसेस रिसर्च इंस्टीट्यूट, कम लागत के वैज्ञानिक प्रयोग, अंकुर हॉबी सेंटर, हाइड्रोपॉनिक्स तकनीक, एकलव्य, भोपाल, साइंस सेंटर, इंदौर, साइंस एण्ड काएनात सोसाइटी, वैज्ञानिक दृष्टिकोण सोसाइटी, जयपुर, इनोवेटिव साइंस टीचर कार्नर, रायसेन, विज्ञान लोकप्रियकरण एवं सामाजिक शोध संस्था, रायसेन, आंचलिक विज्ञान केन्द्र, भोपाल चिल्ड्रेन साइंस सेंटर, इंदौर, एम.पी. विज्ञान सभा, साइंस फॉर सोसाइटी, बिहार, साइंस कम्यूनिकेटर फोरम, कोलकता, टोटल प्रोजेक्ट सॉल्यूशन, रोबोटिक्स, भोपाल एक्सीलेंट साइंस क्लब, उज्जैन, पंजाब राज्य विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी परिषद, गणित समिति, कपूरथला, गुजरात राज्य विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी परिषद और साइंस सेंटर, भोपाल आदि ने बच्चों को वैज्ञानिक जानकारियाँ दीं। यहाँ निःशुल्क तारामण्डल भी लगाया, जहाँ बच्चों ने ब्रह्माण्ड के गूढरहस्यों को जाना।

इस दौरान शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण कार्यशाला का भी आयोजन किया गया। मध्य प्रदेश विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी परिषद के वरिष्ठ वैज्ञानिक डा0 प्रवीण डिधर्रा के संचालन में डा0 नरेन्द्र नायक ने जादू व चमत्कारों की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। वहीं डा0 जयंत बी. फाल्के द्वारा रसायन विज्ञान, डा0 एच.सी. प्रधान द्वारा भौतिक विज्ञान, डा0 ज्योति शर्मा द्वारा महिला सशक्तिकरण और डा0 बी.एन. दास द्वारा खेल-खेल में विज्ञान विषयों पर अपने व्याख्यान प्रस्तुत किये।

राष्ट्रीय बाल विज्ञान काँग्रेस में बच्चों की वैज्ञानिक जिज्ञासाओं को शांत करने के लिए वीडियों कॉन्फ्रेंसिंग और संध्याकालीन सत्र में फेस टू फेस कार्यक्रम में बच्चों ने वैज्ञानिकों के सीधे संवाद किये। इसमें पहले दिन प्रख्यात वैज्ञानिक प्रो0 यशपाल ने बच्चों के अटपटे सवालों के विज्ञानपरक चटपटे जवाब दिये। दूसरे दिन डा0 जयंत फाल्के ने और तीसरे दिन डा0 ए.के. बिसारिया ने बच्चों के प्रश्नों के समाधान किये।

राष्ट्रीय बाल विज्ञान काँग्रेस में 9 सांस्कृतिक कार्यक्रमों सहित 5 पोस्टरों और 20 परियोजनाओं का चयन कर पुरस्कृत किया गया। सभी पुरस्कृत बाल वैज्ञानिकों और राष्ट्रीय बाल विज्ञान काँग्रेस के राज्य समन्वयकों को मंचासीन अतिथियों ने प्रमाण-पत्र और स्मृति चिन्ह देकर सम्मानित किया।

*संपादक-साइंस टाइम्स न्यूज एण्ड व्यूज, 67 अन्टा, रेलवे मैदान, शाहजहाँपुर – 242 001.

विभिन्न महाद्वीपों की समस्याओं एवं परिस्थितियों में समानता नहीं

जगनारायण*

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के विज्ञान संकाय के 'भूगोल विभाग' एवं 'एशियन अरबन रिसर्च एसोसियेशन' के संयुक्त तत्वावधान में 28 दिसम्बर से 30 दिसम्बर तक 'बारहवीं अन्तर्राष्ट्रीय नगरीकरण संगोष्ठी' का आयोजन हुआ संगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए मुख्य अतिथि प्रख्यात भूगोलवेत्ता एवं प्रयाग विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति प्रो0 आर.पी. मिश्रा ने कहा कि यूरोप, अमेरिका और एशिया के देशों की नगरीय समस्यायें और परिस्थितियाँ एक जैसी नहीं हैं। एशिया से सम्बन्धित नगरीकरण के अध्ययन के लिए हमें इस महाद्वीप के भौगोलिक यथार्थ को आधार बनाना चाहिए। उन्होंने विकास प्रक्रिया में गाँधीवादी दृष्टिकोण को महत्वपूर्ण और उपयोगी बतलाया। एशियन अरबेनाइजेशन रिसर्च एसोसियेशन के वरिष्ठ सदस्य एवं अमेरिका स्थित शिपेनबर्ग विश्वविद्यालय के भूगोलवेत्ता 'जार्ज पोमेरा' ने एशियाई देशों के शहरीकरण सम्बन्धी चुनौतियों को समझने और उसके निराकरण के लिए भारत और चीन से प्राप्त अनुभवों का अध्ययन करने पर जोर दिया। अमेरिका स्थित वेस्टर्न विश्वविद्यालय के प्रो0 देवनाथ मुखर्जी ने एशिया के दो बड़े देश भारत और चीन में हो रहे शहरी विकास की प्रक्रिया से सम्बन्धित आंकड़ों के आधार इस महाद्वीप के शहरी विकास को आगे बढ़ाने की चर्चा की। रोमानिया के 'बूडापेस्ट विश्वविद्यालय' की प्रो0 लुसियाना ने नगरीकरण, गरीबी, स्वास्थ्य एवं पर्यावरण के बीच सामंजस्य की चुनौतियाँ पर व्याख्यान दिया। संगोष्ठी के संयोजक एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भूगोलवेत्ता प्रो0 बी.आर.के. सिन्हा ने कहा कि आगे आने वाले दिनों में नगरीकरण, पर्यावरण और विकास की चुनौतियों को समझने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर विचारों का आदान-प्रदान नितान्त आवश्यक है। संगोष्ठी में एशिया के शहरी विकास सम्बन्धी लगभग तीन सौ शोध पत्रों के माध्यम से पर्यावरण, आर्थिक, सामाजिक एवं अन्य समस्त पक्षों पर अमेरिका, फ्रांस, रोमानिया, नेपाल, भूटान, दक्षिणी अफ्रीका, बांग्लादेश, पाकिस्तान, श्रीलंका, ईरान, चीन, इटली, हंगरी, रूस, कनाडा से आये विद्वानों ने अपने विचार रखे।

संगोष्ठी के समापन सत्र में प्रख्यात भूगोलविद एवं महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ के कुलपति डॉ0 पृथ्वीश नाग ने कहा कि एशिया की भौगोलिक, सामाजिक और पर्यावरणीय परिस्थितियाँ यूरोप और अमेरिका से अलग हैं।

यदि इनके तथ्यों को मापदण्ड बनाकर भारतीय शहरीकरण का अध्ययन करेंगे तो परिणामों में बहुत अन्तर आयेगा। डॉ0 नाग ने कहा कि आज शहरी जीवन शैली का गाँवों की ओर फैलाव भूगोल के साथ ही शहरीकरण सम्बन्धी अध्ययन के लिए एक नया विषय है। इस अवसर पर नेपाली मूल के अमेरिकी प्रोफेसर डॉ0 केशव भट्टराई ने कहा कि एशियाई देशों के शहरीकरण को समझने के लिए ग्रामीण विकास, विस्थापन, प्रवर्जन, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का समन्वित अध्ययन एक अनिवार्य पक्ष है।

*''हिन्दी विज्ञान संचारक'', श्री विश्वनाथ मंदिर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी – 221 005.

हिमालयी प्राकृतिक सम्पदा एवं जैवविविधता संरक्षण में सहायक हैं स्थानीय पारम्परिक ज्ञान

प्रो0 कविता शाह, प्रशान्त शर्मा एवं मुनीश कुमार*

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के 'पर्यावरण एवं धारणीय विकास संस्थान' द्वारा राजीव गाँधी दक्षिणी परिसर, मिर्जापुर में ''जलवायु परिवर्तन के युग में धारणीय जल संसाधन प्रबंधन'' विषयक दो दिवसीय (10-11 जनवरी, 2014) राष्ट्रीय परिसंवाद का आयोजन किया गया।

इस परिसंवाद के मुख्य अतिथि प्रसिद्ध समाजिक कार्यकर्ता एवं पर्यावरणविद् तथा चिपको आंदोलन के सक्रिय सदस्य पद्मभूषण श्री चण्डी प्रसाद भट्ट थे। उन्होंने हिमालय में स्थित प्रचुर जैव विविधता तथा प्राकृतिक सम्पदा की ओर ध्यान आकृष्ट कराते हुए कहा की स्थानीय समुदायों का पारम्परिक ज्ञान हिमालय की प्राकृतिक सम्पदा एवं जैवविविधता को संरक्षित रखने में सहायक सिद्ध हो सकती है। संस्थान के निदेशक प्रो0 ए.एस. रघुवंशी ने वर्तमान सन्दर्भ में जल उपलब्धता व प्रबन्धन की धारणीय विधियों पर चर्चा की। राजीव गाँधी दक्षिणी परिसर के विशेष कार्याधिकारी प्रो0 आर.पी. सिंह ने इस प्रकार की संगोष्ठियों के अधिक से अधिक आयोजन पर बल दिया। कार्यक्रम के सम्मानित अतिथि मोती लाल नेहरू राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी संस्थान, इलाहाबाद के डॉ0 एच.के. पाण्डेय ने भूजल संसाधन : वर्तमान परिदृश्य एवं भावी चुनौतियों पर व्याख्यान प्रस्तुत किया। प्रारम्भ में संगोष्ठी की आयोजन सचिव प्रो0 कविता शाह ने अतिथियों का स्वागत करते हुए संगोष्ठी के उद्देश्यों से अवगत कराया। इस अवसर पर संगोष्ठी की शोध सारांशिका का लोकार्पण भी किया गया। कृषि विज्ञान संस्थान, का.हि.वि.वि. के उद्यान विभाग के प्रो0 अनिल कुमार सिंह ने कृषि क्षेत्र में जल के धारणीय उपयोग एवं सिंचाई की नवीन विधियों को जनसामान्य तक सुलभ कराने पर बल दिया। भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, बीएचयू के सिविल इंजीनियरिंग विभाग के अध्यक्ष प्रो0 देवेन्द्र मोहन ने भारी धातुओं का जीव-जन्तुओं पर विषैले प्रभावों का वर्णन किया। भारतीय सब्जी अनुसंधान संस्थान, वाराणसी के वैज्ञानिकों डॉ0 एस.एन.एस. चौरसिया तथा डॉ0 ए.बी. सिंह ने सब्जी उत्पादन सम्बन्धी व्याख्यान प्रस्तुत किये।

समापन सत्र की अध्यक्षता वनस्पति विज्ञान विभाग, का.हि.वि.वि. के प्रो0 आर.एस. उपाध्याय ने की तथा कृषि विज्ञान केन्द्र, का.हि.वि.वि. के समन्वयक प्रो0 श्री राम सिंह विशिष्ट अतिथि रहे। इस सत्र में प्रो0 आर.पी.सिंह, प्रो0 जी.एस.सिंह, डॉ0 आर.के.मल, डॉ0 आर.पी. सिंह, डॉ0 पी.सी. अभिलाष, डॉ0 जे.पी. वर्मा, डॉ0 टी. बनर्जी, डॉ0 अनिल पाण्डेय, डॉ0 रजनी श्रीवास्तव, डॉ0 विजय कृष्ण सहित अनेक शिक्षक व शोध छात्र-छात्रायें उपस्थित रहे। संगोष्ठी के शोध कार्यों के मौखिक प्रस्तुतियों में से चार को पुरस्कृत भी किया गया। समापन कार्यक्रम का संचालन एवं धन्यवाद ज्ञापन प्रो0 कविता शाह ने किया।

*पर्यावरण एवं धारणीय विकास संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी – 221 005.

ग्रामीण भूजल कार्यशाला एवं प्रशिक्षण कार्यक्रम

डा0 मधुज्योत्सना*

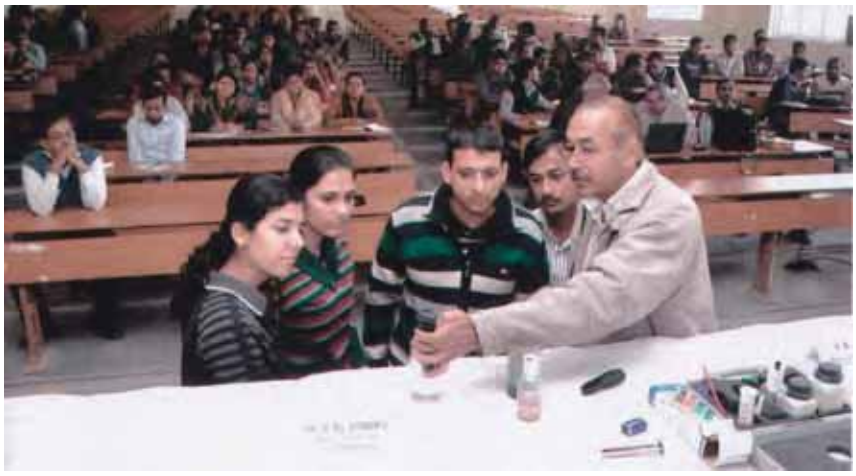

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के विज्ञान संकाय के व्याख्यान संकुल सभागार में केन्द्रीय भूजल बोर्ड की तरफ से गत 21-12 नवम्बर को ग्रामीण भूजल सम्भरण विषय पर दो दिवसीय कार्यशाला एवं प्रशिक्षण कार्यक्रम का आयोजन किया गया। इस कार्यक्रम में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के लगभग दो सौ छात्र-छात्राओं ने भाग लिया। 22 नवम्बर को दीप प्रज्वलन के बाद, उद्घाटन भाषण में मुख्य अतिथि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलसचिव और भूगर्भ जल वैज्ञानिक प्रो. गिरिजा शंकर यादव ने ग्रामीण क्षेत्रों में जल से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों और भूजल के प्रदूषणकारी परिस्थितियों को रेखांकित किया। उन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों में भूजल के प्रदूषणकारी तत्वों के अनिष्टकारी प्रभाव से बचाव के उपायों पर भी चर्चा की।

उद्घाटन सत्र में केन्द्रीय भूजल बोर्ड के क्षेत्रीय निदेशक डा. के.बी. विश्वास ने कहा कि उत्तर प्रदेश के सतहत्तर ब्लाकों में भूजल के अत्यधिक दोहन के कारण स्थिति भयावह हो चली है। इन क्षेत्रों में फसलों की सिंचाई और उद्योगों में भूजल की खपत में हो रही निरन्तर वृद्धि के अनुपात में भूजल सम्भरण का न होना सबसे बड़ी समस्या है। उन्होंने वाराणसी में 50 मीटर की गहराई तक के पानी में खतरनाक संखिया (आर्सेनिक) की उपस्थिति पर चर्चा किया और कहा कि यदि इस पर ध्यान नहीं दिया गया तो हालात खतरनाक हो जायेंगे। उन्होंने बताया कि वाराणसी में भूजल में संखिया के बढ़ते प्रभाव के सम्बन्ध में केन्द्रीय भूजल बोर्ड की ओर से प्रदेश सरकार को आगाह किया जा चुका है।

इन क्षेत्रों में फसलों की सिंचाई और उद्योगों में भूजल की खपत में हो रही निरन्तर वृद्धि के अनुपात में भूजल सम्भरण का न होना सबसे बड़ी समस्या है। उन्होंने वाराणसी में 50 मीटर की गहराई तक के पानी में खतरनाक संखिया (आर्सेनिक) की उपस्थिति पर चर्चा किया और कहा कि यदि इस पर ध्यान नहीं दिया गया तो हालात खतरनाक हो जायेंगे। उन्होंने बताया कि वाराणसी में भूजल में संखिया के बढ़ते प्रभाव के सम्बन्ध में केन्द्रीय भूजल बोर्ड की ओर से प्रदेश सरकार को आगाह किया जा चुका है।

तकनीकी सत्रों में छात्र प्रशिक्षुओं को केन्द्रीय भूजल बोर्ड के वैज्ञानिकों और अधिकारियों ने ग्रामीण भूजल सम्बन्धी सैद्धांतिक और व्यावाहारिक जानकारियाँ दी और उनकी शंकाओं का भी निवारण किया।

विभिन्न तकनीकी सत्रों में डा. डी.एस. पाण्डेय ने जल में संखिया और नाइट्रेट की समस्यायें और उससे बचाव के उपाय तथा डा. राकेश सिंह ने 'रेन वाटर हार्वेस्टिंग' तरीकों और उससे जुड़ी समस्याओं से अवगत कराया। भू-वैज्ञानिक डा. एस.के. सिंह ने भूजल जाँच की प्रक्रिया, उसकी रिकार्डिंग और प्रबन्धन तथा पानी की खोज और पर्याप्त जल प्राप्ति वाले स्थानों के तकनीकीय चिन्हांकन की जानकारी दी। बताया कि भू-जल में उपस्थित प्रदूषणकारी तत्वों से किडनी तथा फ्लोराइड से दाँतों की समस्या तथा हड्डियों के रोग पैदा होते हैं।

कार्यक्रम के समापन सत्र में प्रशिक्षुओं ने अपने विचार व्यक्त किये। तत्पश्चात् डा. डी.एस. पाण्डेय एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भूगर्भ-विभागाध्यक्ष प्रो. सत्येन्द्र सिंह और भूगोल विभागाध्यक्ष प्रो. राणा पी.वी. सिंह ने प्रशिक्षुओं को प्रमाण-पत्र प्रदान किया।

*सहायक आचार्या, धीरेन्द्र महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, करमाजीतपुर, सुन्दरपुर, वाराणसी-221 005.

साईटून आइवरर यूशिएल*

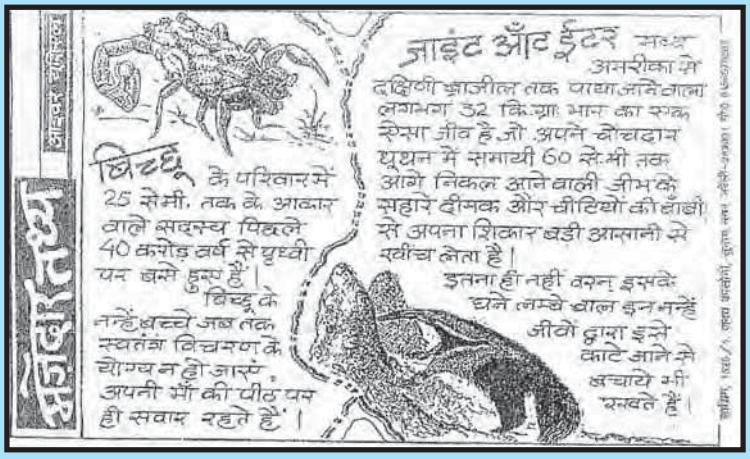

*लोकप्रिय बाल विज्ञान लेखक, ज्ञाशिम, सी-203, कृष्णा काउण्टी, रामपुर-नैनीताल मिनी बाईपास, बरेली-243 122.

पाठकों के पत्र

महोदय,

आकर्षक कलेवर एवं वैज्ञानिक सामग्री से युक्त हिन्दी प्रकाशन समिति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की अर्द्धवार्षिक पत्रिका विज्ञान-गंगा का छठाँ अंक प्राप्त हुआ। उक्त पत्रिका में प्रकाशित वैज्ञानिक लेखों के अध्ययन उपरान्त यह अनुभूत हुआ कि संपादक मण्डल तथा लब्धप्रतिष्ठ वैज्ञानिकों एवं शिक्षाविदों ने हिन्दी भाषा में वैज्ञानिक तथा तकनीकी लेख तैयार करने में कड़ा परिश्रम किया है। आपका यह सम्मिलित प्रयास इस बात के लिए प्रेरणादायी है कि नवीन वैज्ञानिक अनुसंधानों, लेखों एवं तकनीकी सिद्धान्तों का मौलिक रूप से राजभाषा हिन्दी में प्रकाशन किया जा सकता है।

आकर्षक पृष्ठसज्जा, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी से संबद्ध छाया-चित्रों तथा वर्गीकृत लेखों ने पत्रिका को और अधिक सुरुचिपूर्ण बना दिया है।

पत्रिका की उत्तरोत्तर प्रगति की कामना के साथ,

डॉ0 वेदप्रकाश सिंह
उपकुलसचिव एवं संपर्क अधिकारी (हिन्दी)
राजभाषा प्रकोष्ठ, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, कानपुर.

महोदय,

गत माह अवधूत भगवान राम महाविद्यालय अनपरा, सोनभद्र (उ.प्र.) में आयोजित एक राष्ट्रीय विज्ञान पर्यावरण संगोष्ठी में वक्ता के तौर पर प्रतिभाग करने की अवधि में डॉ. दया शंकर त्रिपाठी द्वारा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की विज्ञान पत्रिका ''विज्ञान-गंगा'' मुझे प्राप्त हुई जिसे पढ़कर मुझे अपार प्रसन्नता हुई। पत्रिका में मुद्रित विषय वस्तु सारगर्भित, अन्वेषणपरक, ज्ञानार्जन के प्रसार में लोक हितार्थ तथा पर्यावरणीय दुर्व्यवस्था एवं उसके निवारणार्थ अनेक उपाय, जल जंगल जमीन की दशा एवं सबकी सुरक्षा, अनेक वैज्ञानिक ज्ञानपरक तथ्य, पुस्तकों की समीक्षा, प्रौद्योगिकी व चिकित्सा के विभिन्न आयाम, खगोल विज्ञान आदि गम्भीर विषयों का दर्शन, मानव मन को अभिप्रेरित करने की दिशा में उपयोगी हैं। आपकी पत्रिका ''विज्ञान-गंगा'' विश्व में अपनी अमिट छाप छोड़े और युगों-युगों तक अपने प्रकाश पुंज से जनमानस को आलोकित करती रहे, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ -

ओम प्रकाश त्रिपाठी
ओम-उर्मिला सदन, बलरामदास धर्मशाला के पास,
राबर्ट्सगंज, सोनभद्र–231 216.

मान्यवर,

आपकी उच्चस्तरीय लोकप्रिय पत्रिका ''विज्ञान-गंगा'', वर्ष-3, अंक-6, 2013 को पढ़ने का अवसर मिला। पिछले 5 पठनीय एवं संग्रहणीय अंकों की तुलना में यह अंक और भी बढ़िया है। देखने में तो अंक नयनाभिराम है ही, लेख भी नवीन जानकारियों से युक्त हैं। कविताएँ थोड़े में बहुत कुछ कह जाती हैं। बहुरंगी चित्र जहाँ एक ओर विषयवस्तु को समझने में सहायक हैं, वहीं दूसरी ओर इन्द्रधनुषी छटा बिखेरते हैं। मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि किस रचना की प्रशंसा करूँ और किसे छोड़ दूँ। इसलिए मात्र इतना ही कहना चाहूँगा कि कुल मिलाकर अंक बहुत ही अच्छा है और इसे वर्तमान कलेवर देने में आप लोगों का श्रम और सम्पादन कौशल स्पष्ट परिलक्षित होता है। बधाई और साधुवाद स्वीकारें।

नया वर्ष आप सभी के लिए शुभ हो, मंगलमय हो।

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
पूर्व सम्पादक, 'विज्ञान',
विज्ञान परिषद प्रयाग, महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद–211 002.

माननीय महोदय,

''विज्ञान-गंगा'' का नवीनतम अंक (वर्ष-3 अंक-6) प्राप्त हुआ। नयनाभिराम कलेवर से युक्त पत्रिका का यह अंक भी पूर्व के अंकों की भाँति ही उपयोगी और सारगर्भित जानकारी से परिपूर्ण है। पत्रिका के प्रस्तुत अंक में कृषि, वानिकी, पर्यावरण, प्रदूषण, ऊर्जा, स्वास्थ्य, इलेक्ट्रॉनिकी, अंतरिक्ष विषयक आलेखों से सामवेशित किये जाने से पत्रिका का स्वरूप सर्वांग एवं बहुपयोगी हो गया है।

पत्रिका के कुशल संपादन हेतु आपकी पूरी टीम (विशेष रूप से डॉ0 दया शंकर त्रिपाठी जी एवं डॉ0 देवेश कुमार गुप्त जी) सहित आपको बहुत-बहुत हार्दिक बधाई स्वीकार हो। विश्वास करता हूँ कि भविष्य में पत्रिका में उत्तरोत्तर निखार आता रहेगा और पाठकगण लाभान्वित होते रहेंगे।

नव वर्ष - 2014 की शुभकामनाओं सहित,

डॉ0 दिनेश मणि
पूर्व संपादक, ''विज्ञान'' मासिक पत्रिका
35/3, जवाहर लाल नेहरू मार्ग,
जार्ज टाउन, इलाहाबाद-211 002.

पुरस्कार/सम्मान/सदस्यता/नियुक्ति

प्रो0 मधूलिका अग्रवाल को मिला डॉ0 दलेला ओरेशन-2013 सम्मान

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वनस्पति विज्ञान विभाग की पर्यावरण विज्ञानी एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रकाशित विज्ञान-गंगा के सलाहकार मण्डल की सदस्या प्रो0 मधूलिका अग्रवाल को दलेला एजुकेशन फाउण्डेशन, लखनऊ द्वारा पर्यावरण विज्ञान के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान के लिए सम्मानित किया गया है। यह सम्मान गत दिनों शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर (महाराष्ट्र) में आयोजित ''द एकेडमी ऑफ इन्वायरमेंटल बायोलॉजी'' के 33 वें वार्षिक अधिवेशन में प्रदान किया गया। इस समारोह में प्रो0 अग्रवाल को 10वॉ आर. सी. दलेला ओरेशन-2013 मेडल प्रदान कर सम्मानित किया गया।

प्रो0 रमा शंकर दूबे बने तिल्का माँझी भागलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, जैव रसायन विभाग के पूर्व विभागाध्यक्ष एवं 'विज्ञान-गंगा' सलाहकार मण्डल के सदस्य प्रो0 रमा शंकर दूबे को तिल्का माँझी भागलपुर विश्वविद्यालय का कुलपति नियुक्त किया गया है। उन्होंने गत 07 फरवरी को कुलपति का पदभार ग्रहण कर लिया। प्रो0 दूबे पूर्व में भी छत्तीसगढ़ स्थित गुरु घासी दास विश्वविद्यालय, विलासपुर के कुलपति रह चुके हैं। उनकी उच्च शिक्षा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से पूर्ण हुई है और जैव रसायन अनुसंधान के क्षेत्र में उन्होंने अनेक उल्लेखनीय कार्य किये हैं। वे अनेक राष्ट्रीय समितियों के सदस्य भी हैं।

प्रो0 श्याम सुंदर को ओरेशन अवार्ड

एसोसिएशन ऑफ फिजीसियंस ऑफ इंडिया की यूपी इकाई ने चिकित्सा विज्ञान संस्थान (बीएचयू) के प्रो. श्याम सुंदर को एमपी मेमोरियल ओरेशन अवार्ड- 2013 से नवाजा है। किंग जार्ज मेडिकल यूनिवर्सिटी (लखनऊ) में गत दिनों हुई यूपी इकाई की 31वीं वार्षिक बैठक में यह अवार्ड प्रदान किया गया।

प्रो0 अनिल कुमार त्रिपाठी निदेशक नियुक्त

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, जैव प्रौद्योगिकी विभाग के पूर्व समन्वयक एवं अन्तर्विषयी जीवविज्ञान स्कूल के समन्वयक प्रो0 अनिल कुमार त्रिपाठी को लखनऊ स्थित वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद द्वारा स्थापित अग्रणी शोध संस्थान 'केन्द्रीय औषधीय एवं सगन्ध पौधा संस्थान' का निदेशक नियुक्त किया गया है। उन्होंने गत 17 फरवरी को निदेशक पद का कार्यभार ग्रहण कर लिया है। जैव प्रोद्योगिकी के क्षेत्र में उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण अनुसंधान किये हैं। वे अनेक वैज्ञानिक समितियों के सदस्य भी हैं।

डॉ0 रोहित रंजन शाही को युवा वैज्ञानिक पुरस्कार

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, विज्ञान संकाय के हाइड्रोजन ऊर्जा केन्द्र से जुड़े वैज्ञानिक डॉ0 रोहित रंजन शाही को इंडियन साइंस कांग्रेस एसोसियेशन ने युवा वैज्ञानिक पुरस्कार प्रदान किया है। एसोसियेशन के राष्ट्रीय सम्मेलन में भारत के उपराष्ट्रपति माननीय हामिद अंसारी ने सम्मानित किया। डॉ0 शाही को यह पुरस्कार हाइड्रोजन ऊर्जा भण्डारण के क्षेत्र में विशिष्ट अनुसंधान के लिए दिल्ली में दिया गया।

युवा वैज्ञानिक डॉ0 दिव्या पाण्डेय को पुरस्कार

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वनस्पति विज्ञान विभाग की पूर्व शोध छात्रा डॉ0 दिव्या पाण्डेय को भारतीय विज्ञान कांग्रेस एसोसिएशन (ISCA) ने अपने 101 वें सत्र में 'पर्यावरण विज्ञान' अनुभाग के अर्न्तगत वर्ष 2013-14 के लिए युवा वैज्ञानिक पुरस्कार से सम्मानित किया है। उन्हें यह पुरस्कार गत 3-7 फरवरी, 2014 को जम्मू विश्वविद्यालय में आयोजित विज्ञान सम्मेलन में प्रदान किया गया। डॉ0 पाण्डेय को यह पुरस्कार उनके द्वारा कृषि पद्धतियों के कार्बन फुट प्रिंट की गणना पर अनुसंधान कार्य के लिए दिया गया। उनका पीएचडी शोध कार्य वनस्पति विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रो0 मधुलिका अग्रवाल के निर्देशन में पूर्ण हुआ।

बहुत ही रहस्यमय है हमारा ब्रह्माण्ड

डॉ0 दया शंकर त्रिपाठी*

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के के0एन0 उडप्पा सभागार में दिनांक 27 मार्च, 2014 को आयोजित विशेष व्याख्यान में जाने माने खगोलविद् एवं खगोल विद्या एवं खगोल भौतिकी अन्तर्विश्वविद्यालय केन्द्र, पुणे के इमेरिट्स प्रोफेसर तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पूर्व छात्र प्रो0 जयन्त विष्णु नार्लीकर ने 'हमें अपने ब्रह्माण्ड का कितना सम्यक ज्ञान है?' विषयक व्याख्यान प्रस्तुत किया। प्रो0 नार्लीकर ने कहा कि ब्रह्माण्ड का रहस्य बरकरार है और अभी तक इसके रहस्य और संरचना को लेकर अनेक परिकल्पनाओं एवं सिद्धान्तों को समय-समय पर प्रतिपादित किया जा चुका है। उन्होंने कहा कि अलग-अलग सभ्यता के समय पर जब लोगों से पूछा गया कि आपको अपने ब्रह्माण्ड का कितना सम्यक ज्ञान है तो लोगों का यही जबाब था कि हमें ब्रह्माण्ड के बारे में अच्छी तरह से मालूम है, जबकि ऐसा नहीं है।

बायें से कुलपति डॉ0 लालजी सिंह, प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो0 जे. वी. नार्लीकर, प्रो0 पी. कृष्णा एवं कुलसचिव प्रो0 जी.एस. यादव

उन्होंने कहा कि पहले ऐसा माना जाता था कि ब्रह्माण्ड एक अण्डे के समान है और उसमें सब कुछ विद्यमान है, फिर यह माना जाने लगा कि पूरा ब्रह्माण्ड वृक्ष रूपी संरचना की शाखाओं पर टिका हुआ है। हालाँकि, प्राचीन काल के ब्रह्माण्ड को लेकर जो सिद्धांत थे वे अवैज्ञानिक थे, लेकिन बाद में वैज्ञानिक अवधारणाओं के लिये निरन्तर प्रयास किये गये। पहली वैज्ञानिक परिकल्पना पाइथागोरस की थी, परन्तु इस सिद्धान्त में अनेक कमियाँ थी। ग्रीस में एक अन्य सिद्धान्त तीन वैज्ञानिकों आर्किमीडीज, एरिस्टोकस, एरिस्टोल ने फण्डामेन्टल फिजिक्स का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। गैलीलियों ने सर्वप्रथम बताया कि सूर्य स्थिर है। हबल ने 18-19वीं सदी में आकाश गंगा (गैलेक्सी) का चित्र बनाया, जिसकी परिकल्पना में सूर्य केन्द्र में था, परन्तु 20वीं सदी में पता लगा कि हमारा सूर्य एक किनारे है। पुनः पता चला कि हमारी आकाश गंगा की तरह अन्य आकाश गंगाएँ (गैलेक्सीज) भी हैं। इसका विरोध भी हुआ लेकिन आगे जाकर देखा गया कि हमारी आकाश गंगा एक नहीं अपितु अनेक आकाश गंगाएँ हैं। आइन्स्टाइन ने एक गणितीय मॉडल शुरू किया, यह मानकर कि सभी गैलेक्सीज स्थिर हैं। हबल (1924) ने बताया कि ब्रह्माण्ड स्थिर नहीं है बल्कि फैल रहा है।

प्रो0 नार्लीकर ने अपने व्याख्यान में कहा कि समस्त सभ्यताएँ सोच रही थीं कि उनके काल में ही ब्रह्माण्ड की पूरी जानकारी प्राप्त हो चुकी है लेकिन ऐसा नहीं था। प्रो0 नार्लीकर ने बिगबैंग थियरी पर संशय व्यक्त किया, उन्होंने कहा कि अगर कोई हमसे पूछे कि आप बिगबैंग थियरी के समर्थक हैं तो मैं कहूँगा नहीं। उन्होंने समय-समय पर ब्रह्माण्ड के विषय में की गयी परिकल्पनाओं एवं प्रौद्योगिकी के विकास के साथ उन कल्पनाओं के खण्डित होने की प्रक्रिया को पावर प्वाइंट के माध्यम से हिन्दी में प्रस्तुत किया। अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में माननीय कुलपति पद्मश्री डॉ0 लालजी सिंह ने कहा कि प्रो0 जे. वी. नार्लीकर जैसे विद्वानों के व्याख्यान से अन्तर्विषयी शोध को बढ़ावा मिलेगा। आपने इतने जटिल विषय को जिस सरलता से समझाया, यह अत्यन्त सराहनीय कदम है। उन्होंने बताया कि बिगबैंग थियरी का प्रयोग भी बायलॉजी में किया जाता है। डॉ0 सिंह ने कहा कि भारत सरकार अन्तर्विषयी शोध के माध्यम से उच्च शिक्षा के विकास पर जोर दे रही है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भी इस दिशा में काफी महत्वपूर्ण कार्य हो रहे हैं।

इस अवसर पर सांख्यिकी विभाग के प्रो0 उमेश सिंह ने स्वागत उद्बोधन, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन राजघाट के प्रो0 पी0 कृष्णा ने विद्वान वक्ता का परिचय तथा कुलसचिव प्रो0 जी0एस0 यादव ने धन्यवाद ज्ञापित किया। कार्यक्रम का संचालन प्रो0 श्रद्धा सिंह ने किया। इस अवसर पर प्रो0 नार्लीकर की पत्नी डॉ0 श्रीमती मंगला नार्लीकर भी मौजूद रहीं।

व्याख्यान देते प्रो0 जे. वी. नार्लीकर

*हिन्दी प्रकाशन समिति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221 005.

रासायनिक रंगों का जहरीला संसार

डॉ0 संयुक्ता कुमारी*

रंग हमारी जिंदगी का अभिन्न हिस्सा है। जैसे नमक के बिना खाने का स्वाद नहीं आता, वैसे ही रंगों के बिना सब अधूरा लगता है। हिंदुस्तान का रंगोत्सव होली, अब दुनिया के कई देशों में अपनी छटा बिखेरने लगा है। ब्रिटेन, अमेरिका, मारीशस, फिजी, गुआना, सूरीनाम, त्रिनिडाड इत्यादि कई देशों में होली एक प्रमुख त्यौहार के रूप में मनायी जाती है। रंग-बिरंगे कपड़े व खिलौने हमारे दिल को लुभाते हैं परंतु जिन रंगों के बगैर हमारा जीवन सूना लगता है, क्या वे रंग हमारे लिये उतने सुरक्षित हैं?

तथ्य तो यह है की हमारे रोजमर्रा के पहनावों का अंग बने ये रंग हमारी जानकारी और कड़े कानूनों के अभाव में हमारे शरीर को काफी नुकसान पहुँचा रहे हैं। रंगों के निर्माण के लिए जहाँ पहले प्राकृतिक

रंगाई कारखाना

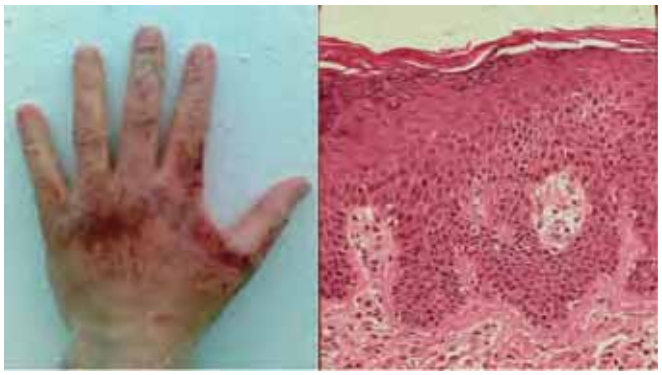

रासायनिक रंगों का त्वचा पर प्रभाव

सामग्रियों का प्रयोग किया जाता था, वहीं बढ़ती आबादी की माँग पूरी करने के लिये अब धड़ल्ले से रासायनिक रंगों का निर्माण किया जा रहा है। रंगों के निर्माण के लिए विभिन्न रंगों के खूबसूरत फूलों, हल्दी, चंदन, सब्जियों आदि प्राकृतिक पदार्थों की जगह अब पूर्ण रासायनिक तत्वों का इस्तेमाल किया जाता है। ऐसे रंग जहाँ तात्कालिकतौर पर हमारी त्वचा में खुजली, सूजन और आँखों में जलन पैदा करते हैं, वहीं, लम्बे समय तक इनका संपर्क हमारे शरीर के विभिन्न अवयवों पर बुरा प्रभाव डालता है और बीमारियों को जन्म देता है। सबसे खराब स्थिति वस्त्र रंगाई और रंग निर्माण के कारखानों में काम करने वाले कर्मचारियों की होती है। विभिन्न शोध बताते हैं की इनमें से अधिकांश त्वचा रोग और जानलेवा बीमारियों से ग्रसित हो जाते हैं। हालाँकि, इनके निर्माण के लिए कुछ मानक व आवश्यक स्तर बनाये गये हैं, फिर भी वस्त्र रंगाई में उपयोग की जाने वाली कुछ डाई ऐसी हैं, जो स्वास्थ्य और पर्यावरण के लिये गंभीर खतरा बनी हुई हैं। इन रंगों में प्रयुक्त होने वाले कुछ रसायन पर्यावरण और उसमें निवास करने वाले जीवों के लिये अत्यंत घातक हैं।

वस्त्रों और धागों पर रंग रासायनिक प्रक्रिया से रंगाई कर प्राप्त किये जाते हैं। अक्सर तरह-तरह के रंग रसायनों को मिश्रित कर प्राप्त किये जाते हैं। सामान्य वस्त्रों को इन रासायनिक ऐजेंटों की मदद से एक विशेष विधि से रंगाई कर उन पर मन चाहे रंग और उनके विभिन्न शेड प्राप्त करने की तकनीक टेक्सटाइल-डाइंग कहलाती है। वस्त्र पर मन चाहा रंग प्राप्त करने के लिये डाई के अतिरिक्त बड़ी मात्रा में विभिन्न प्रकार के रासायनिक ऐजेंटों का उपयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए, लेवेलिंग ऐजेण्ट, सॉफ्टनिंग ऐजेंट, प्रमोटिंग गये एजेंट व उनके वाहक इत्यादि। इन

*महिला वैज्ञानिक (डी.एस.टी.), रसायन विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी – 221 005.

ISSN 2231-2455

रसायनों की एक बड़ी संख्या पर्यावरण, जीव-जन्तु व मनुष्यों और इस रंगाई प्रक्रिया से जुड़े लोगों के लिए काफी हानिकारक होते हैं। भारी मात्रा में भारी धातुओं की मौजूदगी डाई को काफी विषाक्त बना देती है और यह एक सिद्ध तथ्य है कि शरीर व पर्यावरण पर इनकी विषाक्तता का गहरा दुष्प्रभाव पड़ता है। शोधकर्ताओं ने यह पाया है कि ये तत्व ना सिर्फ मानव शरीर की संरचना में नकारात्मक परिवर्तन लाते हैं बल्कि सामान्य भ्रूणीय विकास में बाधा उत्पन्न करते हैं, तथा कैंसर कारक भी होते हैं। शोधकर्ताओं ने ऐसे कई लोगों में ट्यूमर कैंसर पाये हैं जो इन पदार्थो के नियमित संपर्क में थे। ऐसे लोगों के लिवर और गुर्दे पर भी गहरा असर पाया गया है। इसके अतिरिक्त रंगाई के बाद निकाला गया पानी अधिकांशतः बिना किसी उपचार के बहा दिया जाता है, जो आस-पास के क्षेत्रों में उपस्थित जल-संसाधनों में मिश्रित हो जाता है। गंदगी, भारी धातुएँ और विषाक्त तत्वों से युक्त ये पानी उस जल धारा को भी विषाक्त कर देता है, जिसमें इसका मिश्रण जाता है। इसके कारण उस जल धारा का उपयोग करने वाले अनजाने में ही बीमारियों का शिकार हो जाते हैं। ऐसे रसायनों का वैज्ञानिक विधि से अध्ययन कर आम जागरूकता हेतु विषाक्तता- विवरण तैयार किया जाता है। इस विवरण को तैयार करते समय उस रसायन द्वारा एक निश्चित सघनता पर पर्यावरण में रह रहे जीवों पर डाले गये प्रभाव और उन प्रभावों की गंभीरता का विशेष ध्यान रखा जाता है। इसके अतिरिक्त पर्यावरण-दुष्प्रभाव मूल्यांकन में उसमें मौजूद जीवों, आबादी, समुदायों और पारिस्थितिक तंत्र पर कुप्रभाव डालने वाले रसायनों का चिन्हीकरण किया जाता है।

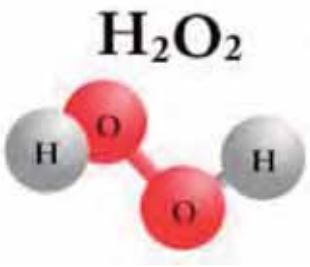

हाइड्रोजन परॉक्साइड

टेक्सटाइल उद्योगों में सर्वाधिक प्रचलित एजेंट हाइड्रोजन परॉक्साइड है, जो ब्लीचिंग एजेंट के रूप में इस्तेमाल किया जाता है और मानव शरीर पर इसके गहरे दुष्प्रभाव पड़ते हैं। इसके कुछ दुष्प्रभाव इस प्रकार हैं-

- यह म्यूटाजेनिक होता है और इसे सम्भावित कार्सिनोजेनिक (कैंसर कारक) के रूप में देखा जाता है।
- श्वांस के साथ शरीर में जाने पर ये फेफड़े, गले व नाक में परेशानी उत्पन्न करता है।

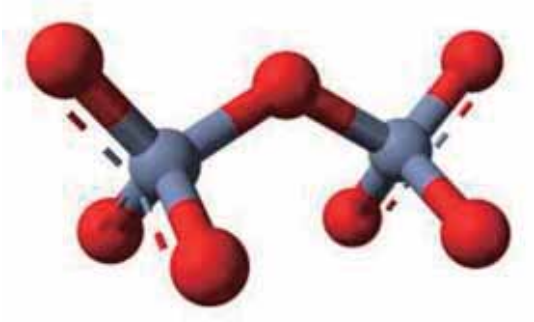
सोडियम डाईक्रोमेट

- लम्बे समय तक इसके सम्पर्क से पल्मोनरी में (फेफड़ों की ईडीमा) पानी भरने की बीमारी हो सकती है।
- आँखों को आंशिक स्थायी नुकसान के साथ-साथ स्किन बर्न की समस्या भी हो सकती है।

वस्त्र रंगाई के लिए उपयोग किए जाने वाला दूसरा घातक रसायन सोडियम डाईक्रोमेट है, जिसके निम्नलिखित दुष्प्रभाव हैं-

- यह कार्सिनोजेनिक है और त्वचा एवं श्वांस के माध्यम से शरीर को प्रभावित करता है।
- सामान्य प्रभावों में स्किन बर्न और आँखों की परेशानी होती है।
- लम्बे समय तक इसका सम्पर्क लिवर व गुर्दे को नुकसान पहुँचाता है, साथ ही अस्थमा और पल्मोनरी ईडीमा जैसी प्राणघातक बीमारियों को जन्म देता है।
- साँसों के जरिये लम्बे समय तक लिए जाने पर ये नाक में घाव और/या नाक की हड्डी में छेद (सेप्टम) का कारण बनता है। इसके साथ ही ये नाक के अंदर की हड्डी को विभाजित कर देता है, जिससे रक्तस्राव, रिसाव और कड़ी पपड़ी जमने की बीमारी होती है।

रंगाई प्रक्रिया का एक और महत्वपूर्ण रसायन हाइड्रोक्लोरिक एसिड है जिसके दुष्प्रभाव इस प्रकार हैं-

- कुछ समय के लिए इसका सम्पर्क आँख, नाक व श्वांस क्षेत्र में परेशानी व सूजन पैदा करता है, साथ ही पल्मोनरी इडीमा भी हो सकता है।

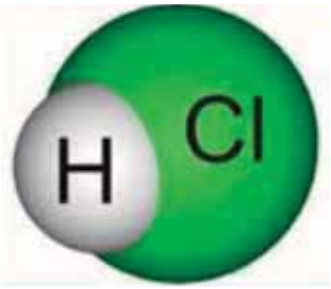

हाइड्रोक्लोरिक एसिड

- इसका अत्यधिक मात्रा मुख के द्वारा अन्दर चले जाने पर म्यूकस मेम्ब्रेन, आहार नलिका और उदर के लिए क्षयकारी होता है।
- त्वचा से दीर्घकालिक सम्पर्क स्किन बर्न, स्किल अल्सर और चमड़ी फटने जैसी बीमारियों का कारक बनता है।
- व्यावसायिक उपयोग वाले स्थान पर कार्यरत कर्मचारियों को गैस्ट्राइटिस, क्रोनिक ब्रोंकाइटिस, त्वचा रोग और धूप से एलर्जी आदि बीमारियाँ हो जाती हैं। कम सघनता पर इसका सम्पर्क दाँतों का क्षरण भी करता है।

क्लोरोबेंजीन, जो रंगों बनाने के काम आता है, इस समूह का सबसे विषाक्त व हानिकारक रसायन है। शरीर पर इसका प्रभाव इसके प्रकार पर निर्भर करता है, जो इस प्रकार हैं-

- इसके सभी प्रकार, लिवर, थायराइड व केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र (सेंट्रल नर्वस सिस्टम) को

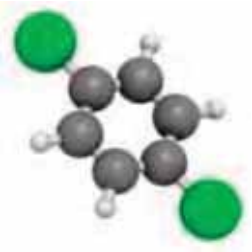
क्लोरोबेंजीन

समान रूप से प्रभावित करते हैं।

- अधिक संपर्क से हार्मोनल विकृतियाँ पैदा हो सकती है।

इन हानिकारक तत्वों के अतिरिक्त वस्त्र उद्योग में काम आने वाले कई रंगों और द्रव्यों में कैडमियम, लेड और पारा (मरकरी) जैसे कई भारी धातुएँ शामिल रहती हैं। ये धातुएँ अत्यंत जहरीली होती हैं और समय के साथ शरीर में जमती रहती हैं।

- लेड और मरकरी तंत्रिका तंत्र को नुकसान पहुँचाते हैं।
- कैडमियम गुर्दे को नुकसान पहुँचाने के साथ ही कैंसर कारक भी होता है।

सरकार द्वारा प्रतिबंधित किये जाने के बावजूद वस्त्र उद्योग में एजोडाइयों का उपयोग होता है। ऐसी कुछ डाइयों के कंपाउण्ड प्रयोग के समय टूट जाते हैं और उससे एरोमेटिक एमाइन्स नामक रसायन बनते हैं, जो कैंसरकारक होते हैं।

इनके अतिरिक्त पोटैशियम डाइक्रोमेट नामक रसायन भी स्वास्थ्य के लिये अति हानिकारक है जो निम्नलिखित हैं-

- यह म्यूटाजेनिक है और कैंसरकारक भी है।

पोटैशियम डाइक्रोमेट

- श्वाँस के रास्ते अंदर जाकर शरीर को बहुत नुकसान पहुँचाता है।

इस बात के प्रमाण हैं कि हेक्सावेलेंट क्रोमियम या क्रोमियम (vi) नामक पदार्थ इंसानों और जानवरों में फेफड़े के कैंसर का कारक होता है।

- यह मनुष्यों में त्वचा के माध्यम से प्रवेश करता है और इसका सामान्य संपर्क आँख, नाक व गले में खुजली पैदा करता है।
- इसका लगातार संपर्क अस्थमा, खाँसी, सीने में जकड़न के साथ-साथ त्वचा में एलर्जी व स्किन बर्न पैदा करता है और आँखें को स्थायी नुकसान पहुँचता है।
- साँस के जरिये लम्बे समय तक अंदर जाने पर ये नाक में घाव और/या नाक की हड्डी में छेद (सेप्टम) का कारण बनता है।
- यह लीवर और गुर्दे को तो हानि पहुँचाता ही है, काफी समय तक इसका संपर्क शरीर की त्वचा पर फफोले और गहरे घाव पैदा करता है।

ऐसा नहीं है कि इन रसायनों के प्रभाव को कम करना या सीमित करना असंभव है। थोड़ी बहुत सावधानी और योजनाबद्ध उपचार से इसके प्रभाव को काफी हद तक कम किया जा सकता है। फैक्टरी में काम करते समय दस्तानों, गमबूट के इस्तेमाल के साथ शरीर और चेहरे को ढँक कर कार्य करने से इन रसायनों के जहरीले प्रभाव से बचा जा सकता है। इसके इलावा कार्यस्थल पर प्रभावी चिमनी व अन्य उपकरणों का उपयोग इन हानिकारक रसायनों को शरीर में जाने से रोकेगा।

इसके अतिरिक्त वस्त्र एवं अन्य उद्यागों कि गंदगी के प्रभावी उपचार के लिये प्रावधान, सामग्री और प्रक्रिया उपलब्ध है जिन्हें आधुनिक उपचार तकनीक के इस्तेमाल के द्वारा लागू किया जा सकता है। कारखाने से निकले गंदे पानी में से हानिकारक रंगद्रव्यों को सोखने के लिए व्यावसायिक कोयले के महीन पिसे चूरे का इस्तेमाल किया जाता है। हानिकारक रंगद्रव्यों के उपचार के विकल्पों पर काफी शोध हुए हैं, लेकिन दुर्भाग्य से ये विकल्प या तो काफी महँगे हैं या फिर इनमें काफी समय जाया होता है। इसलिए अधिकांश उद्योग या तो इन उपचारों को नजर अंदाज करते हैं या फिर टाल जाते हैं। जबकि इनके चलते जल स्रोत और पर्यावरण प्रदूषित हो रहे हैं और इसके दुष्प्रभाव से बीमार होने वालों कि संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है। सबसे अधिक दुर्दशा वस्त्र उद्योग में कार्यरत लोगों की है, जिनका ना सिर्फ जीवन कम हो जाता है बल्कि वे असाध्य बीमारियों से ग्रसित हो जाते हैं। अधिकांश वैज्ञानिकों का मानना है कि उन रसायनों के संपर्क की कोई सुरक्षित सीमा नहीं है जो कैंसर के कारक होते हैं। ऐसे में विज्ञान के छात्रों का ये दायित्व है कि वे शोध के माध्यम से ऐसी तकनीक खोजें, जिससे कम लागत और समय में रंग द्रव्यों की विषाक्तता का ठोस उपचार किया जा सके और मानव व पर्यावरण सुरक्षित रहे।

गोली का जख्म भरेगा केवल 15 सेकंड में

अमेरिकी वैज्ञानिकों ने एक ऐसी सूई तैयार की है जिससे गोली का बड़े से बड़ा जख्म बस 15 सेकंड में भर जायेगा। इस सुई का इस्तेमाल जल्द ही अमेरिकी सेना में किया जा सकता है। बाद में इसे अस्पतालों में भी इस्तेमाल के लिए तैयार किया जाएगा। इस सूई का नाम एक्सस्टेट है। इसमें तरल पदार्थ सोखने वाले दर्जनों छोटे-छोटे स्पंज भरे होते हैं। इन्हें गोली से बने घाव में सुई के जरिए डाला जाता है। रक्त के संपर्क में आते ही इनका आकार बढ़ जाता है और ये खून बहने का रास्ता रोक देते हैं। वहीं स्पंज पर रक्त को जल्द जमाने वाले पदार्थ होते हैं जिससे रक्त जम जाने से रक्त स्राव रुक जाता है। इससे युद्ध क्षेत्र में जख्मी सैनिकों की जान बचाई जा सकेगी।

ISSN 2231-2455

हिन्दी प्रकाशन समिति की गतिविधियाँ

डॉ0 दया शंकर त्रिपाठी*

कुलपति पद्मश्री डॉ0 लालजी सिंह द्वारा विज्ञान-गंगा अंक-6 का लोकार्पण

विज्ञान-गंगा अंक-6 का लोकार्पण करते कुलपति डॉ0 लालजी सिंह

हिन्दी प्रकाशन समिति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित की जाने वाली अर्द्धवार्षिक विज्ञान पत्रिका 'विज्ञान-गंगा' (ISSN 2231-2455) के छठवें अंक का लोकार्पण 4 दिसम्बर, 2013 को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के माननीय कुलपति पद्मश्री डॉ0 लालजी सिंह द्वारा किया गया। इस अवसर पर पत्रिका की सराहना करते हुए डॉ0 लालजी सिंह ने कहा कि विज्ञान-गंगा हिन्दी में प्रकाशित होने वाली उच्चकोटि की वैज्ञानिक पत्रिका है जो देशभर के विश्वविद्यालयों / महाविद्यालयों और अनुसंधान संस्थानों के हिन्दी में कार्य करने वाले विज्ञान, कृषि, चिकित्सा एवं प्रौद्योगिकी शिक्षा से जुड़े शिक्षाविदों, अनुसंधानकर्ताओं एवं आमजनों के बीच काफी लोकप्रिय हो रही है। इस पत्रिका को सामाजिक उत्थान, विज्ञान लोकप्रियकरण एवं समाज में फैली भ्रान्तियों को दूर करने के उद्देश्य से प्रकाशित किया जा रहा है। ज्ञातव्य है कि माननीय कुलपति जी के निर्देशानुसार विज्ञान-गंगा का यह अंक पूर्णरूप से रंगीन एवं नये कलेवर में प्रकाशित हुआ है।

हिन्दी प्रकाशन समिति के समन्वयक एवं पत्रिका के संपादक प्रो0 शशि भूषण अग्रवाल ने पत्रिका की चर्चा करते हुए बताया कि विज्ञान-गंगा के माध्यम से सामान्यजनों को विज्ञान, कृषि, चिकित्सा और प्रौद्योगिकी सम्बन्धी जनोपयोगी सूचनाओं से लाभान्वित कराया जा रहा है। इससे हिन्दी में विज्ञान को लोकप्रिय बनाने में काफी सफलता प्राप्त हो रही है। प्रो0 अग्रवाल ने बताया कि इस पत्रिका के उप-सम्पादक डॉ0 देवेश कुमार गुप्त एवं डॉ0 दया शंकर त्रिपाठी ने सम्पादन में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। पत्रिका में विज्ञान के विविध उपयोगी विषयों पर हिन्दी भाषा में रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक सामग्रियाँ प्रकाशित की गयी हैं जो राष्ट्रीय स्तर के वैज्ञानिकों, अनुसन्धानकर्ताओं एवं लेखकों द्वारा लिखी गयी हैं। प्रो0 अग्रवाल ने बताया कि 132 पृष्ठों की पत्रिका रंगीन, उत्कृष्ट एवं आकर्षक है। विज्ञान प्रेमियों में निरन्तर इसकी माँग बढ़ रही है। वास्तव में इसके सभी अंक संग्रहणीय हैं। वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के अध्यक्ष प्रो0 केशरी लाल वर्मा ने भी इसके अंकों की काफी सराहना की है। इस पत्रिका के प्रकाशन में शब्दावली आयोग द्वारा आंशिक सहयोग प्राप्त हुआ। लोकार्पण अवसर पर जन्तु विज्ञान विभाग के इमेरिटस प्रो0 बशिष्ठ नारायण सिंह, कुलसचिव प्रो0 गिरिजा शंकर यादव, मुख्य आरक्षाधिकारी प्रो0 अरविन्द कुमार जोशी, छात्र अधिष्ठाता प्रो0 विनय कुमार सिंह, वित्ताधिकारी डॉ0 अभय कुमार ठाकुर, विज्ञान संकाय प्रमुख प्रो0 अरुण कुमार श्रीवास्तव, स्कूल बोर्ड की उपाध्यक्षा प्रो0 मधूलिका अग्रवाल, उपकुलसचिव डॉ0 सुनीता चन्द्रा एवं श्री संजय कुमार तथा सहायक सूचना एवं जनसम्पर्क अधिकारी डॉ0 राजेश सिंह आदि उपस्थित रहे। प्रारम्भ में समिति के समन्वयक प्रो0 शशि भूषण अग्रवाल ने माननीय कुलपति जी को पुष्पगुच्छ एवं स्मृति चिन्ह प्रदान कर अभिनन्दन किया।

विज्ञान-गंगा का अवलोकन करते कुलपति डॉ0 लालजी सिंह

विज्ञान लोकप्रियकरण हेतु अनपरा में व्याख्यान व विज्ञान-गंगा के अंकों का निःशुल्क वितरण

हिन्दी प्रकाशन समिति के विज्ञान लोकप्रियकरण एवं सुदूरवर्ती क्षेत्रों में विज्ञान के प्रचार-प्रसार हेतु जनपद सोनभद्र के अनपरा स्थिति अवधूत भगवान राम महिला महाविद्यालय में आयोजित ''पर्यावरण शिक्षा का महत्व'' विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी में समिति की तरफ से सहभागिता की गयी। इस संगोष्ठी में पर्यावरणीय जनजागरूकता पर समिति की तरफ से डॉ0 दया शंकर त्रिपाठी एक छात्रोपयोगी व ज्ञानवर्द्धक व्याख्यान प्रस्तुत किया गया। इस अवसर पर संगोष्ठी में उपस्थित प्रतिभागियों को समिति द्वारा प्रकाशित विज्ञान-गंगा के प्रकाशित सभी अंकों का निःशुल्क वितरण भी किया गया।

हिन्दी में विज्ञान लेखन कला के विविध आयाम विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन

हिन्दी प्रकाशन समिति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा गत 28 फरवरी, 2014 को ''हिन्दी में विज्ञान लेखन कला के विविध आयाम'' विषयक एक दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इस अवसर पर देशभर के अनेक विशिष्ट वैज्ञानिकों द्वारा व्याख्यान प्रस्तुत किये गये। आयोजन के मुख्य अतिथि विज्ञान परिषद

*हिन्दी प्रकाशन समिति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221 005.

प्रयाग, इलाहाबाद के प्रधानमंत्री प्रो० शिवगोपाल मिश्र ने अपने उद्बोधन में कहा कि वर्तमान समय में हिन्दी में विज्ञान लेखन को बढ़ावा देने और समृद्ध करने की आवश्यकता है। उन्होंने कहा कि समय की माँग है कि हमारे वैज्ञानिक भावी पीढ़ी के लिए प्रेरक बने। विशिष्ट अतिथि प्रौद्योगिकी संस्थान, काशी हिन्दू

कुलगीत प्रस्तुत करती शोध छात्राएँ

विश्वविद्यालय के पूर्व निदेशक प्रो० सिद्ध नाथ उपाध्याय ने कहा कि हिन्दी के माध्यम से ही वैज्ञानिक उपलब्धियों का लाभ सामान्यजन तक पहुँचाया जा सकता है। उन्होंने हिन्दी की व्यावहारिक समस्याओं की चर्चा की एवं एक लघु चलचित्र का प्रदर्शन भी किया। कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुए विज्ञान संकाय प्रमुख प्रो० अरुण कुमार श्रीवास्तव ने कहा कि गुरुजनों की प्रेरणा से हिन्दी में विज्ञान का विकास सम्भव हो सकता है। इसके लिए हमें प्रयास करने की आवश्यकता है। विभिन्न व्याख्यान सत्रों में प्रसिद्ध विज्ञान लेखक श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने बताया कि लेखक को पता होना चाहिए कि वह क्या कहना चाहता है और जनसामान्य के लिए क्या उपयोगी है। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद मिश्र ने बताया की हिन्दी में विज्ञान लेखन का प्रारम्भ वाराणसी से हुआ था। विज्ञान लेखन में तथ्यपरकता और वस्तुनिष्ठता की आवश्यकता है। प्रसिद्ध भूगर्भ शास्त्री प्रो० जी.सी. चौधरी ने कहा की विज्ञान लेखन इस प्रकार से किया जाना चाहिए जो आम आदमी की समझ में आवे। शिक्षा संकाय के प्रो० सुनील कुमार सिंह ने कहा कि हमें सामाजिक स्वराज की तरफ लौटते हुए जीवन में विज्ञान के महत्वपूर्ण स्थान के बारे में सोचना पड़ेगा। हिन्दी विभाग के साहित्यकार प्रो० अवधेश प्रधान ने कहा कि विज्ञान केवल विज्ञान पढ़ने वालों के लिए नहीं है, यह तो समग्र जीवन के परिष्कार से जुड़ा हुआ है। विज्ञान परिषद के डॉ० देवव्रत द्विवेदी ने विज्ञान को कविता के माध्यम से प्रस्तुत किया। केन्द्रीय सचिवालय

उद्घाटन सत्र को सम्बोधित करते मुख्य अतिथि प्रो० शिवगोपाल मिश्र, दायें हैं विज्ञान संकाय प्रमुख प्रो० ए.के. श्रीवास्तव, समन्वयक प्रो० एस.बी. अग्रवाल तथा बायें हैं विशिष्ट अतिथि प्रो० एस.एन. उपाध्याय एवं संचालक डॉ० दया शंकर त्रिपाठी

समापन समारोह की अध्यक्षता करते इमेरिटस प्रो० सुभाष चन्द्र लखोटिया एवं अन्य विशिष्टजन

हिन्दी परिषद, नई दिल्ली के श्री जगदीश नारायण राय ने कहा कि हिन्दी भाषा समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक है। समापन सत्र में मुख्य अतिथि प्रो० सिद्ध नाथ उपाध्याय ने कहा कि विज्ञान में हिन्दी को बढ़ावा देने के लिए आवश्यक है कि प्रारम्भिक शिक्षा के स्तर से ही सही हिन्दी के प्रयोग को बढ़ावा दिया जाय। इस सत्र की अध्यक्षता करते हुए इमेरिटस प्रोफेसर सुभाष चन्द्र लखोटिया ने कहा कि हिन्दी में विज्ञान लेखन को शोध एवं लोकप्रिय विज्ञान लेखन में बाँटा जा सकता है। मेरे विचार से लोकप्रिय विज्ञान लेखन के लिए भाषा को उन्नत और समृद्ध करने की आवश्यकता है। कार्यक्रम का प्रारम्भ कुलगीत से हुआ। तदुपरान्त समिति के समन्वयक प्रो० शशि भूषण अग्रवाल ने समिति की उपलब्धियों एवं संगोष्ठी के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला और संगोष्ठी से नये तथ्य एवं मार्गदर्शन मिलने की उम्मीद जाहिर की। इस अवसर पर समन्वयक प्रो० शशि भूषण अग्रवाल ने मंचासीन अतिथियों एवं व्याख्यानदाताओं को पुष्पगुच्छ एवं स्मृतिचिन्ह प्रदान कर सम्मानित किया। संगोष्ठी का संचालन डॉ० दया शंकर त्रिपाठी एवं धन्यवाद ज्ञापन डॉ० देवेश कुमार गुप्त किया। इस अवसर पर इमेरिटस प्रो० बशिष्ठ नारायण सिंह, प्रो० एल.सी.राय, प्रो० पी.के. सिंह, प्रो०

प्रतिभागिता करते विशिष्ट विद्वतजन

डी.एन. तिवारी, डॉ० कमलेश कुमार, प्रो० बी.के. राय, प्रो० स्वाति, प्रो० ए.के. मिश्र, श्रीमती मंजुलिका लक्ष्मी, डॉ० दुर्गेश नन्दनी, प्रो० बी.के. सिंह, डॉ० एस.के. दूबे, डॉ० के.डी. पाण्डेय, डॉ० विचित्र सेनगुप्त, डॉ० के.पी. पाण्डेय, डॉ० दिव्या पाण्डेय, डॉ० निवेदिता चौधरी, डॉ० अमित कुमार मिश्र सहित अनेक शिक्षकों एवं शोधछात्रों ने प्रतिभागिता की।

विज्ञान-गंगा का छठवाँ अंक देखें बीएचयू की वेबसाइट पर

विज्ञान-गंगा अंक-6 को अब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की वेबसाइट पर भी देखा जा सकता है। इसे काहिविवि के माननीय कुलपति पद्मश्री डॉ० लालजी सिंह के निर्देश पर आमजनों को लाभान्वित करने के उद्देश्य से बीएचयू की वेबसाइट पर सम्मिलित किया गया है। इसे विश्व के किसी भी कोने में बैठा व्यक्ति किसी भी समय बीएचयू की वेबसाइट www.bhu.ac.in पर जाकर देख सकता है और पूरी पत्रिका को डाउनलोड कर सकता है।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक पद्मश्री डॉ0 लालजी सिंह पर शोधपत्र प्रकाशित

पद्मश्री डॉ. लालजी सिंह

डीएनए फिंगर प्रिन्टिग प्रौद्योगिकी विशेषज्ञ एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति पद्मश्री डॉ0 लालजी सिंह पर गुरु घासीदास विश्वविद्यालय (बिलासपुर) के एक एसोसिएट प्रोफेसर के शोध पत्र को प्रतिष्ठित जर्नल 'एनल्स ऑफ लाइब्रेरी एंड इन्फार्मेशन स्टडीज' के सितम्बर 2013 अंक में प्रकाशित किया गया है। संभवतः यह पहला अवसर है जब किसी शिक्षक ने एक वैज्ञानिक के शोध कार्य से प्रभावित होकर इस शोध पत्र को तैयार किया। खास बात यह है कि इस शोध पत्र के लेखक डॉ0 सिंह से न कभी मिले हैं और न ही कभी सम्पर्क किया है। शोध पत्र में डॉ0 लालजी सिंह के जीनोम विश्लेषण और डीएनए फिंगर प्रिटिंग में उनके विशेष योगदान का उल्लेख किया गया है। शोध पत्र में स्पष्ट किया गया है कि डॉ0 सिंह की लेखन प्रणाली उच्चकोटि की है।

भारत में अद्यतन आबादी मिश्रण एवं आनुवंशिकी साक्ष्य

शोध पत्रिका का आवरण पृष्ठ

वैज्ञानिकों ने अनुसंधान एवं सर्वेक्षणों के आधार पर माना है कि प्राचीन भारत में जातियाँ नहीं थीं। सभी समुदायों में आपस में वैवाहिक सम्बंध होते थे। जातियों का स्वरूप लगभग 1900 से 4200 वर्ष पूर्व अन्तर्जातीय विवाह सम्बंध में गिरावट आने से आरम्भ हुआ। धीरे-धीरे स्वजातीय विवाह की परम्परा कठोर होती गयी और समाज ने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त किया।

व्याख्यान प्रस्तुत करते डॉ0 लालजी सिंह

उपरोक्त निष्कर्ष हार्वर्ड मेडिकल स्कूल के जेनेटिक्स विभाग में प्रो0 डेविड रीच, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ0 लालजी सिंह एवं हैदराबाद स्थित सी.सी.एम.बी. के वैज्ञानिक डॉ0 कुमारस्वामी थंगराज के साझा अनुसंधानों का परिणाम है। यह शोध पत्र अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका 'अमेरिकन जरनल ऑफ ह्यूमन जेनेटिक्स' भाग 93 (3), 8 अगस्त 2013 के अंक में प्रकाशित हुआ है, जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशक 'सेल प्रेस' द्वारा मुद्रित की जाती है।

कुल 17 पृष्ठों में समाहित शोध पत्र के अनुसार भारत में आनुवंशिकी आधार पर अगड़ी-पिछड़ी जातियों एवं आदिवासियों में कोई अंतर नहीं है। पूरा भारत उत्तर भारतीय पूर्वजों एवं दक्षिण भारतीय पूर्वजों की मिश्रित संतान है। यह मिश्रण जो आपसी वैवाहिक संबंधों से बना है, हजारों वर्षों तक चलता रहा। अभी भी आदिम जीवन शैली में रहने वाले आदिवासी भी इससे अछूते नहीं रहे हैं। अपनी ही जाति में विवाह करने की परम्परा के कारण समुदायों में बीमारियों की सम्भावनाएँ बढ़ गयी हैं। इनमें बहुत से अप्रभावी जीन, जो विशेष बीमारियों को जन्म देते हैं, अब प्रभावी हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भारत रत्न प्रो0 सी.एन.आर. राव का अभिनन्दन

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय परिवार की ओर से कुलपति पद्मश्री डॉ0 लालजी सिंह ने भारत रत्न प्रो0 सीएनआर राव और उनकी पत्नी इंदुमति राव को सम्मानित किया। डॉ0 सिंह ने कहा कि महामना का परिवार अपने सदस्य को भारत रत्न मिलने से गौरवान्वित है। ज्ञातव्य है कि प्रो0 राव ने सन् 1953 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम.एससी. उपाधि प्राप्त की थी। आयोजन में प्रो0 ओ.एन. श्रीवास्तव, गोरखपुर विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति प्रो0 बी.एम. शुक्ला, प्रो0 सुशीला सिंह, प्रो0 एस.बी. अग्रवाल, चंडीगढ़ के प्रो0 ए. के. गांगुली, भारतीय प्रो0 एस. एन. उपाध्याय, प्रो0 राणा गोपाल सिंह, प्रो0 ए. के. श्रीवास्तव, प्रो0 एस.बी. राय, प्रो0 सुलभा कुलकर्णी, प्रो0 लल्लन मिश्रा, डॉ0 चन्द्र प्रकाश समेत अन्य विशिष्टजन शामिल थे।

भारत रत्न प्रो0 सी.एन.आर. राव का स्वागत करते कुलपति पद्मश्री डॉ. लालजी सिंह, साथ में हैं उनकी पत्नी श्रीमती इन्दुमति राव

मालवीय जी के जनोपयोगी सदुपदेश

- परमेश्वर को प्रणाम कर सब प्राणियों के उपकार के लिए बुराई करने वालों को दबाने और दण्ड देने के लिए, धर्म स्थापना के लिये धर्म के अनुसार संगठन कर गाँव-गाँव में सभा करनी चाहिए। गाँव-गाँव में पाठशाला खोलनी चाहिए। गाँव-गाँव में अखाड़ा खोलना चाहिए और पर्व-पर्व पर मिलकर बड़ा उत्सव मनाना चाहिये।
- सब भाइयों को मिलकर अनाथों की, विधवाओं की, मन्दिरों की और गौ माता की रक्षा करनी चाहिए और इन सब कामों के लिए दान देना चाहिये।
- स्त्रियों का सम्मान करना चाहिये।
- दुखियों पर दया करनी चाहिये।
- उन जीवों को नहीं मारना चाहिए, जो किसी पर चोट नहीं करते।
- मारना उनको चाहिये, जो आततायी हों अर्थात् जो स्त्रियों पर या किसी दूसरे के धन, धर्म या प्राण पर वार करते हों। यदि ऐसे लोगों को मारे बिना अपना या दूसरों का धर्म, प्राण या धन न बच सके तो उनको मारना धर्म है।
- स्त्रियों को भी, पुरुषों को भी निडरपन, सच्चाई, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, धीरज और क्षमा का अमृत के समान सदा सेवन करना चाहिये।
- इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि भले कर्मों का फल भला और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है।
- घट-घट में बसने वाले भगवान विष्णु-सर्वव्यापी ईश्वर का सुमिरन सदा करना चाहिये, जिसके समान दूसरा कोई नहीं है, जो एक ही है और अद्वितीय है।
- सनातनधर्मी, आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, सिक्ख, जैन और बौद्ध आदि सब हिन्दुओं को चाहिए कि अपने-अपने विशेष धर्म का पालन करते हुए एक दूसरे के साथ प्रेम और आदर बरतें।
- अपने विश्वास में दृढ़ता, दूसरे की निन्दा का त्याग, मतभेद में (चाहे वह धर्मसम्बन्धी हो या लोकसम्बन्धी) सहनशीलता और प्राणिमात्र से मित्रता रखनी चाहिये।
- जो काम अपने को बुरा या दुखदायी जान पड़े उसको दूसरे के साथ मत करो।
- हर एक को उचित है कि वह चाहे कि सब लोग सुखी रहें, सब निरोग रहें, सबका भला हो, कोई दुःख न पावे। प्राणियों के दुःख को दूर करने में तत्पर यह दया बलवानों की शोभा है।

सहयोग राशि अधिकतम ₹100/- मात्र

प्रकाशक

हिन्दी प्रकाशन समिति (भौतिकी प्रकोष्ठ)

द्वितीय तल, हिन्दी भवन

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221 005

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(उच्चतर शिक्षा विभाग, भारत सरकार) के
आंशिक वित्तीय अनुदान द्वारा प्रकाशित